महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

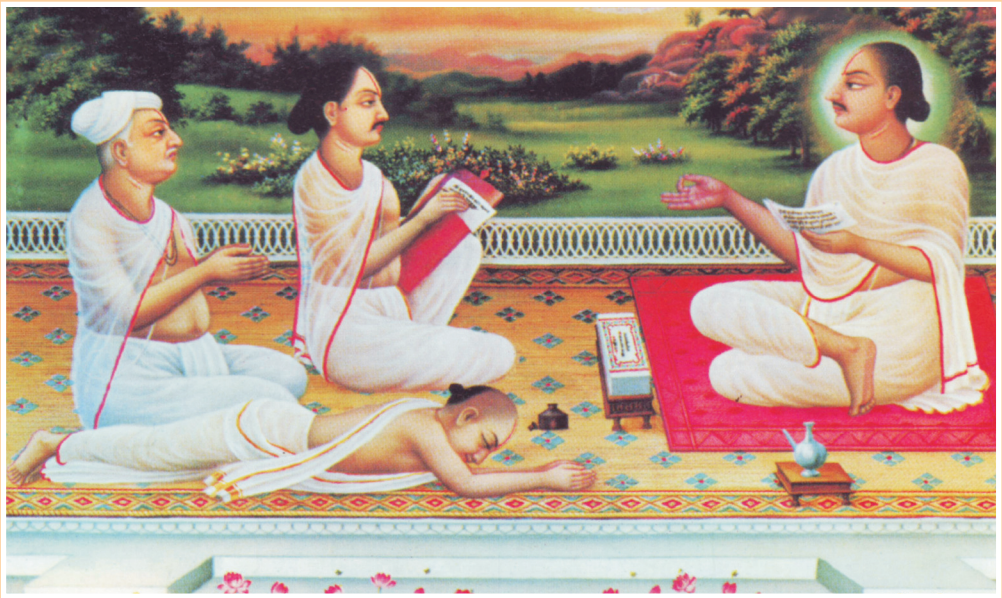

तृतीय स्कन्ध

अध्याय ८–१४

खंड ४/ख

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

अध्याय ८

ब्रह्माजीकी उत्पत्ति

अष्टमे भगवद्बुद्धिः यादृशी साऽत्र वर्ण्यते।*
आधाराधेयरूपाणां तदीयानां तथोद्गमः ।।कारि.१ ।।

कारिकार्थः अष्टमाध्यायमें भगवान्की [१]बुद्धि जैसी[२] है वैसी वर्णनकी जाती है और उस ज्ञानके विषयोंमें दोष न आवें तदर्थ उनके आधार एवं आधेय रूप विषयोंका प्राकट्य भी कहा जाता है ।।१।।

* आचार्यश्री अष्टम अध्यायका विवरण करते हुए मैत्रेयकी उक्तिमें उत्तरत्वरूप संगति स्पष्ट होनेसे और इसका विचार निबन्धमें हुआ है अतः उसको न कहकर अवसर रूप शास्त्रीय संगतिका स्मरण करानेकेलिए कारिकाओं द्वारा अध्यायार्थ कहते हैं.

१.विशिष्टज्ञानके समान आकारपना 'बुद्धिका स्वरूप लक्षण' है अर्थात् 'ज्ञानशक्ति' स्वरूप लक्षण है जिसका कार्यलक्षण ज्ञान उत्पन्न करना है.

२.वह बुद्धि जिस प्रकार सर्ग लीलामें उपयोगी है वैसा इस अध्यायमें वर्णन है.

षड्विधा भगवद्बुद्धिः स्वरूपे रतिरूपिणी।
जगद्विषयिणी चैव कृतियुक्तेति वै त्रिधा ।।कारि.२ ।।

कारिकार्थः पहली कारिकामें समुदायार्थ कहकर दूसरी कारिकामें अवयवार्थ कहते हैं. भगवान्की बुद्धि छः प्रकारकी है १.स्वरूपमें प्रीतिवाली[१] २.जगत्के सम्बन्धवाली[२] ३.क्रिया करनेवाली[३] इस प्रकारकी तीन बुद्धि भगवान्की हैं ।।२।।

१. इस अध्यायके १०वें श्लोकमें 'कृतक्षणः, स्वात्मरतौ' पदसे कहा है. २. श्लोक १२ 'लोकान् पीतान् ददृशे स्वदेहे'. ३. श्लोक १३ 'तपस्यार्थ सूक्ष्म'से कही है.

हरेरेव तथाऽन्यापि भगवद्विषया त्रिधा।
लौकिकोपायजनिता प्रथमा सा द्विधा पुनः ।।कारि.३ ।।
तर्कक्रियाविभेदेन द्वितीया वैदिकी स्मृता।
साक्षात्कारस्तृतीयस्तु षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।।कारि.४ ।।

कारिकार्थः इसी तरह दूसरी तीन बुद्धि भी भगवत्सम्बन्धवाली है जैसे कि १.लौकिक उपायसे उत्पन्न[१] हुई. २.तर्क और क्रियाके भेदसे वैदिक दो तरह[२] की है, ३.साक्षात्कार[३] हुआ इन ६ प्रकारकी भगवान्की बुद्धियोंमें सर्व प्रतिष्ठित

हो गया है ।।३–४ ।।

१. श्लोक १५में 'तस्यां स च' से कही है.

२. श्लोक अठारहसे 'क एष' आदि श्लोकोंसे उनका वर्णन है. श्लोक २२से 'अपश्यताऽपश्यत यन्न पूर्वं' से इसका वर्णन है.

३. यद्यपि यह बुद्धि चतुर्मुखकी कही है तो भी ''तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता'' इस वाक्यानुसार वह भी हरिकी ही है. पूर्वोक्त त्रिविध बुद्धिका सार भज आधिदैविक ब्रह्मा भी बुद्धिमें ही है.

सामान्यतो ग्रन्थरूपा भगवद्बुद्धिरीर्यते ।
सर्गोपयोगिनी यस्मात् तामसाद् उद्गता हि सा ।।कारि.५ ।।

कारिकार्थ: सामान्यतः सर्वको उपयोगमें आनेवाली ग्रन्थरूप (भागवत) में भगवान्की बुद्धि कही गई है, कारण कि वह तामस(सङ्कर्षण)से प्रकट हुई है ।।५ ।।

भागवत् भगवत्प्रोक्त है. जैसे लक्षण होते हुए उसकी उत्पत्ति सङ्कर्षणसे कहना विरुद्ध है, इसपर छठी कारिकामें कहते हैं.

अनेकधा भागवत–प्रवृत्तिरुपयुज्यते ।
दशलीलायुताः सर्वाः कल्पभेदैः व्यवस्थिताः ।।
भगवद्बुद्धिरेषेति सैव लीलाद्वये तता ।।कारि.६ ।।

कारिकार्थ: भागवतकी प्रवृत्ति अनेक प्रकारसे उपयोगमें आती है क्योंकि उसमें सर्व दशविध लीलाओंका वर्णन है, उनमें देखनेमें आनेवाला विरोध, कल्पभेदसे मिटाया जाता है. यह भगवद्बुद्धि(भगवान्का ज्ञान) दो लीलाओंमें वितरीत हुई है, एक स्वार्थ और दूसरी पदार्थ लीला ।।६ ।।

आभासार्थ: इस प्रकार भगवच्चरित्रके ज्ञानार्थ पूर्वाध्यायमें विदुरने बहुत प्रश्न किये, इस विषयमें भगवान्की क्रिया शक्तिके ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए विदुरका महान् उद्यम देखकर उसको प्रोत्साहित करनेकेलिए, मैत्रेयजी निम्न श्लोकमें उसकी स्तुति(प्रशंसा) करते हैं:

मैत्रेयः उवाच

सत्सेवनीयो बत! पूरुवंशो यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः ।
बभूविथेहाऽजितकीर्तिमालां पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ।।१ ।।

श्लोकार्थ: मैत्रेयजी कहते हैं कि अहो! पुरुवंशके सत्पुरुषोंकी सेवा

करनी चाहिए, क्योंकि वह सेवायोग्य है. फिर विशेषमें तुम लोकपाल भी, यहां (पुरुवंशमें) ही उत्पन्न हुए हो, एवं भगवान्‌को ही सबसे मुख्य समझते हो और क्षण-क्षणमें अजित(भगवान्)की कीर्तिमालाको नूतन कर रहे हो ।।१ ।।

व्याख्या: 'बत' पद हर्ष वाचक है अर्थात् मैत्रेयजी कहते हैं कि आपका इस प्रकारका कर्तव्य देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है. महान् पुरुषोंको भी यह पुरुवंश, उत्पत्तिकेलिये स्थानके वास्ते और ज्ञान प्राप्तिकेलिए सेवा करनेके योग्य है क्योंकि आप भगवान्‌के धर्मोंके विरुद्ध धर्मोंवाले यम हैं तो भी इस पुरुवंशमें उत्पन्न होनेके कारण भगवान्‌को ही मुख्य(उत्तम) माननेवाले हो गये हैं, जिससे ही अजित(प्रभु)की कीर्तिमालाको प्रतिक्षण नवीन बना रहे हैं.

सत्पुरुष स्वभावको जीतकर अपने वंशमें रखनेकेलिये महान् प्रयत्न करते हैं. वह स्वभाव यदि जब केवल पुरुवंशके सम्बन्धसे ही बन जावे अर्थात् जीत लिया जावे तो अन्य प्रयत्नोंको त्यागकर सत्पुरुषोंको पुरुवंशकी सेवा ही करनी चाहिये. 'बत' पदका आशय प्रकट करते हैं कि यह चरित्र देखकर अति आश्चर्य होता है एवं प्रमेय बलकी अधिकता प्रतीत होती है. अधिकार प्राप्त होनेपर सर्वथा भगवद्‌बुद्धि नाश हो जाती है अर्थात् भगवान्‌में प्रेम नहीं रहता है. 'लोकपाल' पदमें तो कुछ भी शेष नहीं रहता है, मूल(जड़)से ही भगवद्‌बुद्धि कट जाती है.

यद्यपि यमने ''द्वादशैते विजानीमः'', इस वाक्यमें कहा है कि हम शिक्षाके १२(द्वादश) प्रकार जानते हैं कि किसको दण्ड देना वा किसको दण्ड नहीं देना और किस प्रकार दण्ड देना आदि, अधिकारीको जानना चाहिये यह जानना भक्तिमार्गके अनुसार नहीं है उसमें भी वर्तमान प्रकृत प्रसङ्गसे उत्तमता बतानेके लिए 'बभूविथ' यह मध्यम पुरुषका प्रयोग किया है, तुम वैसे हुए हो. इससे सूचित किया है कि यम अतिक्रूर, सर्व घातक होता है, ऐसे यमको भी पुरुवंशमें उत्पन्न होनेसे भगवत्परायणता हुई है, तो अन्य साधारण मनुष्यकी भगवत्परायणता होनेमें तो संशय ही नहीं है. वह सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं है केवल अभिमानपूर्वक माना हुआ है क्योंकि व्यासजीकी विवाहित स्त्रीसे विदुरकी उत्पत्ति नहीं हुई है. 'अजित' पदसे यह सूचित किया है कि भगवान्‌का उत्कर्ष विदुरके हृदयको अच्छा लगता है, इससे यह सूचित किया है कि लोकपाल होते हुए भी विदुरमें मात्सर्य नहीं है. कर्मको ही मुख्यता देनेवाला यम केवल

जिस(कीर्ति)की प्रसिद्धि है उसको नहीं मानता है, वह भगवत्कीर्ति भी इस(विदुर)के हृदयमें जच गई है, किन्तु 'माला' पदसे कण्ठभूषण बताया है अर्थात् विदुरने कीर्तिको अपने कण्ठमें धारण कर लिया है, जिससे अन्य भक्तोंसे विदुरमें भक्तिकी अधिकता है, उस कीर्तिको नूतन करते हैं. इससे विदुरमें विशेष सामर्थ्य बताई है, क्षण-क्षणमें नूतन करनेका कारण प्रेम है. इस प्रकार इस(विदुर)का माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुदृढ स्नेह भगवान्में है, यह सूचित किया है. 'अभीक्ष्णं' पदसे यह बताया है कि विदुरका प्रेम अकुण्ठ(शुद्ध) होनेसे उसमें सबसे अधिकता है ।।१।।

आभासार्थः इस प्रकार सकल दोषोंकी निवृत्ति और भगवत्सम्बन्धी समस्त गुण विदुरमें उत्पन्न हुए हैं, जिससे निश्चित है कि यह पुरुवंश उत्तम है, पाण्डवादि भक्तोंका तिरस्कार न किया जावे तथा अपनेको गर्व भी न हो, इसलिए उसी वंशका वर्णन इस प्रकार किया.

विदुरने जो प्रश्न किये हैं वे नियमित नहीं किये हैं जिससे उनके उत्तरसे केवल भगवच्चरित्रका पूर्ण ज्ञान होवे तथा जो नहीं पूछा है उसका भी उत्तर मिल जावे तदर्थ मूलसे भागवतपुराण ही कहूंगा, यों निम्न श्लोकसे जताते हैं:

सोऽहं नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं महद्गतानां विरमाय तुभ्यम् ।
प्रवर्तये भागवतं पुराणं यदाह साक्षाद्भगवान् ऋषिभ्यः ।।२ ।।

श्लोकार्थः स्वल्प वा नाममात्र सुखकेलिए महान् दुःखके भोक्ता बने हुए मनुष्योंके वे दुःख मिटानेकेलिए एवं सत्यपूर्ण सुख प्राप्त हो तदर्थ जो भागवत पुराण साक्षात् भगवान्ने ऋषियोंको कहा है, वह भागवत जिससे तुमने प्रश्न किये हैं, वह मैं(मैत्रेय) आपकेलिए कहना प्रारम्भ करता हूं ।।२ ।।

व्याख्याः तुमने पहले "**सुखाय कर्माणि करोति लोकः**" इत्यादि प्रमाणों द्वारा जो प्रश्न किये हैं उनके उत्तर भी इससे मिल जायेंगे. इस विषयमें प्रथम प्रश्नका फलपनसे निर्देश करते हुए कहते हैं कि 'नृणां क्षुल्लसुखाय दुःखं महद्गतानां विरमाय', तुच्छ सुखोंकेलिये महान् क्लेशोंको प्राप्त किये हुए मनुष्योंके वे क्लेश नष्ट हो जावें इसलिए इन शब्दोंसे प्रथम प्रश्नका उत्तर वर्णन किया है. इससे पूछे हुये समस्त पदार्थोंको सामान्यरूपसे भगवत्कर्मपरत्व कहा है. क्षुल्लक(तुच्छ) सुखार्थ किये हुए कर्म स्वभावसे ही महान् कष्ट करनेवाले हैं, यदि वे ही कर्म भगवान्के सम्बन्धवाले किये जायें एवं भगवदीयपनसे किये हुए हों तो दुःखोंको मिटाकर

महत्सुखरूपफल देनेमें समर्थ हो जाते हैं. 'तुभ्यम्' तुम्हारे लिये कहता हूं, यों कहनेका भाव प्रकट करते हैं कि तुम ही इसको श्रवण करनेके अधिकारी हो.

'भागवत' इस पदसे यह सूचित किया है कि भगवान्के प्रतिपादित अपने कर्म भगवद्रूप फल देनेवाले हैं. परम्परासे भगवान्के कहे हुए पदार्थोंमें दोषका सम्बन्ध ही नहीं है अतः वक्ता तथा श्रोताकी स्वरूपसे और अवस्थासे शुद्धिका निरूपण करनेकेलिये शुद्ध परम्परा कहते है, 'यदाह साक्षात् भगवान् ऋषिभ्यः'. यह भागवत भगवान्ने परम्परासे नहीं कही है किन्तु स्वयंने कही है अथवा वक्तामें साक्षात् भगवत्पन है. इससे यह बताया है कि भगवत्कृपासे उनमें भागवत नहीं प्रकटी है, इसलिए 'ऋषिभ्यः' कहा है. ऋषि ज्ञाननिष्ठ होनेसे स्वयं साक्षात् भगवान्के विराजमान हो जानेके परम पात्र हैं, जिनकी बुद्धिमें मन्त्र स्वतः स्फुरित होते हैं वह बुद्धि उत्तम ही होती है ।।२।।

आभासार्थः भगवान्ने भी यह भागवत क्रीडा करते हुए लक्ष्मीके साथ रहकर नहीं कही है, किन्तु आत्मध्यान–मन एवं एकाग्रचित्त होकर कही है, यों निम्न श्लोकमें उपदेष्टा भगवान्का वर्णन करते हैं:

आसीनम् उर्व्यां भगवन्तम् आद्यं सङ्कर्षणं देवम् अकुण्ठसत्त्वम् ।
विवित्सवस्तत्त्वम् अतः परस्य कुमारमुख्या मुनयोऽन्वपृच्छन् ।।३ ।।

श्लोकार्थः अकुण्ठित स्वत्ववाले, भूमिपर विराजमान आद्यदेव सङ्कर्षणसे भी उत्तम स्वरूपको जाननेकी इच्छावाले सनत्कुमारादि मुनियोंसे पूछने लगे ।।३ ।।

व्याख्याः 'आसीनं' बैठे हुए पदका तात्पर्य प्रकट करते हैं कि सङ्कर्षणमें इस समय कोई क्रिया नहीं है. लौकिक रीतिसे भी उनमें व्यग्रताका अभाव है. भूमिपर स्थिति कहनेसे उनका यज्ञसे सम्बन्ध बताया है. यदि यज्ञसे सम्बन्ध न होवे तो भगवान् पृथ्वीपर क्यों रहे? पृथ्वी उद्धृत की(निकाली हुई) नहीं है किन्तु मूलरूप(अण्डरूप) ही है, यह भूमि मूलरूप थी इसमें प्रमाण (कारण) कहते हैं कि स्थान(फणाथ) और नागकन्या पूजन कर रही थी जिससे मालूम होता है कि भूमि पातालसे भी अधो(नीचे) भागमें थी, अतः मूलरूप भूमि कही गई है न कि 'वराहोद्धृत'(वराहसे निकाली गयी) भूमि कही है. 'अद्य' पदसे यह सूचित किया है कि इसमें पिता आदिसे उत्पन्न दोष नहीं हैं. 'सङ्कर्षण' पदसे जताया है कि चतुर्मूर्ति भगवान्की यह संहारक मूर्ति है. इससे यह सूचित

किया है कि भगवान्ने पदार्थोंके निरूपण करते हुए जो दृष्टान्तकेलिये भी अन्य पदार्थ कहे हैं, वे पदार्थ भी सङ्कर्षणको प्राप्त होकर अपनी पूर्वावस्था (भगवदीयत्व)को जलाकर नवीन भगवदीय रूपवाले बन जाते हैं. सङ्कर्षण तो तमोगुणी है, इस दोषको मिटानेकेलिये 'देव' विशेषण दिया है. केवल 'देव' शब्द कहनेसे तामसत्वका परिहार नहीं हो सकता है क्योंकि देव भी बहुत प्रकारके (सात्त्विक, राजस और तामसादि) होते हैं, इसपर कहते हैं कि 'अकुण्ठ सत्वं', यह देव वह है जिसका सतोगुण कुण्ठित नहीं हुआ है अथवा अक्षररूप (सन्देशात्मक है) सत्त्वगुण है अर्थाद् भगवान्की शय्या(आसन)रूप होनेसे शुद्ध पूर्ण सत्त्वरूप इन(सङ्कर्षण)को संहार करनेके कारण तामस कहा जाता है. वे भी केवल प्रलयके समयमें ही है अतः वे गुणसे ही तामस हैं, स्वरूपसे तामस नहीं हैं.

वे तो सबके उपास्य देव हैं, इनको 'संकर्षण'(यह सङ्कर्षण नाम रूढ़ि नहीं है किन्तु यौगिक है अतः सबको स्वरूपमें लय करना है एवं बाहर भी निकालना है.) इसलिये कहते हैं कि द्रष्टा और दृश्य दोनोंका आकर्षण कर लेते हैं, अतः वे ही संसार देते हैं जिससे 'आद्य' हैं. इसलिए इनका भजन करना आवश्यक है. पिता होनेसे इनमें उपदेष्टृत्व भी बन सकता है. यह तत्त्व तो ज्ञानी ही जानते हैं इसलिये ही सनकादि श्रोता बने हैं, मोक्षकेलिये भी ये ही सेव्य हैं, क्योंकि संसारका आकर्षण इनसे ही मिटता है इनका स्वरूप आगे निरूपण किया जायेगा.

जब सनकादिकोंमें ज्ञान विद्यमान था तो संकर्षणके स्थानपर क्यों गये? ऐसी शंका होवे तो कहते हैं कि 'विवित्सवः'. ये सनकादि कुमार जिनमें सनत् मुख्य हैं, सङ्कर्षणसे भी पर(उत्तम) धन्य कोई है वा नहीं अर्थात् वासुदेवके स्वरूपके ज्ञान प्राप्तिकेलिये, गये थे. ये कुमार 'मुनि' थे अर्थात् ज्ञानवान् थे. अतः ये ही इस बातको जानते थे कि वासुदेवतत्त्वको सङ्कर्षण ही जानते हैं. इनके सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता है. 'तमन्वपृच्छन्'का भाव स्पष्ट करते हैं कि 'अनु' कहनेसे यह सूचित किया है कि ब्रह्माने सनकादिकोंको कहा कि संकर्षणसे ही पूछना चाहिए, उसके बाद कुमारोंने पूछा, यद्यपि ब्रह्मा(वासुदेव स्वरूप) जानते हैं तो भी भक्तिमार्गको मुख्य सनकादि नहीं मानते हैं, अतः सङ्कर्षणको ज्ञानप्रधान माननेसे ब्रह्माने वेसे ही कहा ।।३।।

आभासार्थः सङ्कर्षणके अभिमानका अधिदैव स्वरूप होनेसे उन्हें अभिमान अपने आधीन नहीं करता है, इस कारणसे वे अपनेसे उत्तम वासुदेवका

ध्यान सर्वदा ही करते रहते हैं, जब कुमार गए तब ध्यान कर रहे थे जिसका वर्णन इस निम्न श्लोकमें करते हैं:

स्वमेव धिष्ण्यं बहु मानयन्तं यं वासुदेवाभिधम् आमनन्ति।
प्रत्यग्धृताक्षाम्बुजकोशमीषद् उन्मीलयन्तं विबुधोदयाय ।।४ ।।

श्लोकार्थ: जिसका वासुदेव नामसे लोक आदर करते हैं, उसको सङ्कर्षण अपना आश्रय समझकर और उसे अपनेसे बडा मानकर उसका ध्यान कर रहे हैं. कैसे? इसका श्लोकके उत्तरार्धमें वर्णन करते हैं कि देवों(सनकादि)के लिए आत्मामें धारण किये हुए नेत्र कमलकी कलीको ईषत्(कुछ थोडी) खुली किये हुए थे ।।४ ।।

व्याख्या: 'धिष्ण्यं' पदका अर्थ यहां आसन नहीं हैं किन्तु आश्रय एवं स्थान है जिसको अपना आधार मानकर ध्यान कर रहे हैं, तथा उसका बहुत आदर भी करते थे. ध्याता, ध्येयका आदर करते ही हैं यह नियम है, जिसका सङ्कर्षण ध्यान कर रहे हैं उसे लोक 'वासुदेव' कहते हैं. वास्तवमें वह सङ्कर्षणका अपना ही आश्रयभूत आत्मा है. लोक उसको दूसरे शब्द द्वारा 'पर' कहते हैं.

जो ध्यानारूढ़ होता है उसको बाहरका किसीका ज्ञान नहीं रहता है तो फिर ये कुमारोंके उपदेशक कैसे बने? इसका उत्तर उत्तरार्धमें देते हैं "**कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानम् ऐक्षत् आवृत्तचक्षुः**". इस श्रुत्यनुसार सङ्कर्षणजीने अपने आत्म–स्वरूपमें नेत्रोंको धारण किये. यद्यपि चक्षुको भीतर ले गये तो भी भगवान् (सङ्कर्षण) कमलनयन होनेसे जैसे कमल जलसे बाहर दीखता ही है और भगवान् ध्यानारूढ़ हों तो भी देख सकते थे यों जानना चाहिए. किञ्च यह नेत्र कमलके कोशरूप है, कोश सदैव मुकुलित पत्रोंवाला होता है, वैसे ही ये भी निमीलित नेत्रवाले थे, तो भी आये हुए सनत्कुमारोंका उदय(उन्नति) हो इसलिए 'ईषत्'(स्वल्प–अस्फुट थोडे) खुले जैसे कर(बनाके) देखते थे, कोशरूप अर्द्ध–विकसित(आधा खिला हुआ) होता है, ऐसी अवस्थामें उपदेश देनेमें कोई वा किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं है ।।४।।

आभासार्थ: वे(कुमार) बाहरसे भी शुद्ध होकर आए थे जो निम्न श्लोकमें कहते हैं:

स्वर्धुन्युदार्द्रैः स्वजटाकलापैः उपस्पृशन्तश्चरणोपधानम्।
पद्मं यदर्चन्त्यहिराजकन्याः सप्रेम नानाबलिभिर् वरार्थाः ।।५ ।।

श्लोकार्थ: भगवान् सङ्कर्षणके चरण धरनेका जो पीठरूप कमल है, जिसका सर्पराजकी कन्याओंने वर प्राप्तिकेलिए प्रेम सहित अनेक बलियोंसे पूजन किया है उसको गंगा जलसे भीगी हुई अपनी जटाके जूडोंसे मुनियों (सनत्कुमारोंने) स्पर्श करते हुए पूछा ।।५।।

व्याख्या: सनत्कुमारोंने बाहरकी शुद्धिकेलिये अपना शरीर तथा अपनी जटाएं गंगा जलसे आर्द्र(गीली) कर रखीं थीं, जिससे इनका शरीर भगवदीय हो गया था. शरीर गंगाजलसे आर्द्र करनेका कारण यह भी था कि पातालमें दैत्य अधिक रहते हैं. जब तक गंगाजलसे शरीर आर्द्र(गीला) रहता है तब तक दैत्य आक्रमण नहीं कर सकते हैं, अतः जटायें भीगी ही रखी हैं. कितने ही कहते हैं कि, गङ्गाके द्वारसे पातालमें गये हैं. यदि गंगा द्वारसे गये होते तो वे समग्र आर्द्र कहे जाते केवल जटाएं आर्द्र न कहते. ''योगेश्वराणां गतिम् आहुः'', इस न्यायानुसार वे किसी भी मार्गसे जानेमें समर्थ हैं. 'गंगा' पद देनेपर लक्षणा करनी पड़ेगी यों ही मान लेवें कि अतिशय पवित्रताकेलिए इस मार्गसे गये हों जिससे इस पक्षको माननेमें आपत्ति(हर्कत) नहीं है. 'जटा' पद देनेसे यह सूचित किया है कि केश सुलझाये हुए नहीं थे अतः उन आर्द्र जटाओंके समूहसे ही सङ्कर्षणके चरणोंके पीठका स्पर्श कर पूछने लगे. यद्यपि पहले प्रणाम किया था तो भी वासुदेवके स्वरूपको जाननेकेलिये फिर साष्टाङ्ग नमस्कार करने लगे यों अर्थ(तात्पर्य) हैं:

गीली जटाओंसे स्पर्श करनेका क्या कारण था? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'पद्मं यद् अर्चन्ति इति'. प्राप्त करनेकी इच्छावाली वासुकिकी कन्याओंने प्रेम सहित अनेक प्रकारकी पूजा सामग्रियोंसे जिस चरण कमलकी पूजा की थी उस चरण पद्मको स्पर्शकर प्रणाम करना था, जिससे हेतुकी सिद्धि हो जाय. कितने ही कहते हैं कि उनको स्पर्शका दोष न लगे, इसलिए जटाएं गीली रखी थीं, गङ्गाकी तुलनामें भी वे चरण उत्कृष्ट(उत्तम) थे, जिससे महत्पुरुषोंको भी फल देते हैं. इससे यह सूचित किया है कि अपनी भी इष्ट सिद्धि होगी. कन्यात्व था जिससे अन्य किसी प्रकारके विकारकी सम्भावना नहीं थी. अन्य कामना(वरकामना) होनेसे यह पूजन काम्यत्व(सङ्कर्षणकी प्राप्तिकी इच्छावाला) नहीं था. इससे सर्वथा निर्दोष तथा सर्व प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाले उसी ही वासुदेव भगवान्का ध्यान कर्ता सङ्कर्षण उस(वासुदेव)का स्वरूप सम्यक् प्रकारसे सम्पूर्ण कहेंगे यो सूचित किया है ।।५।।

आभासार्थ: उन(कुमारों)को सङ्कर्षणका ज्ञान तो सिद्ध था, यों जताने केलिए वासुदेवका ज्ञान बहुत अभीष्ट(इच्छित) है यों बतानेकेलिए, प्रार्थनार्थ वे सङ्कर्षणकी निम्न श्लोकसे स्तुति करते हैं:

मुहुर्गृणन्तो वचसाऽनुरागस्खलत्पदेनाऽस्य कृतानि तज्ज्ञाः ।
किरीटसाहस्रमणिप्रवेक–प्रद्योतितोद्दामफणासहस्रम् ।।६ ।।

श्लोकार्थ: सहस्रों मुकुटोंके उत्तममणियोंसे विशेष प्रकाशित है. निरंकुश(स्वच्छ) फणें जिनकी, ऐसे इनके कृत्योंको माननेवाले कुमार अनुरागके कारण जिनकी वाणीके अक्षर स्खलित(गद्–गद्) हो रहे हैं वे स्तुति करते हुए पूछने लगे ।।६ ।।

व्याख्या: कुमारोंमें भक्तिका उद्रेक हुआ जिससे वे बार–बार स्तुति करने लगे. ज्ञानमें निष्ठावाले मनसे स्तुति करते हैं यों सम्भव है, इसलिए प्रेमसे उत्पन्न आनन्दको प्रकट करनेकेलिये 'वचसा' कहा है अर्थात् वाणीसे वह प्रकट करने लगे. उससे भी अधिकता प्रकट करनेकेलिये 'वचसा स्खलत्पदेन' विशेषण दिया है अर्थात् गद्गद् वाणीसे स्तुति करने लगे. ''**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ, तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः**''. अर्थ : जिसकी देवमें उत्तम भक्ति है और जैसे देवमें है वैसी ही गुरुमें भी है. ऐसे, महात्माके हृदयमें कहे हुये अर्थ प्रकाश पाते हैं. इस वाक्यानुसार वासुदेवकी तरह सङ्कर्षणमें भी प्रेम था यों कहते हैं. उस प्रेमके कारण वाणी गद्गद् हो रही है. 'अस्य कृतानि' पदसे नवीन कल्पनाकर स्तुतिके करनेका निषेध करते हैं अर्थात् सङ्कर्षणने जो चरित्र किये हैं उन चरित्रोंके प्रतिपादक वचनोंसे ही स्तुति करने लगे, यों सम्बन्ध है. सङ्कर्षणका अब नवीन परिचय नहीं हुआ है, किन्तु उनके चरित्रोंको पहलेसे जाननेवाले थे जिससे उनकी सङ्कर्षणमें एकतानता थी, अर्थात् संकर्षणके चरित्र जाननेसे उनमें आसक्ति हुई थी.

उपर्युक्त लक्षणरहितको भागवत नहीं कहना चाहिये, जब कुमारोंमें पूर्वोक्त गुण देखे तब भगवान् सुनाने लगे. संकर्षण अवतारकी तरह दूसरे रूपमें नहीं थे किन्तु उसी ही अपने रूपमें स्थित थे, वह ''किरीटसाहस्रेति'' इस श्लोकमें उत्तरार्धसे बताते हैं, सहस्रों मुकुटोंके उत्तम मणियोंसे प्रकाशित हैं. निरङ्कुश (स्वच्छन्द) फणें जिसकी. 'सहस्र' पद किरीटोंके अनादरका सूचक है, जिससे वह भाव बताया है कि मुकुट नित्य नवीन धारण करते थे, वे उत्तम मणियुक्त

होनेसे उनके प्रकाशसे फणोंका दर्शन स्पष्ट होता था उस दर्शनसे दर्शकका भय निवृत्त हो जाता है. सङ्कर्षण गुणातीत हैं. यों बतानेकेलिए 'उद्दामेति' कहा है अर्थात् ये फणें प्रलय होनेसे निरङ्कुश कही गई हैं, कालान्तरमें अर्थात् प्रलयकालके सिवाय अन्य कालमें उन(फणों)को रस्सीकी तरह बन्धे हुए होनेसे सङ्कोच होनेका सम्भव है, उसका भी निषेध करते हैं, ये करनेका कारण है, वहां रहनेवाली स्त्री आदि समीप न आवें. 'फण' शब्द कहकर यह सूचित किया है कि फणें विकसित थीं अथवा मुकुटमें लगी हुई मणिओंका प्रश्न सहस्र फणों तक फैला हुआ था ऐसे सङ्कर्षण थे ।।६।।

आभासार्थ: इस प्रकार श्रोता तथा वक्ताके स्वरूपका निर्णयकर, निम्न श्लोकमें प्रस्तुत विषयको कहते हैं:

प्रोक्तं किलैतद् भगवत्तमेन निवृत्तिधर्माभिरताय तेन।
सनत्कुमाराय स चाह पृष्टः सांख्यायनायाऽङ्ग! धृतव्रताय ।।७।।

श्लोकार्थ: मैत्रेयजीने विदुरजीसे कहा, हे अंग! उस महान् भगवान्ने निवृत्तिधर्मके सम्पूर्ण रतिवाले सनत्कुमारको कहा और सनत्कुमारने व्रतधारी सांख्यायनने जब उससे पूछा तब उसको कहा ।।७।।

व्याख्या: जिस भागवतको आप(मैत्रेय) कहनेवाले हैं उसका माहात्म्य बतानेकेलिये इतना विशेष क्यों कह रहे हैं? ऐसी शङ्का मिटानेको 'किल' शब्द कहा है, जिसका भावार्थ है कि मैत्रेयने झूठी प्रशंसा नहीं की है किन्तु भागवत ग्रन्थ निश्चय वैसा ही है, 'भगवत्तमेन' पदसे यह स्पष्टता की है कि सङ्कर्षण निरुपाधिक(उपाधिरहित) ब्रह्म नहीं है किन्तु निरुपाधिक ब्रह्मके सिवाय जो अन्य हैं उनसे विशेष हैं, इससे यह जताया कि उस (सङ्कर्षण) ने भी वासुदेवसे यह जाना है. सनत्कुमारको श्रवणका अधिकार है क्योंकि निवृत्तिधर्म(परमहंसोंके धर्म) में इसका सम्पूर्ण प्रेम है, जिससे जाना जाता है कि वह पूर्ण ज्ञानी है, अतः सङ्कर्षणने अपने पूर्वोक्त सहस्र फण रूपसे ही उपदेश दिये हैं, यों जतानेकेलिये फिर 'सङ्कर्षण'का निर्देश किया है. 'सनत्कुमाराय' यह नाम स्पष्ट दिया है जिसका हेतु यह है कि वह दुर्लभ अधिकारी मिला है, इसलिए इसको ही उपदेश दिया है, इसके साथवालोंको तो आनुषङ्गिक (प्रसंगवश) उपदेश प्राप्त हुआ है. इसको ही आदेशका कारण 'निवृत्तिधर्मरत है' यों पहले कह आये हैं.

इसके अनन्तर परम्परा बताते हैं कि उस(सनत्कुमार)ने सांख्यायनको

कहा. सनत्कुमार योगनिष्ठ हैं और सांख्यायन साङ्ख्य(त्याग) ज्ञाननिष्ठ है. साङ्ख्यसिद्धान्तमें व्यवहार असत् माना जाता है. इस शंङ्काको मिटानेकेलिये 'धृतव्रताय' विशेषण दिया है, सांख्यायनने व्रत धारण किये थे जिससे वह भागवत श्रवणका अधिकारी हुआ, इसलिए उसको भागवतके ज्ञानकी प्राप्ति हुई, विदुर भी वैसा होवे इसलिए विदुरको मैत्रेयजीने हे अङ्ग! सम्बोधन देकर सचेत किया है ।।७।।

आभासार्थः सांख्यायनने पराशरको भगवद्भक्त समझकर प्रसंगानुसार उसको भागवत सुनाया, मैत्रेयजी, अपने गुरुकी उत्तमता निम्न श्लोकमें प्रतिपादन करते हैं:

साङ्ख्यायनः पारमहंस्यमुख्यो विवक्षमाणो भगवद्विभूतीः ।
जगाद सोऽस्मद्गुरवेन्विताय पराशरायाऽथ बृहस्पतेश्च ।।८ ।।

श्लोकार्थः परमहंसोका जो श्रवण-कीर्तन आवश्यक धर्म है. उसके पालक परमहंसोमें सांख्यायन मुख्य हैं. इस कारणसे भगवद्विभूतियोंके कहनेकी इच्छावाले इनसे मिले हुए मेरे गुरु पराशरको बृहस्पतिके स्थानपर कहा ।।८ ।।

व्याख्याः परमहंसोंका आवश्यक धर्म श्रवण और कीर्तन है उसके पालक परमहंसोंमें सांख्यायन मुख्य हैं क्योंकि वह मुख्यरूपसे विशेषतया परमहंसोंके धर्मका ही पालन करता था, इसलिए ही इसको भगवद्विभूतियोंके वर्णनकी इच्छा हो रही थी, संयोगसे मेरे गुरु पराशर, जो सुननेके योग्य अधिकारी थे वह मिल गये.

'अथ' शब्दसे भिन्न प्रक्रमकी सूचना की है. अतः बृहस्पतिके स्थानपर कहनेका आशय है कि देवलोकमें भी भागवतका प्रचार हो, ब्रह्मा और सनकादिक ऊपरके लोकोंमें विराजते ही हैं. ध्रुवलोक पर्यन्त बृहस्पति हैं, पृथ्वीपर पराशर एवं पातालमें सङ्कर्षण स्वयं विराजते हैं. इससे यह सिद्ध होता है चौदह लोकोंमें भागवत व्याप्त है ।।८।।

आभासार्थः भूमिपर भागवतका प्रचार पराशरसे हुआ जिनका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

प्रोवाच मह्यं स दयालुरुक्तो मुनिः पुलस्त्येन पुराणम् आद्यम् ।
सोऽहं तवैतत् कथयामि वत्स! श्रद्धालवे नित्यम् अनुव्रताय ।।९ ।।

श्लोकार्थः हे वत्स! पुलस्त्यकी आज्ञाके अनुसार उस दयालु मुनिने मुझे

जो आद्यपुराण कहा वह पुराण मैं, मेरे नित्य अनुयायी तथा मुझमें श्रद्धावाले तुम (मैत्रेय)को कहता(सुनाता) हूं।।९ ।।

व्याख्या: 'मह्यं' पदसे 'मैत्रेयाय' कहा है. मुझे अर्थात् 'मैत्रेय'को पराशर केलिये. 'दयालु' विशेषण देनेका भावार्थ है कि मैं(मैत्रेय) भागवत श्रवणका अधिकारी नहीं हूं तो भी गुरुने दयाकर मुझे भागवत सुनाया है. 'मुनि' विशेषणसे यह सूचित किया है कि इसके द्वारा पृथ्वीपर भागवतका प्रचार होगा. 'स' पदसे बताया है कि वह पराशर, जो प्रसिद्ध है, जो पराशर सात वर्षका भी मार्कण्डेयकी अपेक्षा आयुमें वृद्ध है और सम्पूर्ण ज्ञानवान् है कारण कि उसने गर्भमें ही वेद पढ़े हैं, पुलस्त्यने पराशरको यह आज्ञा दी कि पुराण कहने चाहिये अर्थात् तुम पुराण(भागवतादि)का प्रचार करना. पराशरने जब सुना कि राक्षसोंने मेरे पिता शक्तिका भक्षण किया है तब राक्षससत्रमें सर्व राक्षसोंका संहार करने लगे, यह देखकर पुलस्त्यने आकर अपने वंशके रक्षार्थ स्वयं वा वशिष्ठ द्वारा राक्षससत्रकी निवृत्तिकेलिये प्रार्थना की, जिससे पराशरने इस कार्यसे निवृत्ति ली, तब निवृत्त पराशरको वर दिया कि 'पुराणाचार्य बनो'. अर्थात् तू(पराशर) पुराणवक्ताओंमें मुख्य होगा अथवा लोकमें पुराण(भागवत)का प्रचार हो तदर्थ अन्योंको भागवत पढ़ाओगे, जिससे आप पुराणाचार्य कहे जायेंगे. यदि इस प्रकार वर प्राप्ति न होती तो अधिकारके न होनेसे पराशर पुराण कह(सुना व पढ़ा) नहीं सकते थे, इसलिए श्लोकमें 'पुलस्त्येन उक्तः' कहा है. 'आद्यं' पदसे भागवत समझना चाहिये, पुराणका प्रारम्भ होते हुए प्रथम उत्पन्न ब्रह्माको भगवान्ने पहले ही जो पुराण कहा वह 'भागवत' है. 'विष्णुपुराण' तो, जैसे व्यासने वेदकी शाखाएं(विभाग) की वैसे विष्णुपुराण भी भागवतकी कथाओंसे सम्बद्ध प्रमेयरूप ही है, विष्णुपुराणमें मैत्रेय और पराशर की कथाका निरूपण है. विष्णुपुराणमें कही हुई परम्पराके निराकरण केलिये, भागवतको 'आद्यं' कहा है. यदि भागवत 'आद्यं'(सबसे पहले) न होता तो विष्णुपुराणमें इस प्रकारकी परम्परा न कही जाती.

गुरुकृपासे अनुगृहीत मैं श्रोता बने हुए तुमको यह भागवत कहता हूं. "**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रयोगः**"(पाणि.सू.) व्याकरणानुसार जो कार्य समीपमें होनेवाला हो, उसमें भी वर्तमान प्रयोग किया जा सकता है.

वत्स! यह सम्बोधन स्नेह प्रकट करनेकेलिये दिया है. भगवान्की आज्ञा तो जितनी कही है उतनी ही थी, किन्तु तुम्हारी श्रद्धा तथा सेवापरायणता विशेष

कहलाती है. मर्यादा रक्षाकेलिये दो विशेषण देकर अधिकार सिद्ध किया है १.श्रद्धालवे २.नित्यम् अनुव्रताय. 'श्रद्धा'के कारण मुख्य अधिकार प्राप्त है, गुरुकी इच्छा या आज्ञानुसार नित्य सेवा भी अधिकारप्राप्तमें कारण है. श्रद्धासे अन्तरङ्ग और सेवासे बाहरके अधिकारकी प्राप्ति हुई है ।।९।।

आभासार्थः इस प्रकार परम्परा एवं प्रतिज्ञा कहकर पुराण प्रारम्भ करते हैं[१]:

१.इस विषयमें शुकदेवजीका आशय इस प्रकार समझना चाहिये, द्वितीय स्कन्धके "**आसीद् यदुदरात् पद्मम्**"(२।८।८) इत्यादि श्लोकोंसे जो हिरण्यगर्भको उत्पन्न करनेवाले सर्वरूपात्मक सम्बन्धी जो प्रश्न किये उनका समाधान तृतीय स्कन्धके नवमाध्यायकी चतुःश्लोकी(श्लोक ३२से ३५ तक)में किया है. वह ब्रह्मकल्पानुसारी है, अनन्तर(२।६।४५ श्लोकमें) विराट्से जगदुत्पत्ति जैसे हुई वह और अन्य सम्पूर्ण प्रश्नोंके उत्तर देनेकी प्रतिज्ञा की, तथा दशमाध्यायमें महापुराणके दशलक्षण कहकर, विराट्से सृष्टिकी उत्पत्ति कहते हुए ब्रह्मकलाके विकल्पका संशय उपस्थित किया (२।१०।४६), इससे सामान्यतः सर्व प्रश्नोंका उत्तर आ गया तो भी विशेष प्रकारसे उनका समाधान नहीं हुआ, इसलिए सम्पूर्ण समाधान केलिये (२।१०।४७ में) पद्मकल्पकी कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की और तृतीय स्कन्धके प्रारम्भमें "**एवम् एतत् पुरा पृष्टः**" इस श्लोकसे विदुर-मैत्रेय संवाद द्वारा आद्यं(भागवत) महापुराणका मैत्रेयके मुखसे प्रारम्भ करवाया, इस आाद्यपुराणमें मुक्ति और आप्त सम्पत्ति पूर्वक पद्मकल्पको सृष्टिमें कहे हुए समस्त प्रश्नोंके उत्तर आ जायेंगे वह उत्तर इस श्लोकसे देना प्रारम्भ करते हैं.(प्रकाश)

उदप्लुतं विश्वम् इदं तदासीद् यन् निद्रया मीलितदृङ्न्यमीलयत्।
अहीन्द्रतल्पेऽधिशयान एकः कृतक्षणः स्वात्मरतौ निरीहः ।।१०।।

श्लोकार्थः अलुप्तज्ञान शक्तिवाले, शेषरूप पलंगपर पौढे, हुए अपने स्वरूपमें रमणेच्छु, अकेले, अक्रिय भगवान्ने जब निद्रार्थ नेत्रोंको बन्ध किया तब विश्व जलमें डूबा था ।।१० ।।

व्याख्याः 'पुराण'में भगवान्की दशलीलाएं कही जाती हैं. उसमेंसे प्रथम सर्गलीला कहनी चाहिये. वह सर्ग भगवत्सम्बन्धी होनेसे भगवान्ने ही की.

विदुरने जो विषय पूछे हैं वे ब्रह्मकल्पमें नहीं हैं अतः जिस कल्पमें इन विषयोंका उत्तर हो उसे अन्य कल्पानुसार इनका उत्तर देना चाहिए, जो भगवान्ने ही किया है, वह चरित्र पद्मकल्पमें किये हुए हैं, इसलिए उनके निरूपणकेलिए

पहिले कल्पके प्रलयके बादकी स्थितिका वर्णन करते हैं कि, 'उदप्लुतं', ब्रह्मकल्प जब पूरा हुआ तब सर्व विश्व जलमें डूबा हुआ था. प्रलय अनेक प्रकारके होते हैं.

तामसकल्पोंमें आगेकी सृष्टि रचनेकेलिए तामस भूतोंको अग्निसे जलाकर भस्म कर दिया जाता है. राजसकल्पोंमें जलमें विश्वको डुबोया जाता है. सात्त्विक कल्पोंमें स्थित पदार्थोंका थोड़ा भाग ही नाश होकर शेष सब बच जाता है, जबकि फिर आगे भी सात्त्विककल्प ही होता है इससे अर्थात् जलमें डूब जानेसे जाना जाता है कि पद्मकल्पसे पूर्वकल्प, राजसकल्प था इसलिए 'उदप्लुतं' कहा है. 'उदय' पद कहकर यह भाव प्रकट किया है कि विश्व सर्वदा एक तरहका ही है अतः वृक्षकी तरह विश्वप्रवाह भी अनादि ही है. 'तदा' पदसे यह सूचित किया है कि इस सृष्टिसे पहले हुई प्रलयमें जब अलुप्त ज्ञानशक्ति भगवान्ने अपनी निद्रा शक्तिसे नेत्र बन्द किए तो भी जागते रहते थे.

इस प्रकारकी स्थितिमें रहनेसे कौनसा गुण(लाभ) प्राप्त होता है? इस शंका निवृत्तिकेलिए कहते हैं कि 'स्वात्मरतौ कृतक्षणः', भगवान्ने अपने स्वरूपमें ही(आन्तर रमण करनेकी) क्रीड़ा(रमण) करनेकी इच्छा की ऐसी स्थितिमें रहनेसे यह लाभ प्राप्त किया.

ब्रह्मसृष्टि एवं प्रलय क्यों करते हैं? यों करनेका क्या कारण है? इस शङ्काका उत्तर "**कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुखम्**" (तत्त्वदीप निबन्ध) इस श्लोक द्वारा देते हैं कि जब ब्रह्मको प्रपञ्चमें(बाहर) रमरणकी इच्छा होती है तब सृष्टि करते हैं और जब स्वरूपानन्दमें रमण(आत्मरमण= भीतर रमरण)की इच्छा होती है तब प्रपञ्चका लय करते हैं, इस प्रकार दोनों प्रकारके रमण सुखपूर्वक करते हैं यही सृष्टि एवं प्रलय करनेका कारण है.

स्वरूपानन्दका आशय है 'पूर्णानन्दः'. अक्षरानन्द जो लक्ष्मीरूप है जिसका निरूपण पहले किया गया है और वह भगवान् व्यापिवैकुण्ठमें भी कभी लक्ष्मीसे क्रीड़ा करते हैं. कभी अपने स्वरूपके आनन्दका ही अनुभव करते हैं. कार्य परम्परामें तृणसे लेकर स्तम्ब-पर्यन्त, बीजधर्मकी ही सर्वत्र प्रतीति होती है, यों होते हुए भी अंश कार्योंमें जैसा बाहरका रमण होता है वैसा ही आन्तररमण भी होता है, बाहरकेरमणमें क्रिया सफलता कराती है अर्थात् बाहरके रमणमें क्रिया ही आनन्दको बढ़ाती है और आन्तररमणमें ज्ञान, आनन्दको बढाता है, ये दोनों

प्रकारके रमण अपनी-अपनी अवस्थामें एक दूसरेको दबा देते हैं, जिससे उस उस स्थितिका आनन्द पूर्ण हुआ जाननेमें आता है. आत्मानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दके अनुभवका अङ्ग सर्व प्रकारकी ईहा(इच्छाओं)का त्याग है, यह 'निरीह'(चेष्टा रहित) पदसे सूचित किया है, जैसे रंक(गरीब) और महाराजामें पुरुषपन समान हैं तो भी उनके बाहरके भोगमें विशेष भेद होता है. वैसे ही आत्मस्वरूपके रमणमें भी, जब तक आत्मापनसे जानता है तब तक ही आत्मसुख बढता रहता है, जैसे जैसे भेद बढ़ता है वैसे वैसे वह आनन्द कम होता है. सृष्टि और प्रलयलीला द्वारा भगवान् यही समझाते हैं. 'एक' पदसे यह सूचित किया है कि उस अखण्डानन्द सुखका अनुभव एकाकी अवस्थामें ही होता है. 'अधिशयान' पदसे यह बताया है कि भगवान् जब क्रियाशक्तिका कार्य नहीं करते हैं तब कहा जाता है कि प्रभु पौढे हैं, प्रभुका पौढना तमोगुणवाली निद्रा नहीं है. शय्या पर सोनेसे(पौढनेसे) जो कष्ट होता है वह प्रभुको नहीं था क्योंकि 'प्रभु' शेषशय्यापर पौढे थे, वह शेष, भगवान्के श्वासों द्वारा जो वायु उत्पन्न होती थी उसका पान करता था, जिसमें वह शेष प्रतिक्षण बढ जाता अतः कोमल हो जाता था जिस कोमलताके कारण कष्ट नहीं होता था, इस कारणसे ही भगवान् विशेष समय पौढते हैं[१]।। १०।।

१.'पुराण' शब्दसे श्रीमद्भागवत महापुराण समझना चाहिये. अनुवाद करनेका क्या प्रयोजन है? इसपर 'बहुविधा' पद दिया है. प्रलय अनेक प्रकारसे होती है अर्थात् प्रत्येक कल्पमें प्रलयका पृथक् पृथक् रूप होता है, यही अनुवाद करनेका प्रयोजन है. वहां पहले ''**स चापि यत्र**'' श्लोक(२।८।१०)में ईश्वर और जीवकी अवस्था समान होनेसे ईश्वर भी जीव जैसे हैं, इस आक्षेपके निवारणार्थ पहले इस आक्षेपका विशेष प्रकारसे समाधान करना चाहिए, इसलिए पहले भगवान् तथा जीवके सुषुप्तिका भेद बतानेकेलिए ''तस्य प्रलयस्य'' पंक्ति कही है. जिसका भावार्थ(भेद) प्रकट करनेकेलिए ''**सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपयेति**'' इस श्रुति द्वारा जीव सुषुप्तिकालमें तमोगुणसे पराभव(हारा हुआ) होता है, भगवान् नहीं होते हैं यह एक भेद बताया.

''स्वात्मरतौ कृतक्षणः'', अपने आत्मस्वरूपमें ही आनन्दार्थ इच्छावाले इसके अर्थ(तात्पर्य) समझनेकेलिए कहते हैं ''**कदाचिद् रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित् सुखम्**'', इससे सृष्टि और प्रलय करनेका कारण बताया है. 'आत्मनि' इत्यादि ''**सता सौम्य! तदा सम्पन्नो भवति**''(छान्दो.उप.६।९।२) इस श्रुत्यनुसार जीव जब सत्से मिलता है तब आनन्दवाला होता है अन्यथा स्वतः सुखी(आनन्दवाला)

नहीं. जब सत्के पास सुषुप्तिकालमें जानेसे सुख प्राप्त करता वह सुख भी अपूर्ण है, और अनित्य है, भगवान्में तो स्वतः पूर्ण सुख सदैव है, यह जीव एवं भगवान्में दूसरा भेद है.

इस प्रकार ब्रह्माण्डान्तरमें ही होगा न कि मूल धाममें भी होगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिए अक्षरानन्द तो लक्ष्मीरूप है अतः भगवान् व्यापिवैकुण्ठमें भी कदाचित् लक्ष्मीजीसे भी रमण करते हैं अर्थात् अक्षरानन्द रमण करते हैं.

आभासार्थ: जब भगवान् इस प्रकार स्वतः आत्मरमणमें संलग्न होनेसे विघ्न रहित महासुखका अनुभव करते हैं तो फिर सृष्टि रचनेका कोई प्रयोजन ही नहीं रहता है, जिससे 'सृष्टि' रचना नहीं कहना चाहिए, इस शंकाको मिटानेकेलिए निम्न श्लोकमें भगवान् क्यों शयन करते हैं? उसके साधन और प्रयोजन बताते हैं :

सोऽन्तःशरीरेऽर्पितभूतसूक्ष्मः कालात्मिकां शक्तिम् उदीरयाणः ।
उवास तस्मिन् सलिले पदे स्वे यथाऽनलो दारुणि रुद्धवीर्यः ।।११।।

श्लोकार्थ: शरीरके भीतर सूक्ष्म भूतोंको स्थापित करनेवाले वह ब्रह्म, अपनी कालात्मिका शक्तिको प्रेरणा करते हुए, जैसे कि दहनशक्तिवाली रुकी हुई अग्नि काष्ठमें रहती है वैसे ही आप(ब्रह्म) अपने स्थान जलमें रहे ।।११ ।।

व्याख्या: शरीर तो आनन्दमय(आनन्दकी निधि) है एवं सत् तथा आनन्दरूप भी है यों पहले(ब्रह्मकल्प)में निरूपण किया गया है. भगवान् सच्चिदानन्दरूप हैं यह वस्तुस्थिति है अर्थात् वास्तविक स्थिति है. पुरुषका 'सत्' बाहर है, ज्ञान मध्यमें है और आनन्द तो भीतर होता है. स्त्रीमें इससे विपरीत होता है, जिससे सत् स्त्रीके भीतर रहता है और आनन्द बाहर होता है इस कारणसे स्त्रीकी सत्में प्रीति होती है, आनन्दमें कभी नहीं होती है उसको अंदरसे सांख्ययोग और ज्ञानका अधिकार ही है भक्तिका अधिकार बाहरसे है, इस विषयमें स्त्रीसे पुरुषका विपरीत विचरण होता है, जैसे कि आनन्दका अनुभव पुरुषको भीतर ही उचित है न कि बाहर, क्योंकि यदि वैसा होवे तो आनन्दको अपना स्थान त्याग करना पड़े, जिससे आनन्द और प्रीति पृथक् हो जानेका अवसर आ जाय, फिर ऐसा आनन्द अनुभव योग्य नहीं रहता है, भगवान्में भी वैसे ही, क्योंकि भगवान् बीजरूप हैं, वह ही भाव तीनों अवस्थामोंमें फिरता रहता है इसलिए उसकी सत्, चित् और आनन्दमें एक ही स्थानपर स्थिति नहीं रहती है

अन्यथा अर्थात् एक ही स्थानमें रहे तो वैसे स्वरूपकी व्यर्थता देखनेमें आवे, सर्वमें अनुस्थान तद्रूप होनेसे ही नित्य सिद्ध है.

अतः जब सत्में(जाग्रत अवस्थामें) रमण करते हैं तब अक्षरानन्दको पृथक्कर लक्ष्मीसे रमण करते हैं, जब 'चित्'में(स्वप्नमें) रमण करते हैं, तब सत्को चित्के भीतर और आनन्दको उससे(चित्से) बाहर रखते हैं. बाह्य और अन्तर भेदसे दो प्रकारके रमण करते हैं. उस रमणमें प्रपञ्च तथा वेदरमणके साधन हैं. अपने बनाये हुए प्रपञ्चमें भी ये दो(वेदोंसे आन्तररमण और प्रपंचसे बाहररमण, ये दो रमण करते हैं) करते हैं वे कल्पके प्रलय कहे जाते हैं.

उसमें अधिकारी काल नियामक है और वह काल केवल भगवान्के भोगका सम्पादन करता है जिससे अंश, भोग न कर सके इसलिए उसके विषयके भीतर प्रविष्ट कर पौढ़ते हैं, यह भावार्थ 'अन्तःशरीरे अर्पितभूतसूक्ष्मः', पदसे कहा है सकल ही चिदंशोंको यथायोग्य स्थानोंमें रखकर अपनी आत्माका अनुभव करते हैं. उनका अतिक्रम न हो सके इसलिए संहारिका कालात्मिका शक्तिको प्रेरणा(जाग्रत) करते हैं, वैसे कालात्मिका शक्तिके प्रेरक भगवान् ऊपर कहे हुए अपने स्थानरूप जल नारायणका स्थानरूप है, उसमें रहने लगे. यह अंश(भाग) ऊपर कहे हुएसे पृथक् है. यह मध्यमकल्प स्वल्प प्रयत्नवाली क्रियावाला होनेसे तथा नामनिर्वर्तक होनेसे भगवान्ने जो कल्पमें जन्तुपर कृपा की है.

अतः यदि हम लोग अपने सत्, चित् और आनन्दमें इस समय रमण करें तो शीघ्र परम पुरुषार्थ सिद्ध न होगा इसलिए जब रमणका कारण हो तब रमण करना चाहिए.

बाहरके सर्व पदार्थोंको अन्दर(भीतर) स्थापित हो जानेसे और कालके विद्यमान होनेसे तो सारा जगत् बाहर निकल आएगा? इस शङ्काका निवारण दृष्टान्त देकर करते हैं कि जैसे अग्निकी दाहकशक्ति निरुद्ध होनेसे काष्ठमें स्थित अग्नि बाहर प्रकट न हो सकती है, वैसे ही कालादिकी अपनी शक्ति भी निरुद्ध है, जिससे जगत् बाहर नहीं निकल सकता है ।।११।।

आचार्यश्रीने श्लोकमें दिये हुए 'स' पदकी व्याख्या नहीं की है, जिसका कारण प्रकाशकार प्रकट करते हैं. पूर्व श्लोकमें शयनका जो कारण कहा है कि भगवान्को जब इच्छा होती है कि जगत् प्रकटकर बाहर(प्रपञ्चमें) रमण करूं, तब जगत्की रचना करते हैं, अतः अर्थबलसे यह ज्ञान होता है कि रमणका कारण

इच्छा विशेष ही है. इसलिए 'स' पदकी व्याख्या नहीं की है, अर्थात् 'स' पदसे पूर्व श्लोकोक्त भगवान् समझना चाहिये.

कारण बनी हुई इच्छाके प्रकार समझानेकेलिए दूसरे पदोंका आशय प्रकट करेंगे(करते हैं). ''**आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति**'', इस श्रुतिके अनुसार भगवान् केवल आनन्दघन हैं, जिससे अर्थात् आनन्दघनरूप होनेसे आप (भगवान्)में बाह्य और आन्तरभाव नहीं हैं, तो फिर 'अन्तःशरीरं' कैसे कहा? इस आकाङ्क्षाके होनेपर पहले स्वरूपकी स्थिति कहते हैं, 'शरीरं... इत्यादि'. 'पूर्वम्' अर्थात् ब्रह्मकल्पमें आनन्दमय अथवा सदानन्दमय स्वरूप है. यह वास्तविक स्थिति है, जिसमें प्रमाण ''**सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म**'' श्रुति है, अर्थात् ब्रह्म, सत्य, ज्ञान एवं अनन्त(आनन्द) रूप हैं. इस श्रुतिने ब्रह्मका स्वरूप लक्षण बताया है.

ब्रह्म जब जैसी इच्छा करते हैं तब वैसे ही प्रकट हो जाते हैं, इसलिए उनकी इच्छासे ही सत् आदि उनके भीतर रह जाते हैं यह बतानेकेलिये ''**स आत्मानमेव द्वेधा अपातयत् ततः पतिश्च पत्नी च अभवताम्**'' (बृहदा.उप.१।४।३) इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्मने सृष्टिके समयमें अपनेको दो भागोंमें बांटा, तब एक भाग पुरुष और एक भाग स्त्री बना, इस प्रकार श्रुतिमें कहे गये शरीरके दो प्रकार होनेसे और प्रकृत विषयमें योगमाया द्वारा की हुई व्यवस्थावाली लीलाएं कहनी हैं और योगमाया स्त्री है, दोनों शरीरोंमें भी सत् चित् और आनन्द हैं, ऐसी स्थितिको व्यवस्था कहते हैं, 'पुरुषस्य...'(सत् बाहर, चित्त-ज्ञान मध्यमें और आनन्द भीतर है.) स्त्री देहमें ये सत् आदि विपरीत हैं. पांच कोशका विचार करनेवाली श्रुतिसे पुरुषदेहमें वैसे ही सिद्ध हैं, स्त्रीदेहमें सामान्यरीतिसे यों होते हुए भी ''विलोक्यैकान्तभूतानि'' इस वाक्यानुसार पुरुषकी बुद्धिका हरण करनेकेलिए ही स्त्रीदेह बनाई गई है. बुद्धिका हरण प्रीति(प्रेम)के बिना हो नहीं सकता है. प्रेम आनन्दका ही धर्म है, अतः स्त्री आनन्द(आनन्दाभास-लौकिक आनन्द)रूप होनेसे ही स्त्री, पुरुषसे विपरीत धर्म आदिवाली है अतः पुरुषसे स्त्रीकी रति भी विपरीत है, यों स्पष्ट करते हैं 'तस्या...आदि',(स्त्रीकी) सत्में ही रति है कारण कि स्त्रीका सदंश भीतर है, इसलिए उसमें उसकी(स्त्रीकी) रति है स्त्रीका अन्तर्धर्म सत् है, अतः उसमें ही उसकी उत्पत्ति होती है. आनन्द किसी भी बुद्धिकी(जाग्रत् अवस्थामें) अवस्थामें नहीं है और पुरुषको तो जाग्रत अवस्थामें

ही स्त्री शरीरके सम्बन्धी आनन्दमें बाहरसे प्रीति होती है. सुषुप्तिमें सत्‌की सम्पत्ति होनेसे भीतरी आनन्दमें रति होती है. स्वप्रेम भी बाहरकेपदार्थोंमें अभिमान होनेसे आनन्द ही मिलता रहता है. स्त्रीको तो जाग्रत और स्वप्नमें पुरुषके देहरूप सत्‌में ही प्रीति होती है अर्थात् उससे आनन्द प्राप्ति होती है. केवल सुषुप्ति अवस्थामें प्राज्ञरूप सत्‌में आनन्द प्राप्त होता है.

इस प्रकार बन्ध अवस्थाकी व्यवस्थाका प्रकार कहकर अब कहते हैं कि मुक्तिकी अवस्थामें भी जैसे स्त्रीको अनुभव होता है वैसे पुरुषको नहीं होता है. वह पृथक् पृथक कैसे होता है? उसकी साधन व्यवस्था 'अन्तःसाङ्ख्येत्यादि' द्वारा बताई है, जिसका प्रयोजन आगे यहां ही कहेंगे.

इस प्रकार व्यवस्थाको कहकर अपनी(आत्माकी) रतिकी उत्कृष्टता केलिए कहते हैं. 'आनन्दानु...इत्यादि'. पुरुषको भीतर आनन्द प्राप्ति होती है और 'रति' उस(आनन्द)का ही धर्म है, इसलिए रतिका आनन्दसे सम्बन्ध होनेसे दोनों आन्तर होनेसे एक ही स्थानमें रहते हैं, जिससे आनन्दका विशेष अनुभव होता है. इस प्रकार उनकी वहां स्थिति ही उचित है. जब बाहर भी उनका अनुभव समान हो सकता है तो बाहर क्यों नहीं उचित कहा जावे? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं कि 'न बाह्य इत्यादि'. बाहर वैसी आनन्द प्राप्ति नहीं बन सकती है, क्योंकि यदि उस(रति)को बाहर निकाला जावे तो दोनोंमें भेद हो जायेगा अर्थात् दोनों जुदे जुदे हो जायेंगे और यदि आनन्दको भी बाहर निकाला जाय तो आनन्दको अपना स्थान त्याग करना पड़ेगा, अतः वह उचित नहीं है, इस विषयमें श्रुति द्वारा अनुभवको प्रमाण रूपमें देते हैं, ''**यथा प्रियया संपरिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्**''(बृहदा.उप.४।३।२१) तत्र स्थितो ''**न कञ्चन कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति**''(बृहदा.उप.४।३।१९). अर्थ: जैसे एकान्तमें प्रिया द्वारा आलिङ्गित पुरुष, उस समय बाहरके वा भीतरके किसी विषयको नहीं जानता है और ऐसी स्थितिमें कुछ कामना भी नहीं करता है और न किसी प्रकारका स्वप्न देखता है, केवल आनन्दानुभव ही करता है वैसे ही भीतर धर्म और धर्मीके साथमें रहनेपर जो आनन्द प्राप्त होता है वह धर्म, धर्मीके पृथक् हो जानेपर नहीं होता है.

इस अपनी रतिका उत्कर्ष सिद्धकर बताया है कि समानता होनेसे प्रकृत विषयमें भी यही नियम सिद्ध होता है. इसपर कहते हैं 'भगवति अपि तथा' इत्यादि. जैसे पुरुषमें सत्, चित् और आनन्दमें बाह्याभ्यन्तर(बाहर और अन्दर)

भाव है और जैसे अपनी रति उत्कृष्ट है, वैसे भगवान्में भी है क्योंकि भगवान् बीज हैं, इस प्रकार अपनी रतिका बीज कहकर उसको त्याग कहते हैं. 'स हि' इत्यादि, जिस कारणसे वह रमण करनेवाला भाव स्त्रियोंमें, अवस्थाविशेषोंमें अर्थात् जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंमें बदलता(फिरता) है. उस कारणसे सत्, चित् और आनन्दमें एक हीमें रतिकी स्थिति नहीं रहती है किन्तु जहां ही रमणकर्ताकी प्रीतिकी(रतिकी) इच्छा होती है वहां ही उसकी स्थिति होती है. यों विशेष ही उसके त्यागका बीज है यहां विशेष स्पष्टता करते हैं 'अन्यथा' इत्यादि. यदि यों परिवर्तन न हो सके एक ही स्थानपर रहे तो वैसे रूपकी व्यर्थता प्राप्त हो जाय, यदि रमण करानेवालेकी इच्छानुसार रतिका परिवर्तन न होता हो तो निद्रा ज्ञानकी अभिभावक(पराभव) करनेवाली होनेसे भगवान् शयन लीला न करें, जिससे इस प्रकार उससे अर्थात् यों होनेपर ही जाग्रतमें सत्, स्वप्नमें चित् और सुषुप्तिमें आनन्दको रमण कर्तृत्व है, अतः रतिका भी परिवर्तन होता है यों भाव है, यहां फिर शङ्का होती है कि यदि यों होगा तो रमण करनेवालेका भाव उसमें नित्य न रहेगा, जिससे लीला भी अनित्य हो जायेगी. इसपर कहते हैं कि उसमें आनन्द अनुस्यूत होनेसे वह रमण तद्रूप(आनन्दरूप) ही है अतः इस प्रकार परिवर्तन होते हुए भी नित्य है इसलिए लीलास्वरूप तथा प्रवाहरूप होते हुए भी आनन्दरूपमें अनुस्यूत(मिश्रित) होनेसे नित्य है.

जीवसे विलक्षणता बतानेकेलिए सिद्ध परिकरको 'अतः सति रमणे'से कहते हैं कि सत् रमणमें(जाग्रत् रमण), चित् रमणमें(स्वप्न रमणमें). इस प्रकार लीला करते हैं. सत्को चिदंशमें तिरोहित करते हैं और आनन्दको बाहर प्रकट करते हैं. इससे वह स्त्रीके समान हो जाता है अर्थात् योगमायारूप होता है तब अक्षरानन्दको पृथक्कर लक्ष्मीसे रमण करते हैं. उस रमणमें वेद और प्रपञ्च साधन हैं अर्थात् चित् रमणमें निश्वासरूप वेद साधन हैं और सत्के रमणमें प्रपञ्च साधन है. इस प्रकार समान्यरूपसे कल्पानुसार सृष्टि और प्रलय दोनों हैं यों व्यवस्था बताई है. दोनों दो प्रकारके रमणमें जैसे कि कहा है 'स्वकृत प्रपञ्चेऽपि एतद् उभयं करोति, ते कल्पप्रलयाः इति उच्यन्ते'. इससे अब स्वकृतं(अपने बनाये हुए) प्रपञ्चमें विशेष कहते हैं, वेदमें भीतर और प्रपञ्चमें बाहर रमण करते हैं आदि, 'तत्राधिकरण...आदि'. चित्के रमणमें अर्थात् स्वप्नरमणमें भगवान्के निःश्वासरूप वेद साधन हैं और अधिकारी काल है. वह केवल भगवान्के भोगका

ही सम्पादक है, अंशभोगोंको(सुख–दुःखको) न भोगे, इसलिए भगवान् विषयोंको अपने भीतर तिरोहितकर शयन(अपने स्वरूपका अनुभव) करते हैं यदि यों न करें तो अंश भी सुख दुःखोंके भोक्ता बन जावें तो भोगोंको भोगनेकी शक्ति न होनेसे धैर्यभावसे अंश सुषुप्तिका सुख प्राप्त न कर सकेंगे. यह विषय श्लोकमें 'अन्तःशरीरेऽर्पितभूत सूक्ष्मः' पंक्तिसे कहा है. जीव भगवान्के भोगोंको देखकर वासनाके कारण उनका अतिक्रमण(अनादर) न करें, इसलिए, भगवान् संहार करनेवाली कालात्मिका शक्तिको प्रेरणा करते हैं और आप अपने स्थानभूत (नारायणके स्थानभूत) जलमें स्थित होते हैं, वहां स्थितिकालमें सकल चिदंशों को अपनेमें रखकर आत्मानुभव करते हैं. कालमें जो अब प्रेरणात्मक अंश हैं वह पूर्व श्लोकोक्त निरीहपनसे विलक्षण है, इससे इतर सर्वतुल्य है, नारायण नाम व्युत्पत्ति प्रमाणानुसार यौगिक है, अतः उपर्युक्त सर्व विवेचनसे परिकरोंके प्रकारका वर्णन किया है.

पुंशरीर और स्त्रीशरीर अधिकारानुसार भीतर और बाहरके साधनोंसे रति (प्रीति)को करें, यों शिक्षार्थ प्रकारकी सूचना दी है. जीव सुखार्थ स्वाप है यों अर्थ(आशय) है.

शक्ति निरोधक रूपके कारण शेषको शय्या बनाई है, यों शयनकी उत्तरावस्था कही है, इससे भी जीवसे विलक्षणता बताई है.

जीवकी कालकृत अवस्था दूसरेका स्थान बनी हुई देह और नाडियोंके सम्बन्धके कारण इस प्रकारकी बनी है और भगवान्की स्वेच्छासे कालको प्रेरणा करते हुए अपने स्थानभूत जलके सम्बन्धसे हुई है, यों दोनों(जीव और ब्रह्म)की दो तरहसे सुषुप्ति बताई है.

आभासार्थ: भगवान् इस तरह(जलमें शयन करते हुए) कितने समय तक रहे, यों निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

चतुर्युगानां च सहस्रम् अप्सु स्वपन् स्वयोदीरितया स्वशक्त्या।
कालाख्ययासादितलोकतन्त्रो लोकान् अपीतान् ददृशे स्वदेहे ।।१२।।

श्लोकार्थ: एक सहस्र चतुर्युगी काल पर्यन्त जलमें शयन करते हुए कालात्मिक शक्तिने जिनके पास लोक रचनाकेलिए साधन उपस्थित किये थे वैसे भगवान्ने स्वयं प्रेरित अपनी शक्तिसे 'लयप्राप्त लोगों'को अपनी देहमें देखा ।।१२।।

व्याख्या: चतुर्युगोंका स्वरूप आगे(इस स्कन्धके अ.११।१८में) निरूपणके योग्य है अर्थात् कहा जायेगा. वह चतुर्यगी जब एक सहस्रवार हो जावे तब ब्रह्माका दिन होता है, वैसी ही रात्रि होती है, जब एक रात्रि होती है तब तक शयनलीला है. 'च' पदसे दोनों सन्ध्याओंके अंश ग्रहण किये हैं और दूसरी जगहकी संख्याओंका भी ग्रहण नहीं किया है अर्थात् ब्रह्माके जब शत संवत्सरपूर्ण होते हैं तब शिवका एक दिन होता है. एवं शिवके जब शत संवत्सर पूर्ण होते हैं तब विष्णुका एक निमिष होता है. इस प्रकारकी संख्या ग्रहण नहीं की है.

कालशक्तिके दो पर्व(विभाग) होते हैं, जब वह कालशक्ति अपने प्रथम पर्वका अतिक्रमणकर, दूसरे पर्वमें आती है तभी भगवान् आनन्दका तिरोधान करनेकेलिए ज्ञानशक्तिका आविर्भाव करते हैं जिससे यह भी बताते हैं कि काल शक्तिने प्रथम पर्वका अतिक्रमणकर, दूसरे पर्वमें प्रवेश किया है. इस कारणसे ही इस कल्पमें भगवान् जीव द्वारा(जीवरूपसे) ही भोग करते हैं.

अतः भगवान्ने पौढ़े हुए ही अपनी प्रेरित प्रामाणिक इच्छा शक्तिसे ही, लोक रचनाके साधन प्राप्त किये, न कि पृथक् भूतकाल शक्ति द्वारा प्राप्त किये, किसी समय वह काल भी भगवदिच्छासे भीतर प्रविष्ट हो, यों करें अर्थात् लोक रचनाके साधन लाके देवें, किन्तु यों अनियमितता होनेसे कालका अतिक्रम हो जावे, अतः यह सृष्टि कालाधीन नहीं होवे. इस समय अन्य शक्तियां भी जग जाती हैं, इसलिए भगवदिच्छानुसार अपनी ही कालाख्या शक्तिने लोक रचनाके साधन जिसको(भगवान्को) उपस्थित किये हैं. तात्पर्य यह है कि चित्में आते ही विषय और रचनाके साधन नजदीक स्थापित कर दिये, तब भगवान्ने अपनी देहमें आयुक्त जीवोंको देखा. वासनाके कारण विषयोंमें बद्ध थे अपने अंशसे भगवत् चिदंशमें प्रविष्ट हुए थे. अपनेमें विद्यमान अंशको उसमें प्रवेश करनेकेलिये ही उनपर दृष्टिपात किया, तब सदंशके मध्यमें सकल चिदंश पिण्डीभूत हो गया ।।१२।।

आभासार्थ: उनकी उत्पत्तिका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं :

तस्याऽर्थसूक्ष्माभिनिविष्टदृष्टेः अन्तर्गतोऽर्थो रजसा तनीयान् ।
गुणेन कालानुगतेन विद्धः सूष्यन् तदाऽभिद्यत नाभिदेशात् ।।१३ ।।

श्लोकार्थ: भगवान्ने जब सूक्ष्म अर्थमें दृष्टि की तब सूक्ष्म अर्थमें भीतर जो अर्थ था उसने रजोगुणसे सूक्ष्मरूप धारण किया, अनन्तरकाल प्राप्त गुणसे प्रेरित हो प्रसवको प्राप्त होनेसे नाभिदेश द्वारा प्रकट हुआ ।।१३ ।।

व्याख्या: उस भगवान्की जीवोंके भोगने योग्य सूक्ष्म अर्थ दृष्टि पडते ही उसके भीतर रहा हुआ अर्थ चित् एवं जडात्मक हुआ. तब वह सूक्ष्मरूप(अंकुर जैसी स्थितिवाला) हुआ. विना रूपवालेका(सत् अंशका) सूक्ष्मरूप(अंकुरवत् स्थितिवाला) बहुत विशेष(शक्तिशाली) है, वह रजोगुण द्वारा हुआ है न कि भगवद् द्वारा, यदि भगवद् द्वारा होता तो पुरुषकी तरह इसको भी भगवद्रूपता हो जाती, इसके बाद कालप्राप्त उसी रजोगुणसे प्रेरित हो प्रसवावस्थाको प्राप्त होते हुए नाभि देशको फोडकर नहीं किन्तु अतिसूक्ष्म होनेसे तथा आकाशशरीर होनेसे उस देश(नाभिसे) सजीव पदार्थ होनेसे प्रसव प्रकारसे प्रकट हुआ, यों तात्पर्य है ।।१३।।

आभासार्थ: निकले हुएके स्वरूपका निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

स पद्मकोशः सहसोदतिष्ठत् कालेन कर्मप्रतिबोधितेन ।
स्वरोचिषा तत् सलिलं विशालं विद्योतयन् अर्क इवात्मयोनिः ।।१४।।

श्लोकार्थ: आत्मा(भगवान्से उत्पन्न कमलकी कली) कर्मसे प्रतिबुद्ध काल द्वारा वा कालके कारण, अपने तेजसे उस विशाल जलको सूर्यकी तरह प्रकाशित करती हुई सहसा बाहर निकली ।।१४।।

व्याख्या: नारायण तो जलरूप है अतः उससे जलसे बने(उत्पन्न) पदार्थोंमें उत्तम पद्मकोश ही प्रकट हुआ. 'सहसा' पदसे यह सूचित किया है कि वह कमलकली विकसित होनेसे पूर्व ही निकली' तब बाहर स्थित काल और प्राणियोंके कर्म उससे सम्बन्धित हुए, पद्मकोशको उत्पत्तिसे जाग्रत कर्मने बाहर स्थित कालको उसमें(पद्मकोशमें) प्रवेश कराया, इससे यह बताया है कि आगेका कार्य केवल [१]कालने ही किया है. कालके कारण ही अपने तेजोरूप उस विशाल जलको मानो प्रकाशित करता हुआ वह पद्मकोश बाहर निकला, जनन(उत्पत्ति) तथा प्रकाशित करनेमें विलम्ब न हुआ इसलिए 'अर्क इव' सूर्यकी तरह कहकर उसका सामर्थ्य दिखाया है. पद्मकोशके उत्पत्तिका कारण भगवान् ही थे. यह समझानेकेलिये 'आत्मयोनि' विशेषण दिया है, वैसा पद्मकोश बाहर निकलाऐसा सम्बन्ध है ।।१४।।

१.कालके तीन रूप हैं, जिनमेंसे यहां प्रकाशरूप लिया है, कालके तीन रूप इसलिए हैं कि तेज, जल और अन्नके उपादान कारण हैं.

आभासार्थ: अविकसित निकला था अतः उसको विकसित करनेकेलिए

वहीं भगवान् उसमें प्रविष्ट हुए यों इस श्लोकमें कहते हैं :

तल्लोकपद्मं स उ एव विष्णुः प्रावीविशत् सर्वगुणावभासम् ।
तस्मिन् स्वयं वेदमयो विधाता स्वयम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत् ।।१५ ।।

श्लोकार्थ: सकल गुणोंके प्रकाशक उस लोकरूप कमलमें वहीं प्रविष्ट हुए अर्थात् अभिव्यक्त(प्रकट) हो गए, उसमें वेदमय एवं विधाता जिसको लोग स्वयम्भू कहते हैं वह खुद ही ब्रह्मा हुए।।१५ ।।

व्याख्या: कारणकि वहां(कमलमें) अभिव्यक्त हुए बिना पुरातन और निःसार कमल, कार्य करनेमें स्वयं या स्वतः उपयोगी नहीं हो सकेगा. इसलिये उसमें कारणरूप नारायणने प्रवेश किया अर्थात् वहां पहले ही स्थित थे किन्तु कमल द्वारा कार्य हो तदर्थ आपने अपनेको प्रकट किया. 'उ'पद कोमल सम्बोधनार्थ दिया गया है. पहले नारायणरूपसे वहां स्थित होते हुए भी उसमें प्रविष्ट होनेसे विष्णु हो गये अथवा 'विष्णु' पदसे अपना व्याप्यत्व प्रदर्शित किया है यों करनेका कारण प्रकट करते हैं कि वह कमल सकल भगवद्गुणोंको प्रकट कर्तृरूप कार्यके प्राकट्यका स्थान होनेसे भगवान्के साथ समस्तगुण प्रकाशित हो जावें, इसलिये भगवत्प्रवेश हुआ यों तात्पर्य है. ब्रह्मकल्पमें सर्वरूपत्व पहले सिद्ध ही था, उसके विकल्पोंमें सर्वरूपत्व वीर्य द्वारा था और इस पद्मकल्पमें यहां जो प्रकार बताया है तदनुसार सर्वरूपत्व है, यह ही पद्मकल्पमें ब्रह्मकल्पसे विशेषता है.

उस कमलमें समस्त जीव समष्टिरूप होकर एक रूपसे प्रकट हुए अर्थात् स्वयं भगवान् इस रूपसे प्रकटे क्योंकि इस स्वरूपमें चित्का भेद[१] नहीं वहां भी दोनों प्रकारकी(स्वरूपमें रमण और बाहर प्रपंचमें रमण) क्रीडार्थ ''वेदमयो विधाता'' कहा है. वेदमय होनेसे आत्मा(स्वरूप)में रमण कहा और विधाता होनेसे बाहर(प्रपञ्चमें) रमण बताया है. उस प्रकट स्वरूपका नाम कहते हैं 'स्वयम्भुवं', वहांके लोग उसका जनन न देखकर यह कहने लगे कि ब्रह्मा स्वयं ही प्रकट हुवे हैं इसलिये लोकोंने आपके नामकी निरुक्ति प्रसिद्धि 'स्वयम्भु' नामसे की है ।।१५।।

१.चित्का भेद नहीं, जिसका तात्पर्य है, वह स्वरूप आनन्दसे पृथक् न होनेसे उसको कोई बाध नहीं अथवा इस कल्पमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवके स्वरूपमें चैतन्य भेद न होनेसे एक ही है.

आभासार्थ: अनन्तर जो हुआ वह निम्न श्लोकमें कहते हैं :

तस्यां स चाम्भोरुहकर्णिकायाम् अवस्थितो लोकम् अपश्यमानः।
परिक्रमन् व्योम्नि विवृत्तनेत्रः चत्वारि लेभेऽनुदिशं मुखानि ।।१६ ।।

श्लोकार्थः खिली हुई उस कमलकी कलीमें स्थित उस(स्वयम्भू)ने लोकको न देखा, तब खुले हुए नेत्रोंसे आकाशमें देखनेकेलिए चारों तरफ सिरको घुमाने लगे, जिससे ४ दिशानुसार उनके ४ मुख हो गए. अतः ब्रह्मा चतुर्भुज कहलाए।।१६ ।।

व्याख्याः भगवत्प्रवेशसे विकसित(प्रफुल्लित) कमलसे अर्थात् कलीमें कमल भी नहीं था जिसका वर्णन पहले हुआ ही है और स्वयं(भगवान्) भी वहीं थे जिनका वर्णन ऊपर आगे आ गया है. विराजमान स्वयं भगवान्ने देखा तो कोई लोक देखनेमें नहीं आया क्योंकि जनरूप लोक तो आपमें(ब्रह्मारूप भगवान्में) था और लोकात्मक(भूः भुवः स्वः आदि लोक) तो कमलकलीमें थे, इनका विचार न करनेसे लोक दर्शन न हुआ, पश्चात् दूसरी तरह देखने लगे शरीर तो पहले ही उत्पन्न हो गया था जिसमें नेत्रोंको खुला रख सके थे, उन खुले हुए नेत्रोंसे जिस भागको न देखा था कदाचित् वहां लोक होंगे, इस आशयसे ऊपरके भाग आकाशमें चारों तरफ शिरको फिराने लगे कि देखूं यहां तो लोक नहीं है! चारों तरफ फिरानेका हार्द यह था कि मुझे चारों तरफ मुख होने चाहिये, उसमें सर्व गुणोंका प्रकाश तो था ही इसलिये चारों तरफ दिशानुसार ४ मुख प्राप्त किये, तब ब्रह्मा चतुर्मुख हुए यों तात्पर्य है ।।१६।।

आभासार्थः चार मुख प्राप्तकर सब दिशाओंको देखने लगे तो भी जब लोक न देख सके तब हृदयमें भय और चिन्ता उत्पन्न हुई. इस अभिप्रायको प्रकट करनेकेलिए निम्न श्लोक कहते हैं :

तस्माद् युगान्तश्वसनावघूर्ण–जलोर्मिचक्रात् सलिलाद् विरूढम्।
अपाश्रितः कञ्जमु लोकतन्त्रं नात्मानम् अद्धाऽविदद् आदिदेवः ।।१७ ।।

श्लोकार्थः युगान्तके वायुसे अवघूर्णित(हिले हुए) जलसे उत्पन्न तरंगोके चक्रवाले जलसे उंचे उठे हुए कमलपर आधारवाले आदिदेवने लोकात्मक कमल तथा अपनेको भी नहीं पहिचाना ।।१७ ।।

व्याख्याः युगान्तके वायुसे अब घूर्णित(हिले हुए) जलसे उत्पन्न तरंगोंके चक्रवाले जलसे ऊंचे उठे हुए कमलपर आधारित होना ही भयका कारण था. 'सलिल' शब्दसे इसकी नित्यता बताई है. 'जल' पद कृत्रिमता वाचक है अतः

वायुसे जल ही डोलायमान हुआ, इस कारणसे उसका चक्र सलिलमें है. इसलिये पुनरुक्ति नहीं है. 'विरूढम्' पदका भावार्थ है कि नित्य सलिलसे उत्पन्न होनेसे कमल डूबा नहीं और नालका भी भंग न हुआ. 'अपाश्रितः' पद कहनेका आशय है कि आसन स्थिर नहीं है, इसलिए ही कमल और आत्मविचारमें ब्रह्माकी बुद्धि न पसरी, लोकतन्त्रवाला कमल, देहादि सर्व सामग्रीवाले ब्रह्मा स्वयं है, आप साक्षात् आदिदेव होते हुये तथा पूर्व ज्ञानादिसे युक्त होते हुये भी न जान सके ।।१७।।

आभासार्थः तब पूर्ण वासनाके कारण उस विषयके जाननेकी इच्छा हुई, यों निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

क एष योऽसावहम् अब्जपृष्ठे एतत् कुतो वाऽब्जम् अनन्यद् अप्सु ।
अस्ति ह्यधस्ताद् इह किञ्चनैतद् अधिष्ठितं यत्र सता नु भाव्यम् ।।१८ ।।

श्लोकार्थः जो मैं यहां हूं वह मैं कौन हूं? जिस कमलके पृष्ठपर मैं हूं वह एकाकी कमल इतने अगाध जलमें कहांसे आया? यह बिना आधारके तो नहीं होगा? अवश्य इसका कोई आधार होगा, वह आधार सत् ही होना चाहिए ।।१८ ।।

स इत्थम् उद्वीक्ष्य तदब्जनाल–नाडीभिरन्तर्जलम् आविवेश ।
नाऽर्वाग्गतस् तत् खरनालनालनाभिं विचिन्वन् तद् अविन्दताऽजः ।।१९ ।।

श्लोकार्थः इस प्रकार विचारकर, उस कमलके नालके नाडियोंके छेदोंमें प्रविष्ट होकर उनने जलमें प्रवेश किया किन्तु वहां अधोभागमें इनको उसका पता न लगा, फिर कमलकी नालके आधारभूत नाभिमें ढूंढने लगे, वहां भी उनको कुछ भी देखनेमें न आया ।।१९ ।।

व्याख्याः जो यहां मैं हूं. वह मैं कौन हूं? 'एषः' पदका भावार्थ प्रगट करते हुए कहते हैं कि जिज्ञासा होनेपर अपनेको जाननेके विचारमें प्रवृत हुए, यों पहले विचार करनेके प्रारम्भमें जो विचार करनेवाला था, वह ही विचार करनेके समय पृथक् प्रतीत होने लगा, इसलिये 'एषः' पद दिया है. अपने स्वरूपके अज्ञानसे 'कः' प्रश्न किया है कि यह कौन है? जिस कमलकी पीठपर मैं बैठा हूं यह कमल कहांसे आया वा उत्पन्न हुआ? जलमें कमल तो होते ही हैं फिर प्रश्न क्यों? आश्चर्य किसलिये? इसपर कहते हैं कि 'अन्यद् अप्सु' इति. इतने अनन्त जलोंमें अकेला एक कमल कैसे? कमल स्वल्प(थोड़े) जलमें होते हैं. यहां जल

अगाध और कमल एक, यह आश्चर्य कारक है अतः प्रश्न किया है. फिर विशेष विचार आनेपर कहते हैं कि इस कमलकी कोई जड़ तो होगी ही. इस कारणसे जिसपर यह स्थित है वह सत् ही होना चाहिये क्योंकि असत् अधिष्ठान नहीं हो सकता है इसलिये इस कमलके नीचे कुछ है. 'किञ्चित्' पद किञ्चित्(कुछ)के अर्थमें है. 'एतत्कमलम् अधिष्ठितम् यत्र', इसी प्रकार अनुमानसे नैयायिकोंकी तरह ज्ञान हुआ, अनन्तर उस तर्कसहित ज्ञानसे पदार्थका निश्चयकर मैं पुरुष हूं, मेरे जन्मका आाधाररूप कमल है और केवल अचेतनसे भी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये मेरा कोई पिता है(होना चाहिये), उसको मैं इसके नीचे ढूढुंगा, यों निश्चयकर, सूक्ष्मरूप होके, उसके नाड़ीके छिद्रोंमें प्रविष्ट हो जलके भीतर प्रवेश कर गये तो भी अधोभागमें न जा सके, इसलिये कहा है 'न अर्वाग्गतः' इति. उस कमलकी नाल(नाडी) है, उससे उसकी जो मूलभूत नाभि थी उसको भी ढूंढ़ने लगे, वहां भी उसको(पिताको) न पा सके, अज होते हुए भी केवल नालको ही देख सके, जिसका कारण यह है 'अज' होते हुए भी मायाके सम्बन्धसे अब तक बहिर्मुख थे।।१८-१९।।

आभासार्थः अनन्तर जो हुआ वह नीचेके श्लोकमें कहते हैं:

तमस्यपारे विदुरात्मसर्गं विचिन्वतोऽभूत् सुमहान् त्रिणेमिः ।
यो देहभाजां भयमीरयाणः परिक्षिणोत्यायुरजस्य हेतिः ।।२० ।।

श्लोकार्थः हे विदुर! असीम अन्धकारमें अपने उत्पन्न करनेवालेको ढूंढते हुए उनको बहुत समय हो गया, जो काल(समय) देहधारियोंको भय करनेवाला एवं उनकी और अजकी भी आयुका नाश करनेवाला है।।२० ।।

व्याख्याः हे विदुर! विदुरको इस समय इस प्रकार सम्बोधन करनेका आशय यह है कि महत्पुरुषोंको भी अज्ञान होता है, यों सूचित करना है. 'अपारे तमसि' पदसे यह जताया है कि गाढ़ अन्धकारके कारण प्रकाश न होनेसे एवं दूर होनेसे समझ न पाये, इसलिये अपने पिताको ढूंढ़ते हुए बहुत समय बीत गया. यहां कालकेलिये 'त्रिणेमिः' पद देनेका आशय यह है कि कालचक्रकी तरह शीघ्र फिरता(चलता) ही रहता है. उसके शीत, ताप और वर्षा ये तीन चक्र हैं. ब्रह्माको ढूंढ़नेमें कितना समय हो गया? इसपर कहते हैं कि, 'यो देहभाजां' इत्यादि. वह काल सौ वर्षका है क्योंकि श्रुतिने "**शतायुर्वै पुरुषः**", पुरुषकी आयु सौ वर्षकी कही है. सौ वर्षके बाद देहधारियोंको अवश्य कालका भय होता है क्योंकि काल

ही मारनेवाला है, उसमें कारण कहते हैं, 'अजस्यापि आयुः हेतिः', कालचक्र जब ब्रह्माके आयुका भी नाशकर्ता है तब अन्य देहधारियोंको भय पैदा करे इसमें कौन सा सन्देह है यों तात्पर्य है ।।२०।।

आभासार्थः अपना भी निरर्थक मरण होगा इस आशंकासे भयभीत हो वहांसे लौट आए यह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

ततो निवृत्त्याऽप्रतिलब्धकामः स्वधिष्ण्यम् आसाद्य पुनः स देवः ।
शनैर्जितश्वासनिवृत्तचित्तो न्यषीदद् आरूढसमाधियोगः ।।२१ ।।

श्लोकार्थः जब कार्य सिद्धि न हुई तब अपने स्थानपर आके वह देव धीरे-धीरे श्वासोंको रोककर चित्तको शान्तकर समाधि पर्यन्त योग सिद्ध्यर्थ आसनपर विराजमान हो गया ।२१ ।।

व्याख्याः कार्य सिद्धि न होनेसे ही वहांसे लौटकर अपने स्थान(आसन) पर ज्ञान प्राप्तकर देव हुआ. पश्चात् धीरे-धीरे श्वासोंको रोकनेसे शान्त चित्तवाला बनकर उस पर(आसनपर) बैठ गया. अनन्तर समाधि पर्यन्त योगका आचरण करने लगा. योगसे चित्तको एकाग्रकर उसी ही अर्थ(विषय)का चिन्तन करने लगा, यों आशय है ।।२१।।

आभासार्थः इस प्रकारका योग भी बहुत काल तक किया, यों निम्न श्लोकसे कहते हैं :

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाऽभि-प्रवृद्धयोगेन विरूढबोधः ।
स्वयं तदन्तर्हृदयेऽवभातम् अपश्यताऽपश्यत यन्न पूर्वम् ।।२२ ।।

श्लोकार्थः पुरुषकी आयु जितने काल पर्यन्त योग साधनासे बढे हुए योग द्वारा ब्रह्मा दृढ ज्ञानी हो गए, जिससे उनने(ब्रह्माने) पहले कभी नहीं देखा ऐसे भगवान्के स्वरूपको बिना प्रयत्नके अपने हृदयमें देखा ।।२२ ।।

व्याख्याः पुरुषकी आयु जितने समय तक योग साधना करनेमें बढ़े हुए योग द्वारा ब्रह्माका ज्ञान विशेष प्रकारसे दृढ़ हो गया अर्थात् वह पूर्ण ज्ञानी हो गये. तम नष्ट हो गया, जिससे उनने बिना प्रयत्नके स्वयं ही भगवान्को देखा. 'स्वयं' पद देनेका तात्पर्य है कि पहले प्रयत्न करनेपर भी न देखा किन्तु अब चित्त शुद्ध होनेपर भगवान्ने माया जवनिका(पर्दे) हटाकर स्वयं ब्रह्माके हृदयमें प्रकाशित हुये. पहले जो मनमें मूर्तिकी कल्पना की जाती थी, उस मानसकल्पित मूर्तिसे इस स्वरूपकी विलक्षणता प्रकट करनेकेलिए कहते हैं कि 'यद् न पूर्वम्' अर्थात् ऐसा स्वरूप कभी

भी ब्रह्माने नहीं देखा था, यद्यपि ब्रह्मकल्प हृदयमें भगवान्‌के दर्शन किये थे, वह वैकुण्ठ स्थित भगवान् थे. प्रत्येक कल्पमें भगवान्‌के ब्रह्माको दर्शन होते हैं तब सृष्टि कर सकते हैं अन्यथा अर्थात् यदि भगवान्‌के दर्शन न होते तो सृष्टि नहीं कर सकते. प्रत्येक कल्पमें भगवत् दर्शन किये तो भी इस प्रकारके विलक्षण मनोहर स्वरूपके दर्शन नहीं किये थे, कारण कि, जब भगवान् अपने हृदयमें प्रकाशित होते हों(दर्शन देते हों) तो उस भगवान्‌के नाभिकमलमें स्वयं(ब्रह्मा) बैठ नहीं सकते, यदि वह भगवान् नालमें नीचे रहते तो, वह नालके छेदन बिना प्रभु ब्रह्माके भीतर प्रविष्ट न हो सकते, यदि भगवान् प्रसन्न होकर ब्रह्माके हृदयमें पधारें तो फिर शेषपर शयन न हो सके, अतः जो आगे कभी भी न देखा वह स्वरूप देखा, यों कहना युक्त[१] ही है. भगवान्‌के बहुत प्रकारके अन्य स्वरूप तो देखे थे किन्तु यह स्वरूप नहीं देखा था, यों तात्पर्य है ।।२२।।

१.भगवत्स्वरूपके दर्शनकी अपूर्वता वर्णन करनेसे, उस समय जो ब्रह्माको सन्देह था उसके मिटानेसे या मिट जानेसे भगवान्‌की जीवसे विलक्षणता है, यह बताया है(समझाया है)-प्रकाश.

आभासार्थः यह अपूर्व भगवत्स्वरूप सृष्टिके बनानेमें उपयोगी है, उसका नव श्लोकोंसे वर्णन करते हैं, तथा कारिकाओंसे आचार्यश्री ११ श्लोकों का तात्पर्य समझाते हैं :

अवस्थाम् उपमानं च स्वरूपं च त्रिभिः क्रमात् ।
शास्त्रप्रत्यक्षभेदेन फलसाधनमेव च ।।कारि.१।।

कारिकार्थः तीन श्लोकोंसे क्रमपूर्वक पहले(२३)में अवस्था, दूसरे (२४)में उपमान और तीसरे(२५)में स्वरूपका वर्णन किया है. शास्त्रानुसार भजन करनेवालोंका फल और साधन २६वें श्लोकमें कहा है और प्रत्यक्ष भजन करनेवालोंका फल और साधन २७वें श्लोकमें कहा है ।।१ ।।

सर्वतत्त्वाश्रयेणाऽपि सर्वसौन्दर्यमेव च ।
एवं षड्गुणमाहात्म्यम् एकरूपेण वर्णितम् ।।कारि.२।।

कारिकार्थः सकल तत्त्वोंके आश्रयसे भी सर्व प्रकारके सौंदर्यका वर्णन किया है इसी तरह एक ही स्वरूपसे षड्(६) गुणोंका माहात्म्य कहा है ।।२ ।।

पुनर्गुणानां प्राधान्याद् उपमारूपतत्त्वभिः ।
तस्य ब्रह्मत्वसंसिद्ध्यै तज्ज्ञाने सर्वबोधनम् ।

ततो युक्तं यदेवात्र तदन्त्येन निरूप्यते ।।कारि.३।।

कारिकार्थ: सृष्टिमें गुणोंकी प्रधानता है, जिससे फिर उपमा, रूप और तत्त्वोंको निरूपणकर उसके ब्रह्मत्वकी सिद्धि की है, उसका ब्रह्मत्व जान लेनेसे ब्रह्माको श्रुत्यनुसार सर्व ज्ञान हो गया, अनन्तर इस विषयमें जो करना योग्य है वह इस अध्यायके अन्तिम(३३)वें श्लोकमें निरूपित है ।।३ ।।

आभासार्थ: तदनुसार जिस स्वरूपका दर्शन किया उसकी अवस्थाका निम्न २३वें श्लोकमें वर्णन करते हैं :

मृणालगौरायतशेषभोग–पर्यङ्क एकं पुरुषं शयानम् ।
फणातपत्रायुतमूर्धरत्न–द्युभिर्हतध्वान्तयुगान्ततोये ।।२३ ।।

श्लोकार्थ: ब्रह्माने देखा कि फेन(फन)रूप पृथक् –पृथक् हुए मस्तकों की मणियोंके प्रकाशसे युगान्तके जलका अन्धकार नाश हो गया है. जिससे वह जल प्रकाशित हो रहा है, ऐसे जलसे कमलनालके समान श्वेत और लम्बी शेष रूप शय्यापर एक पुरुष पौढे हुए हैं ।।२३ ।।

व्याख्या: कमलके दण्ड समान श्वेत और बड़ी शेषकी देहरूप शय्या पर एक ही पुरुष पौढ़े हुए हैं. यह पुरुष सर्पकी शय्यापर शयन कर रहे हैं, यह महान् आश्चर्य है, किन्तु फनरूप पृथक्–पृथक् छज्जोंमें जिसने अपना एक ही मस्तक धरा है. उस मस्तकमें लगे हुए रत्नोंकी द्युति(प्रकाश)से जिस प्रलय जलका अन्धकार नष्ट हो गया, उसमें शेषशय्यापर पौढ़े हुए प्रभुके स्पष्ट दर्शन किये.

उस दोषके जो फन थे वे ही विकसित(खुले हुए) आतपत्र हो गये थे और फिर वे कमलपत्रोंकी तरह परस्पर मिले हुए न थे, वहां फनके नीचेके भागमें देवतापनकी सिद्धिकेलिए सर्वत्र मस्तक है, फन तो शोभाकेलिए हैं अथवा वे मस्तक अलग–अलग थे, उन सब मस्तकोंपर रत्न जड़े हुए थे, उनसे ही प्रलय समुद्रका अन्धकार नाश हो गया था, जिससे भगवान् स्पष्ट दर्शन दे रहे थे.

ब्रह्माकी बुद्धि(ज्ञान) केवल बाहर प्रकट हुई थी, भीतर नहीं, इसलिए भगवान् भी बाहर ही प्रकट हुए क्योंकि यह अध्याय बुद्धिका निरूपण करनेवाला है, ब्रह्माको अब तक भगवान्के अलौकिक प्रभावका ज्ञान नहीं हुआ था जिससे उसने समझा था कि यह अन्धकारकी निवृत्ति भगवान्के तेजसे नहीं हुई है किन्तु ब्रह्माके योग द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह आन्तर ज्ञान न होनेसे ब्रह्माने समझा कि अन्धकारकी निवृत्ति शेषके मस्तककी मणियोंसे ही हुई है ।।२३।।

आभासार्थः ब्रह्माकी बुद्धिमें भगवान् लोक जैसे भासने लगे अतः भगवान्की उपमा भी लौकिकरूपसे निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

प्रेक्षां क्षिपन्तं हरितोपलाद्रेः सन्ध्याभ्रनीवेरुरुरुक्ममूर्ध्नः ।
रत्नोदधारौषधिसौमनस्यवनस्रजो वेणुभुजाङ्घ्रिपाङ्घ्रेः ।।२४।।

श्लोकार्थः संध्याके बादलोंके समान पीले व लाल वस्त्र धारी मस्तकपर सुवर्णके मुकुटोंवाले अनेक प्रकारके रत्न, जलकी धाराएं, औषधियां, पुष्प समूह एवं वनमाला धारी, बांसरूप भुजाएं, वृक्षरूप चरणवाले, मरकत मणियोंके पर्वतकी दृष्टिको भी तिरस्कृत करनेवाले ऐसे भगवान् ब्रह्माकी बुद्धिमें आए ।।२४।।

व्याख्याः किस प्रकारके भगवान्के दर्शन किये? ऐसी जाननेकी इच्छा है जिसका वर्णन श्लोकोंमें है. ब्रह्माके ध्यानमें आया कि भगवान् मरकत मणियोंके पर्वतकी दृष्टिका तिरस्कार(लज्जित) कर रहे हैं. क्षीर समुद्रमें पौढ़े हुए भगवान्को यों समझा कि मानो मरकत मणियोंका पर्वत, समुद्रमें पड़ा है, इस कारणसे ही शेषको कमलकी दाण्डीकी उपमा दी है. क्योंकि श्वेत स्वरूपमें शीलता, विकास और कान्ति जैसे रहती है वैसे कमलके दांडोंमें रहती है. 'प्रेक्षा' पदका अर्थ यहां दृष्टि है, समान ही, समान विषयके सम्बन्धवाली दृष्टिको दूर करता है यों कहकर बताया है कि भगवान्ने भगवत्पनसे इस दृष्टिको दूर नहीं किया है.

वहां वो कहना चाहिए कि भगवान् सर्वकी दृष्टिकी उपेक्षा करते हैं. किन्तु ब्रह्माकी बुद्धिमें यों ही आया कि भगवान् मरकत मणियोंकी दृष्टिकी उपेक्षा करते हैं. यह इसकेलिए समझना उचित ही है कारण कि वह अलङ्कार रहित था और भगवान् अलङ्कारोंसे युक्त थे. भगवान् अलंकृत थे इसको समझानेकेलिए कहते हैं कि 'सन्ध्याभ्रनीवेः'. सन्ध्या समयके बादलोंके समान पीले और लाल वस्त्र जिनकी कटिमें बंधा हुआ है और सुवर्णके मुकुट जिनके मस्तकपर धारण किये हुए हैं और पद्मरागादि रत्न, जल प्रवाह, वनस्थ औषधियां जो रात्रिमें चमकती हैं, पुष्पसमूह और मालाएं धारण की हैं. पांच वर्णवाली भगवान्की मालाएं हैं, जैसे इन्द्रधनुषमें विभिन्न रंग होते हैं वैसे रत्नोंकी माला आरक्त थी, जलप्रवाह कहनेका भावार्थ है, मोतियोंकी माला जैसी माला(श्वेतवर्ण) औषधियों की माला, अलौकिक दिव्यरत्न कान्तिवाली मालाके समान माला अथवा दीपके समान मणिमाला, पुष्पमाला और तुलसीमाला, इस प्रकार पांच मालाएं भगवान्ने

पहनी हैं, यों ब्रह्माने देखा है. वेणु(बांस) ही भुजाएं थीं, वृक्ष ही चरण थे, वैसा ही बांसरूप व भुजाओंवाला तथा वृक्षरूप चरणोंवाला वह पर्वत भी है ।।२४।।

आभासार्थ: निम्न श्लोकसे स्वरूपका वर्णन करते हैं:

आयामतो विस्तरतः स्वमान–देहेन लोकत्रयसङ्ग्रहेण ।
विचित्रदिव्याभरणांशुकानां कृतश्रियाऽपाश्रितवेषदेहम् ।।२५ ।।

श्लोकार्थ: तीन लोक जिसमें आ जावें ऐसे लम्बे और विशाल शरीरवाले, विचित्र दिव्य आभूषण और वस्त्रोंकी श्री(शोभा)ने जिस देहका आश्रय लिया है, ऐसे प्रभुके ब्रह्माने दर्शन किये ।।२५ ।।

व्याख्या: 'आयाम' अर्थात् लम्बाई. 'विस्तार' विशालता, जिसमें तीन ही लोक रह सकें ऐसा प्रभुके शरीरका मान(माप) था, जिसकी दीर्घता एवं विस्तारमें तीन ही लोक आ जावें, ऐसी देह उपलक्षित भगवान्के दर्शन किये. फिर विशेषमें विचित्र दिव्य आभूषण तथा वस्त्रोंकी शोभाने जिस देहका आश्रय किया है जिससे सर्वत्र तेजके पुंजके समान परिवर्तित वेष तथा आकृति विशेषवाली देहवाले प्रभुके दर्शन किये.

इसको विशेष स्पष्टकर समझाते हैं कि भगवान्का स्वरूप लौकिक नहीं है किन्तु सच्चिदानन्दरूप है जिसके समर्थनमें कहा है कि उस शरीरमें तीन लोक समा जाते हैं. लौकिक शरीर होता तो तीन लोक समा नहीं सकते, आभूषणोंसे जो शोभा हो रही थी वह भगवान्के वेषके ही आश्रयसे होती थी न कि आभरणोंसे. भगवान्के वेषमें शोभा होती थी, आभरणोंका आभरणत्व भगवद्धर्म है ।।२५।।

आभासार्थ: भगवत्स्वरूपका दर्शन न करते अर्थात् परोक्षमें जो पुरुष भक्तिमार्गानुसार भजन करते हैं उनको जो फलदान होता है वह भगवदुपयोगी न होनेसे ब्रह्म धर्म ही है, यों श्लोकमें कहते हैं :

पुंसां स्वकामाय विविक्तमार्गैः अभ्यर्चतां कामदुघाङ्घ्रिपद्मम् ।
प्रदर्शयन्तं कृपया नखेन्दु–मयूखभिन्नाङ्गुलिचारुपत्रम् ।।२६ ।।

श्लोकार्थ: अपनी कामनाओंकी सिद्धिकेलिए पृथक्–पृथक् मार्गोंसे पूजा करनेवाले पुरुषोंको, कृपासे नखरूपचन्द्रकी किरणोंसे पृथक् देखनेमें आनेवाली, अङ्गुलीरूप सुन्दर पत्रधारी और कामनाओंका दान करनेवाले चरण कमल दिखाते हुए भगवान्ने दर्शन दिए ।।२६ ।।

व्याख्या: अपनी अभिलषित अर्थकी सिद्धिकेलिए एक–दूसरेसे जुड़े

मार्गोंसे अथवा पारलौकिक तरीकोंसे अथवा एक ही अनन्याश्रय मार्गानुसार पूजन करनेवाले पुरुषोंकी कामनाओंको देनेवाले चरणकमलको उनकेलिए ही दर्शन दिये. वह चरणकमल कैसा है? उसके उत्तरमें कहते हैं कि जिस चरणकमलके नख ही चन्द्र हैं उनकी किरणोंसे सकल देहोंसे विलक्षण और सुन्दर पत्ररूप अंगुलियां जिसकी हैं, वैसा चरणकमल है, पादको पद्म कहनेसे यह सूचित किया है कि यों तो सदैव प्रफुल्लित रहता है किन्तु जैसे कमलपत्र चन्द्रमाकी किरणोंसे संकुचित हो जाता है और वह संकुचितता भी तिर्यक् होती है वैसे ही यहां भी नखरूप चन्द्रकी किरणोंसे चन्द्रकी रक्षा करनेकेलिए प्रत्येक पत्र संकुचित हो गये थे केवल अग्रभागसे संकुचित नहीं हुआ था.

यहां चन्द्र भगवत्स्वरूप होनेसे अलौकिक है. अतः अलौकिक हृदयान्धकारको भी नाश करनेमें समर्थ होनेसे उसका नाश करता है. इससे चरणकी पद्मताका कारण भी बताया है, चरणकी अंगुलियां सकल देहोंसे विलक्षण हैं यों कहनेका भावार्थ प्रकट करते हैं कि भक्तिमार्ग समस्त मार्गोंसे उत्तम है, भक्ति ही स्वतन्त्र फलरूपा है अतः भगवान् स्वयं(खुद) फल न देकर पूजा करनेवालोंकी कामना पूर्ण करनेकेलिए और उनको कष्ट न हो तदर्थ उनको उपासना करने योग्य चरण ही दिखाते हैं ।।२६।।

आभासार्थः इस प्रकार परोक्षतामें मार्गानुसार भजन करनेवालोंका फल कहकर अब इस निम्न श्लोकमें प्रत्यक्षमें भजन करनेवालोंका फल कहते हैं:

मुखेन लोकार्तिहरस्मितेन परिस्फुरत् कुण्डलमण्डितेन।
शोणायितेनाऽधरबिम्बभासा प्रत्यर्हयन्तं सुनसेन सुभ्रवा ।।२७।।

श्लोकार्थः लोकोंकी आर्त्ति(अन्तःतापादि दुःखों)को हरण करनेवाली मुस्कानवाले, चारों तरफ प्रकाश करनेवाले, कुण्डलोंसे शोभित अधर बिम्ब कान्तिसे कश्चित् लालसावाले, सुन्दर नासिकावाले एवं सुन्दर भुवोंवाले मुखसे भक्तकी पूजा करते हुए भगवान्के दर्शन किये ।।२७।।

व्याख्याः भगवान्ने गीतामें कहा है "**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**" अर्थात् जो भक्त मुझे जिस तरह भजते हैं मैं भी उनका वैसे ही भजन करता हूं. भगवान् पूजा करनेवालोंकी कैसे पूजा करते हैं? सेवा करनेवाले तो अपना सर्वस्व अर्पणकर सेवा करते हैं, इसपर कहते हैं कि 'मुखेन प्रत्यर्हयन्तं', भगवान् अपने मुखारविन्दसे पूजन कर रहे हैं. प्रभुके इस प्रकारके दर्शन किये.

भगवान्में जो छः गुण हैं उनसे युक्त मुख द्वारा भक्तोंको पूजते हैं. मुखसे पूजा करते हुए मुखास्थित अपने सर्व ही धर्मोंको उन सेवकोंमें पधारते हैं, जिससे अन्तमें सर्व दुर्लभ अपने(स्वयं)को प्रकटकर दर्शन देते हैं.

मुखमें वे ६ भगवद्धर्म हैं. इनकी सिद्धि 'लोकार्तिहर' आदि विशेषणोंसे कहते हैं. भगवान् इन ६ गुणोंमेंसे दो गुणों द्वारा सर्वसाधारणपर उपकार करते हैं और चार गुणोंसे भक्तोंपर उपकार करते हैं:

जिस मुखमें लोगोंकी आर्ति हरनेवाला मन्दहास है, यह हास, जनोंको उत्साह करनेवाली भगवान्की माया है. यह माया भगवान्ने मुखमें इसलिए रखी है कि मैं सृष्टिकर्ता भगवान् ब्रह्माण्ड स्थित जीवोंको अपनी इच्छासे सर्वथा कार्यमें लगाना चाहता हूं किन्तु वे जीव प्रमाण बलका आश्रय लेकर अन्यथा(मेरी इच्छाके विपरीत) करनेका प्रयत्न करते हैं, जिससे वृथा क्लेश पायेंगे(पाते हैं) अतः उनको क्लेश न हो तदर्थ ही यह हास मुखमें रखा है जिस हाससे मोहित होके मुझमें अनुरक्त हो विपरीतमार्गमें प्रवृत्त होनेसे बच जावें अन्यथा यदि प्रमाणबलसे उत्पथमें फंसकर मूर्खताको प्राप्त कर लेंगे तो पारलौकिक दुःख भोगेंगे. श्लोकमें जो 'लोक' शब्द दिया है उसका आशय है सत् जीव(दैवी जीव).

चारों तरफ प्रकाशमान कुण्डलोंसे मुख सुशोभित हो रहा था. (१-२)ये दो कुण्डल, साङ्ख्य और योगके रूप थे, जिनका चारों तरफ स्फुरण ऐहिक(इस लोक) और आमुष्मिक(पारलौकिक) कार्य सिद्धिकेलिए है. उससे वैदिक मार्गसे भी जो क्लेश होता है वह(दुःख) योगसे(योगरूप कुण्डल) दूर किया जाता है और साङ्ख्यरूप कुण्डल द्वारा स्वरूपानन्दका अनुभव प्राप्त होता है अथवा यह विपरीत है अर्थात् वैदिकमार्गसे प्राप्त क्लेश, योग एवं सांख्य दोनोंसे दूर होता है एवं स्वरूपानन्दका अनुभव भी दोनों(योग व साङ्ख्य)से मिलता है.

अतः प्रभु अनिष्टका निवारण एवं इष्टका प्रतिपादन करते हुए सेवकोंका प्रतिपूजन करते हैं, यह प्रतिपूजन भक्तोंकेलिए विशेष पुरुषार्थ नहीं है.

(३)'शोणायितेन', भगवन्मुख किञ्चित् गौर अर्थात् पीताम्बर तुल्य है जिससे भक्तोंको भक्तिका दान करते हैं, किन्तु और विशेष कहते हैं कि (४)'अधरबिम्बभासा', लोभात्मक अधरका जो बिम्ब(बिम्ब सदृश भगवत् स्वरूप) उसकी कान्ति जिस मुखमें रही है, उस मुखके अधर द्वारा वह भगवद् भक्तोंको देते हैं, यों प्रतिपूजन करते हुए, स्वरूपकी कान्ति तथा उसका

साक्षात्कार भक्तको मिल जाता है, इसी प्रकार भक्तिदानके बाद उनको अपना स्वरूप जो सर्वदुर्लभ है उनका दर्शन कराते हैं.

(५-६)'सुनसेन सुभ्रवा', जिस मुखमें सुन्दर नासिका तथा सुन्दर भ्रुवें (भोहें) हैं. नासिकाएं अश्विनी कुमारके रूप हैं. 'भ्रू' कालरूप है, अश्विनीकुमार रोगकी निवृत्ति करते हैं और काल, कालकी निवृत्ति करता है अर्थात् भगवान् इनके द्वारा ही रोग और कालकी निवृत्ति करते हैं. इस तरह प्रत्यक्ष भजनमें भगवान् सर्व पुरुषार्थ होते हैं यों निरूपण किया ।।२७।।

आभासार्थ: समस्त तत्त्वोंका आश्रय होते हुए भी भगवान्में सर्वसे विशेष स्वतः सौन्दर्य है जिसका निम्न श्लोकमें निरूपण करते हैं :

कदम्ब-किञ्जल्क-पिशङ्गवाससा स्वलंकृतं मेखलया नितम्बे ।
हारेण चाऽनन्तधनेन वत्स-श्रीवत्सवक्षस्थलवल्लभेन ।।२८ ।।

श्लोकार्थ: कदम्ब वृक्षकी केसर सम वस्त्र(पीताम्बर)से, नितम्बपर मेखलासे, वक्षःस्थलपर श्रीवत्सके प्रिय चिह्नसे और कीमती हारसे, सुन्दर रीतिसे अलंकृत भगवान्के दर्शन किये ।।२८ ।।

व्याख्या: जैसे कदम्बमें केसर है वैसे ही पीताम्बरमें रेखाके आकार एवं मोती प्रतीत होते हैं. उस पीताम्बरसे अर्थात् सर्व तत्त्व भक्तिवाले मुक्तजीवोंसे भगवान् आच्छन्न(घिरे हुए) थे. यों भगवान्का गोप्यरूप कहा, उससे ही वहां शोभा थी, न कि रूपसे, अतएव कहा है कि पीताम्बरसे सुन्दर रीतिसे अलंकृत थे, यों कहनेका भावार्थ यह है कि भगवान्की शोभा भक्तियुक्त, मुक्त जीवोंसे सम्पन्न होनेसे ही है, और वह पीताम्बर वेदरूप है, उससे(वेदरूपसे) भगवान्का आच्छादन तो स्पष्ट ही है किन्तु मेखलासे नितम्ब प्रदेश सुष्ठु (सुन्दर) अलंकृत है, वह मेखला(कंदोरा या करणगती) गुणमयी है, जिससे पृथ्वीपर भगवान्की कीर्ति एवं गुणोंका वर्णन प्रकट होता है. वह(मेखला) स्वयं भगवान्का कार्य कर रही है, इसलिए कार्यार्थ भी भगवान्के अन्वेषणकी आवश्यकता नहीं पड़ती है.

यदि क्वचित् प्रदेशमें भगवद्रूपके प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हों तो भी वह सौन्दर्यनिधि है किन्तु उससे भी प्रकटस्वरूप विशेष सुन्दरतावाला है जिसका उत्तरार्ध(हारेण...)से कहते(समझते) हैं. सर्व प्रकारके रत्नोंसे बना हुआ हार बहुत ही मूल्यवाला है, चिह्नरूप जो यह श्रीवत्स(दाहिनी तरफ ढलती रोमोंकी रेखा) उससे युक्त भगवान्का वक्षस्थल ही सकल सुन्दरताका आश्रयस्थान है

अथवा सर्वभूतोंका आश्रयरूप है, उस वक्षस्थलपर धारण किये हुए प्रिय हारसे (सुन्दररीतिसे) अलंकृत हैं ऐसे भगवान्के दर्शन किये. एक देशमें नव गुणोंसे (हारके नव सूत्रोंसे) अथवा हारोंके समूहसे अर्थात् भृगु आदि मुक्त जीवोंके समूहसे अलङ्कृत प्रभुके दर्शन किये. अनन्त प्रभु ही, मुक्तजीवोंका धन है, उन मुक्त पुरुषोंको अधिकार प्राप्तिके अनन्तर ही स्वरूपकी प्राप्ति होती है अतः सकल सौंदर्यनिधि भगवत्स्वरूपके साक्षाद् प्रकट दर्शन होते हैं.

अनन्तका अर्थ यहां काल है, श्रीवत्सको जो चिह्न कहा है वह केवल लक्षणताका ज्ञापक है. वास्तवमें इससे उसकी ब्रह्मता निरूपण की है, हालांकि श्रीवत्सको भगवान्का चिह्नपन स्वभावसे ही है, तो भी वह प्रिय है इसलिए ऐसा कहा है. कारण कि इस श्रीवत्समें भृगु आदि मुक्तजीव रहते हैं. नाममें श्रीका प्रियत्व प्रतीत होता है, उससे भी हारका प्रियत्व प्रसिद्ध करनेकेलिए 'वल्लभ' पद दिया है अर्थात् हारको वल्लभ कहा है. इस प्रकार दोनों प्रकारके(वैदिकमार्ग और भक्तिमार्गके) तत्त्वोंसे भगवान्की सुन्दरताका निरूपण किया है ।।२८।।

आभासार्थ: निम्न श्लोकमें कल्पवृक्षरूपसे भगवान्का वर्णन करते हैं कि जैसे कल्पवृक्ष सकल पुरुषार्थ सिद्ध करनेसे सर्व प्रकारका आश्रय है वैसे भगवान् भी सर्व पुरुषार्थ प्राप्ति करानेमें उपयोगी होनेसे सर्वका आश्रय करने योग्य हैं:

परार्घ्य–केयूर–मणिप्रवेक–पर्यस्तदोर्दण्ड–सहस्र–शाखम् ।
अव्यक्तमूलं भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रम् अहीन्द्रभोगैर् अधिवीतवल्शम् ।।२९ ।।

श्लोकार्थ: बाजूबन्दमें जडी हुई बहुत मूल्यवान् उत्तम मणियोंसे ढके हुए हस्तरूप दण्डोंसे एक सहस्र शाखावाले, जिसके मूलका पता नहीं ऐसे अथवा प्रकृतिका भी जो स्वयं मूल है ऐसे शेषकी फणोंने जिसके स्कन्धका स्पर्श किया है ऐसे भुवनरूप उत्तमवृक्ष भगवान्के दर्शन किये हैं ।।२९ ।।

व्याख्या: बाजूबन्दसे जड़ित बहुमूल्यवान् मणियोंसे वेष्टित हस्तरूप दण्डोंसे जिसकी एक सहस्र शाखाएं हुई हैं ऐसे भगवान्के उस ही स्वरूपको पौढ़ा हुआ देखा, ब्रह्मा फिर उस स्वरूपको ध्यानपूर्वक चारों तरफ जब देखने लगा, तब भगवान् उस अवस्थाका परित्यागकर ब्रह्माको रूपान्तरसे दर्शन देने लगे. "**वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति एकः तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्**" इस श्रुतिमें कहे हुए रूपको मैं ब्रह्म हूं, यों ज्ञान करानेकेलिए दिखाया, जिसका अब वर्णन करते हैं. वृक्ष होते हुए भी यह वृक्ष लौकिक नहीं है किन्तु अलौकिक वृक्ष है.

कङ्कणोंके ऊपर जो हस्तका आभरण धारण किया जाता है उसको 'केयूर' कहते हैं लोकभाषामें उसको बाजूबन्द कहते हैं उससे बाहू अलंकृत थे, बाजूबन्दकी मणियोंका मुख्यरूपसे कीर्तन करनेका कारण यह है कि उनका तेज ही समग्र हस्तपर फैल रहा है समस्त वृक्ष एक सौ शाखावाले होते हैं किन्तु यह अलौकिक वृक्ष है इसलिए यह एक हजार शाखावाला कहा है, इस विशेषणसे यह भी सूचित किया है कि यह 'प्रमाणरूप' है. यह भगवान् पौढ़े हुए नहीं किन्तु वृक्षके समान होनेसे उठे हुए हैं. हस्त अलंकृत होनेसे यह सूचित करते हैं कि हम अनेक प्रकारके कार्य करनेमें समर्थ हैं. इस कारणसे इस रूपका सृष्टिकी रचनामें उपयोग है, बाहु, मर्यादारूप होनेसे नियामक है. अतः इसका सूचन करनेकेलिए इनको दण्डत्वकी पदवी दी है, इस स्वरूपमें जो आभरणरूपसे देखे जाते हैं वे 'कर्म' हैं उनका नित्य उत्कृष्टपन तथा अमूल्यपन द्रष्टाके स्वतः ही ध्यानमें आ जाते हैं क्योंकि वे(कर्म) उत्तम हैं यदि यों न होवें तो दानमें मिले हुए पदार्थसे खरीद किया हुआ ही उत्तम कहा जाये. इस प्रकार बहुत शाखाओंके होनेसे उसका वृक्षत्व निरूपणकर अब मूलसे उसकी वृक्षता निरुपण करते हैं ,'अव्यक्तमूलम्' इति. इससे भी आगे भगवान्की खोज नहीं करनी चाहिए क्योंकि जड(मूल)का पता नहीं, उसकी खोज करनी व्यर्थ है कारण कि अप्रकट भगवान् ही प्रकट हुए हैं यों कहा जाता है.[१]

कितने ही यहां 'अव्यक्त' पदका अर्थ प्रकृति करते हैं यदि अव्यक्तका अर्थ प्रकृति किया जावे तो 'अव्यक्तमूलम्'का अर्थ यों करना चाहिये कि 'अव्यक्तस्य मूलं भगवान्', प्रकृतिका मूल भगवान् हैं अर्थात् प्रकृति भगवान्से उत्पन्न हुई है जिससे भी भगवान्का अन्वेषण इससे आगे करना भी व्यर्थ है.

'भुवनाङ्घ्रिपेन्द्रम्' इति. भुव वही वृक्ष हैं उनमें यह(भगवान्) श्रेष्ठ वृक्ष है, इस वृक्षरूप पुरुषसे ही प्रत्येक वृक्षमें पृथक्-पृथक् कल्प होते हैं. यह वेदके उत्तरकाण्डमें मर्यादा है. 'अव्यक्तमूलं' पदसे प्रमाण वर्णन किया है. दूसरा 'प्रमेय' कहा है और तीसरा फल कहा है १.कल्पवृक्षत्व २.जगत्कर्तृत्व ३.दुर्ज्ञेयत्व (कठिनतासे समझमें आवे ऐसा रूप) निरूपण किया है.[२] 'अहीन्द्रभोगैः' (शेषफणैः) शेषके फणोंसे स्पष्ट स्कन्धवाले हैं. चन्दन वृक्षपर सर्प रहते हैं वैसे यहां भी शाखा और स्कन्धोंपर ही फणें हैं न कि ब्रह्मपर ।।२९।।

१.जिसका भावार्थ है कि भगवान् तो सदैव प्रकट ही हैं वह कैसे प्रकट हुए हैं कहा

जायेगा केवल स्वेच्छासे दर्शन नहीं देते हैं जब इच्छा होती है दर्शन दूं तब दर्शन देते हैं दर्शन होनेपर कहा जाता है कि प्रभु प्रकटे हैं.(अनुवादक) २.प्रत्येक कल्पमें अनेक तरहके ब्रह्माण्डरूप वृक्षोंके करनेसे आप उस रूपके कारण भी दुर्ज्ञेय हैं.

आभासार्थः इस प्रकार उठे हुए भगवान्का निरूपणकर उपविष्ट प्रभुका वर्णन निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं:

चराचरौको भगवन्महीध्रम् अहीन्द्रबन्धुं सलिलोपगूढम्।
किरीटसाहस्रहिरण्यशृङ्गम् आविर्भवत् कौस्तुभरत्नगर्भम् ।।३० ।।

श्लोकार्थः चल और अचल पदार्थोंका आश्रयस्थान, उत्तम सर्पके बन्धु जलमें गुप्त(छिपा हुआ) एक सहस्रमुकुटरूप शिखरवाले, कौस्तुभमणि जिसमेंसे उत्पन्न होती है ऐसे भगवत् रूप पर्वतको देखा ।।३० ।।

व्याख्याः बैठे हुए पदार्थोंमें पर्वत स्थिर है अर्थात् सदैव बैठे हुए रूपसे दर्शन देता है इसलिये यह स्थावर और जङ्गम दोनों पदार्थोंका आश्रय होता है, भगवान् ही पर्वतरूप हैं, कारण कि भूमिको जैसे पर्वत धारण करता है वैसे प्रभु भी धारण करते हैं अतः सर्वोत्तम(वासुकि)के बन्धु हैं अथवा अहीन्द्र ही(वासुकि ही) बन्धु(बन्धनरूप जिसका मन्दराचलका) है. इससे भगवान्का मन्दराचलरूप वर्णन किया. मैनकादि पर्वत समुद्रके जलमें गुप्त हैं. यों भगवद्रूप पर्वतका उपविष्ट रूप चार प्रकारसे कहा है.

१.सर्वके आधाररूप

२.जीवनका कारणरूप (अन्नादिको उत्पन्न करनेसे)

३.संसारमेंसे सर्व(शत्रु मित्र आदि)के उद्धारक

४. अलौकिक भक्ति रसका पान करानेवाले अथवा भीतों(डरे हुवोंको शरण देनेवाले एवं सरलतासे सेव्य.

किन्तु ऊपरके भागमें शिखरोंके ऊपर रखे हुए सुवर्णोंसे मानो मुकुट धरे हुए हैं यों दीखते हैं, पर्वतपर जो हजार सोनेके शृंग(शिखर) थे वे मानो भगवद्रूप पर्वतके सहस्र सुवर्ण मुकुट थे(श्रुतिमें पुरुष भगवान्)को 'सहस्रशीर्षा' कहा है. जिसके मध्यसे कौस्तुभ रत्न प्रकट हुआ है. इससे मध्य और ऊपरके भागका वर्णन किया है, भगवान्के महाराज एवं रत्ननिधि होनेसे यह सूचित किया है कि भगवान्में ऐश्वर्य और लक्ष्मी दोनों हैं ।।३०।।

आभासार्थः इस प्रकार बाहरके स्थानमें पौढे हुए, उठे हुए तथा बैठे हुए

रूपोंको कहकर और तीन मार्गोंके रूपोंका 'पुंसां' श्लोक(२६-२७)में निरूपण कर अब इस श्लोकमें अन्तःस्थित(भीतर विराजमान) स्वरूपका निरूपण करते हुए मूलरूपका वर्णन करते हैं :

निवीतम् आम्नायमधुव्रतश्रिया स्वकीर्तिमय्या वनमालयाहरिम् ।
सूर्येन्दुवाय्वग्न्यगमं त्रिधामभिः परिक्रमत् प्राधनिकैर्दुरासदम् ।।३१ ।।

श्लोकार्थः जिसकी पुनः-पुनः आवृत्ति(पाठ) हो रही है ऐसे वेदरूप भ्रमरोंकी कान्तिवाली एवं अपनी कीर्तिसे परिपूर्ण वनमालासे सुशोभित कण्ठवाले(हरि)की तीन अवस्थाओंके कारण सूर्य, चन्द्र, वायु और अग्निकेलिए जिसके समीप जाना नहीं हो सकता है ऐसे तथा जिसके चारों तरफ नाश करनेवाले फिर रहे हैं, जिससे भी उसके समीप पहुंचना कठिन है ऐसे हरिके दर्शन किये ।।३१ ।।

व्याख्याः ब्रह्माको भगवान्के दर्शन एक प्रकारसे नहीं हुए थे पृथक् पृथक् प्रकारके हुए थे. अतः ब्रह्माने जिस समय जैसे जैसे दर्शन किये उस उस प्रकार वर्णन किया है. १.जिसकी पुनः-पुनः आवृत्ति(पाठ) हो रही है ऐसे वेदरूप भ्रमरोंकी कान्तिवाली एवं अपनी कीर्तिसे परिपूर्ण वनमालासे सुशोभित कण्ठवाले प्रभुके दर्शन किये, भगवान्का मूलभूत रूप पुरुषस्वरूप है अतः मनुष्य धर्मत्वसे माला कण्ठमें लटकाई अर्थात् धारण की है, जिस मालासे पठित वेदरूप भ्रमरोंकी शोभा प्रतिष्ठित है, वे भ्रमर काले होनेसे तामस जैसे होते हैं, अपनी कीर्तिरूप माला श्वेत वा सात्त्विकी है. ''**आपादलम्बिनी माला वनमाला प्रकीर्तिता, तुलसी-पुष्परचिता नवरत्नैर्विराजिता**'' जो माला तुलसी पुष्पों (दलों)से रची हुई होती है और पाद पर्यन्त लम्बी हो तथा नवरत्नोंसे सुशोभित है उसको वनमाला कहते हैं वह रूपसे श्वेत जैसी होनेसे राजसी जैसी थी.

यह माला मायारूप होनेसे प्रवाहका कारण है, कीर्तिवाली होनेसे भक्तिका कारण है जिसके गुण पहले कहे हैं वैसी पहली माया मर्यादाका कारण है, मर्यादा तथा पुष्टि धर्मत्व(गुणपन) प्रवाहाश्रयके कारण है. वनमालाका स्वरूप त्रिविध(तीन प्रकारके) प्रवाहोंको उत्पन्न करनेवाला है, यों जान लेनेपर उसके अन्तर्गत मर्यादा और पुष्टिधर्मरूप अङ्गोंसे भजन बन सकेगा. इस कारणसे ही यहां मालाका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है. ये गुण भगवान्के सहज नहीं हैं किन्तु प्रमाणबलसे उनकी कल्पना की गई है. भगवान्का सहजधर्म तो दुःख हरण

ही है यह भाव 'हरि' शब्द नामसे प्रकट किया है.

सङ्घातमें स्थित जीव भगवान्के पास नहीं पहुंच सकता है जिसका कारण 'सूर्येन्दु वाय्वग्न्यगमम्' पदसे कहा है कि ये सूर्य, वायु, चन्द्र और अग्नि कर्णिकामें आवरणरूप हैं. जिनकी विद्यमानतामें भगवत्प्राप्ति नहीं होती है जिसका भावार्थ प्रकट करते हैं कि कालके अतिक्रमणकेलिये सूर्य और चन्द्र द्वारा दिन और रात्रिकी व्यवस्था की है, दिन और रात्रिमें जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं होती हैं. इन अवस्थाथोंके योग और कर्मसे भगवत् प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही तत्त्वोंसे अर्थात् सांख्यसे भी भगवत् प्राप्ति नहीं होती है. इस आशयको 'परिक्रमत् प्राधानिकैः दुरासदम्', इस पंक्तिसे प्रकट करते हैं. जो नाशकर्ता तत्त्व चारों तरफ फिरते हैं वे भी आभरणरूप होनेसे नाश करनेमें रुकावटमें चक्ररूप हैं. उनसे भगवत्प्राप्ति कठिन है जिससे भगवत्प्राप्ति नहीं होती है. ज्ञानसे काल एवं अवस्थाका अतिक्रमण होता है, योगसे वायुका अतिक्रमण होता है, कर्मसे अग्निका अतिक्रमण होता है, शेष ज्ञान और भक्तिसे पृथ्वी तथा जलका अतिक्रमण तो कहा ही है, तत्त्वोंका अतिक्रमण तो सांख्यसे होता है, इसी तरह पंचपर्वा विद्यासे सबका अतिक्रमण होता है, श्रीधरजीके सिवाय किन्हीं टीकाकारोंका मत 'एतैरेव अप्राप्तिः इति एके', पंक्तिमें दिखाते हैं कि वे टीकाकार कहते हैं कि इनसे ही भगवत्प्राप्ति नहीं होती है. यदि यों हो तो तब इन पांचोंका भी त्यागकर देना चाहिये, स्वरूपमें प्राप्त होकर अर्थात् स्वरूपको प्राप्तकर(समझकर) अनन्तर भगवान्को प्राप्त करना चाहिये ।।३१।।

आभासार्थः इस प्रकार भगवान्के जाननेपर अन्य सर्व स्वतः जाननेमें आ जाता है :

तर्ह्येव तन्नाभिसरःसरोजम् आत्मानम् अम्भः श्वसनं वियच्च ।
ददर्श देवो जगतो विधाता नाऽतः परं लोकविसर्गदृष्टिः ।।३२ ।।

श्लोकार्थः उस ही समयमें उसके(भगवान्के) नाभिरूप सरोवरमें उत्पन्न कमल उसपर बैठे हुए अपनेको, जलको, वायुको और आकाशको देखा तब वह देव जगत्का विधाता(बनानेवाला) ब्रह्मा कहा गया, इसके बाद उसकी जगत्की रचनामें ही दृष्टि गई ।।३२ ।।

व्याख्याः उस ही क्षण उसके नाभिरूप सरोवरमें उद्भूत कमलको उसपर स्थित अपनेको और बाहर स्थित जल वायु और आकाशको देखा. पृथ्वीपर

कमल ही है. तेज अपनेमें विद्यमान भगवान् ही हैं तब पांचभूत भी अपनी देहमें ही देखें यों सब अपनी देहमें देखनेके कारण जगत्का विधाता(बनानेवाले= ब्रह्मा) बने, इसके बाद केवल ब्रह्मरूप न हुआ, किन्तु यह ब्रह्मरूप [1]दोनोंका कारणरूप हुआ क्योंकि अब लोक रचनामें इसकी दृष्टि है इसलिए जीववत् भी है जिससे ब्रह्माको समष्टिरूप जीवात्मा कहते हैं ।।३२।।

१.ब्रह्माकी स्थितिका तथा पहलेकी अज्ञानावस्थाका. -प्रकाश.

आभासार्थ: अनन्तर ब्रह्माने क्या किया?

स कर्मबीजं रजसोपरक्तः प्रजाः सिसृक्षन् इयदेव दृष्ट्वा।
अस्तौद्विसर्गाभिमुखस्तमीड्यम् अव्यक्तवर्त्मन्यभिवेशितात्मा ।।३३ ।।

श्लोकार्थ: प्रजाके उत्पादनकी इच्छावाले रजोगुणसे आरक्त हुए(ब्रह्मा) इतना ही कर्मबीज देखकर सृष्टिरचनामें सन्मुख(तत्पर) हुए. यद्यपि सृष्टिरचनामें तत्पर हुए किन्तु इस कार्यका मार्ग स्पष्ट नहीं देख सके इसलिए जिससे वह मार्ग ध्यानमें आ जावे, उस स्तुति योग्य भगवान्की स्तुति करने लगे ।।३३ ।।

व्याख्या: कर्मबीज इतना ही है यह देखकर केवल इतनेसे कार्य सिद्धिपूर्ण नहीं होगी. इसलिये भगवान्की स्तुति करने लगे यों सम्बन्ध है. मुझे जो जगत् रचनाका कार्य करना है उसमें भगवान् और पंचमहाभूत ही बीज हैं. इन ६ के बोने पर(मिलाने पर) जगत् बनता है, मैं चेतनके निर्माणमें प्रवृत्त हुआ हूं. इसलिये केवल बीजसे कार्य न बनेगा, किन्तु रजोगुणकी भी आवश्यकता है, यों विचारकर 'रजसोपरक्तः', स्वयं रजोगुणरूप हो गये. केवल बीज देखा और आप रजोगुणी बने किन्तु रजोगुण और बीजमात्रसे ही कुछ न हो सकता है, बोना तो प्रथम अङ्ग है. गुप्तप्रकारसे उसमें अदला बदली हो, बढ़ना तथा जीव दान इत्यादि क्रियाका जब तक मुझे विज्ञान न होगा तब तक मुझसे कार्य सिद्धि न हो सकेगी, इसलिये चार अर्थोंकी प्राप्तिकेलिये प्रभुको प्रार्थना करनी चाहिये. प्रभु इनका दान करें जिसकेलिये प्रभुका स्तोत्र(स्तुति) करते हैं.

'विसर्गाभिमुखः', ब्रह्माका विशेषण देकर यह सूचित किया है कि ब्रह्माको मोक्षकी इच्छा नहीं थी क्योंकि सृष्टि रचनाकी इच्छावाले थे जिसमें हेतु यह है कि भगवान्ने उनको विसर्गके सन्मुख किया था इसलिये विसर्ग(सृष्टि ही) करूंगा. ऐसे निश्चय मनवाले हुए थे, ऐसे निश्चय मनवाले जिसने मुझे बनाया है उसको प्रार्थना करूं, तो स्तोत्र(स्तुति) क्यों करते हो? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि

'ईड्यं', वे प्रभु स्तुति करनेके योग्य हैं सब(देवादि भी) इनकी स्तुति करते हैं. स्तुति करनेमें जब प्रसन्न हो जावें तब ही प्रार्थना करनी चाहिये.

अन्य सर्व ब्रह्माको स्वयं जान लेना चाहिये क्योंकि साधनका उपदेश देनेवाले वेद मौजूद ही हैं फिर भगवान्से क्या? जो उनकी स्तुति और प्रार्थना की जावे? इस शंकाका समाधन करते हैं कि 'अव्यक्तवर्त्मनि अभिवेशितात्मा' इति. ब्रह्माने जिस कार्य करनेमें अन्तःकरण लगाया है उस कार्यका मार्ग कुम्भकारकी तरह स्पष्ट नहीं है, किन्तु ब्रह्मा बीजको योनिमें स्थापितकर उसमेंसे सब पैदा करना चाहते हैं. इस प्रकारका यह जगत् कार्य बिना भगवान्की कृपाके नहीं बन सकता है और चित्त उस प्रकारसे जगत्की रचनामें लगा होनेसे अब अन्यथा दूसरे प्रकारसे बनाना नहीं चाहते हैं यों तात्पर्य है ।।३३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके अध्याय ८ की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ९

ब्रह्माजी द्वारा श्रीभगवान्‌की स्तुति

जीवसर्गे भूतसृष्टौ ब्रह्मज्ञानं तदुच्यते।
पञ्चविंशतितत्त्वानां स्वरूपस्य च बोधतः।।का.१।।
अतोऽत्र नवमेऽध्याये स्तुतिसम्प्रार्थने पुरा।
ततः सर्वोपदेशश्च भगवत्कृत ईर्यते।।का.२।।

जीवकेलिए जो सृष्टि की जाती है उसमें प्रथम भूत सृष्टि कहनी है तदर्थ पच्चीस तत्त्व और भगवान्‌के बोधसे जो ब्रह्मज्ञान होता है वह भूत जन्यत्वसे कहा जाता है और विशेष जबतक समष्टिका ज्ञान नहीं होता है तबतक व्यक्तिका ज्ञान हो नहीं सकता है अतः उपजीव्य(आधार) होनेसे पहले पुरुषका प्रकरण कहा अब नवम अध्यायसे उपजीवक होनेसे जीव प्रकरण कहते हैं इसलिए उपजीव्य और उपजीवक भाव होनेसे पुरुष और जीवकी संगति है–यह आशय है।।१।।

*टिप्पणी आंठवे अध्यायमें 'रषस्य च संस्थानम्' इस पंक्तिमें किये हुए प्रश्नका उत्तर दिया नवम अध्यायमें तो 'स्वरूप वा परस्य च' बादमें किये हुए प्रश्नका उत्तर देते हैं. नवमें अध्यायका विवरण करते हुवे आज्ञा करते हैं कि, पूर्व प्रकरणकी समाप्ति, दूसरे प्रकरणका आरम्भ, इन दोनोंका जो पूर्व एवम् अपर भाव है वह बीज है, इनकी संगतिको स्पष्ट करते हुवे, अध्यायका अर्थ कारिकाओ द्वारा बताते हैं–प्रकाश

अतः इस नवम अध्यायमें प्रथम ब्रह्मा द्वारा की हुई स्तुति और प्रार्थना कहकर अनन्तर भगवान्‌ने जो सर्वको उपदेश किया है वह कहा गया है।।२।।

इस प्रकार शास्त्रकी संगति कहकर, विदुर तथा मैत्रेयके संवादकी संगति 'ज्ञानमार्गस्य' कारिका तीनसे कहते हैं.

ज्ञानमार्गस्य निर्द्धारः स्तोत्रेऽस्मिन् क्रियते स्फुटः।
विषयः साधनं रूपं बाधाभावस्तथैव च।।
प्रकीर्णकं च स्तोत्रेऽस्मिन् ज्ञानार्थं विनिरूप्यते।।का.३।।

इस स्तोत्र(स्तुति)में विषय[१] साधनरूप बाधका अभाव तथा उसके उपयोगी जो प्रकीर्ण पदार्थ हैं, ये सब ज्ञान प्राप्तिकेलिए निरूपण किये जाते हैं।।३।।

१.ज्ञानका विषय स्तुतिके प्रथम श्लोकसे ७वें श्लोक तक साधन ८से १३ तक भगवद्रूपका वर्णन, १४से २१ तक बाधा(विघ्न)का अभाव, २२से २५ तक इनमें जो

उपयोगी प्रकीर्ण(विषय) है वह भी इन चारोंमें कह दिये हैं इस तरह शेष–शेषिभाव स्तुति है. –'प्रकाश'.

आभासार्थ : पूर्व अध्यायके अन्तमें 'ददर्श' पदसे जो कहा गया है कि 'देखा' वह भगवान्का देखा हुआ स्वरूप, सृष्टिमें कहां उपयोगमें आता है, यों निरूपण करना है जो यह ब्रह्म है तो कर्त्ता न होकर मूलकारण ही होना चाहिए क्योंकि जगत् रचनाका कार्य मुझे सौंपा(दिया) है अतः प्रथम निश्चय है कि यह ही ब्रह्म है जगत्की रचनामें ब्रह्मके ज्ञानकी आवश्यकता है क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान जगत् बनानेमें कारण है, वह ज्ञान मुझे हुआ है क्योंकि भगवान्(ब्रह्म)का साक्षात्कार हुआ है, यों इस निम्न श्लोकमें ब्रह्मा स्वयं कहते हैं :

ब्रह्मा उवाच

ज्ञातोऽसि मेऽद्य सुचिरान्ननु देहभाजां न ज्ञायते भगवतो गतिरित्यवद्यम्।
नाऽन्यत् त्वदस्ति भगवन्नपि तन्न शुद्धं मायागुणव्यतिकराद्यदुरुर्विभासि।।१।।

श्लोकार्थ : ब्रह्माजी कहते हैं कि हे भगवन्! बहुत समयके बाद आज मैंने आपको जाना है क्योंकि देहधारियोंसे भगवान्की गति जानी नहीं जाती है. यह देहधारियोंमें महान् दोष है. आपके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है. यदि माना जाय कि–है, तो भी वह शुद्ध नहीं है, मायाके गुणोंसे मिले हुए होनेसे अनेक भासते है.

व्याख्या: हे भगवन्! बहुत समय अनन्तर आज ही मैनेआपको जाना है, लम्बे समयके बाद भी जाना तो सही, जिससे जन्म सफल हुआ है. यदि न जानता तो जन्मकी सफलता नहीं होती, यों कहनेसे अज्ञानकी निन्दाकी है 'ननु' पदसे यह सूचित किया है कि निश्चयसे दोनों जगह भगवान् ही सम्मतिमें हेतु(कारण) है. 'ननु' यह पद कोमल सम्बोधनको भी सूचित करता है. देहधारी भगवद्गतिको नहीं जानते हैं, यह इनमें महान् दोष है. ''**न एतम् ऋषिं विदित्वा नगरं प्रविशेद्**'' इति श्रुति निषेधात् अर्थात् देहके साथ सम्बन्ध करनेसे जीव भगवान्की गतिको नहीं समझ सकता है. इसलिये भगवती श्रुतिने कहा है कि 'इस ऋषि(भगवान्)'को जानकर फिर नगर देहमें प्रवेश नहीं करना चाहिये अर्थात् देह तथा देहके सम्बन्धियोंमें ममता नहीं करनी चाहिये, जो करोगे तो मेरे ज्ञानसे वंचित रहोगे.

भगवान् तो किसी तरह जाना भी जाय, किन्तु उनकी गति नहीं जानी जा सकती है. वह किस प्रकारसे, कब, कहां, कैसे और किससे(किस साधनसे) जाने जाते हैं, यह सब जाना नही जाता है. यदि यह जाननेमें आ जावे तो शेष कुछ

भी जानना शेष नहीं रहता है. केवल गतिके ज्ञानसे कृतार्थता कैसे होगी? जबतक विवक्षित स्वरूपका ज्ञान न हुआ है, ऐसी शंका होने पर उत्तर देते हैं कि, ''न अन्यत् त्वद् अस्ति इति'' आपके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, जो जाना जाय आप ही ये सब अन्य पदार्थरूप होते हैं. इसलिये आपकी ही गति जाननी चाहिये. हे भगवन्! इस सम्बोधनको देकर यह आशय प्रकट किया है कि आपमें सब कुछ मौजूद है वैसे आपके गुणों(धर्मों)में भी सब कुछ मौजूद है.

बुद्धिको भ्रमित करनेवाली माया मध्यमें अन्य पदार्थोंको बनाती है तो फिर कैसे कहते हो कि कुछ नहीं है, इस शंकाके परिहारकेलिये कहते हैं कि ''अपि तत्र शुद्धं'' है तो भी वह शुद्ध(सत्य) नहीं है. वास्तविक जो मुख्यज्ञान ब्रह्मवाद है वह यह नहीं है तो भी दैव ब्रह्मवाद वह उसमें होवे भी, क्यों? जिसका उत्तर देते है कि भगवान्की शक्तिके माहात्म्यका निरूपण करनेकेलिये यों दीखता है, जैसे कि ''**न तं विदाथ**'' इत्यादि मन्त्रोंसे कहा है कि उसको आप नहीं जानते हैं. इत्यादि वह मुख्य ब्रह्मवाद नहीं है.

''इन्द्र मायाओंसे बहुत रूपवाला दिखता है'' यह मध्याह्नमें सोम निकालते समयमें महेन्द्रके गृहमें महेन्द्रकी स्तुत्यर्थ है, जिसमें बताया है कि इन्द्रकी ही ये मायारूप शक्तियां हैं. यदि यों न होवे तो बहुवचन न दिया जावे.

उपनिषदोंमें इसकी स्पष्टता की गई है कि सर्व सामर्थ्य भगवान्की ही है. यों ज्ञापनार्थ ही इन्द्रने जो किया वा इन्द्र जो करता है वह भगवत्कृत ही समझना चाहिये. देवता ब्रह्मवाद संग्रहकेलिये यों कहा है कि ऐसा किसीका मत है? तात्पर्य यह है कि यह सत् सृष्टि मायासे बनी है, ऐसा वेदमें कहीं भी नहीं है. स्वप्नके सिवाय अन्य कोई माया सृष्टि नहीं है, यों कोई कहते हैं तो भी भागवत सिद्धान्त 'माया' मध्यमें जो किसी पदार्थकी कल्पना कराती(दिखला देती) है, वह शुद्ध(सत्य) नहीं है, क्योंकि भ्रम ही उसको उत्पन्न करनेवाला है.

भगवान् जो एक है, वह अनेक कैसे होंगे? क्योंकि जब कारण एक है, तो कार्य अनेक कैसे होंगे? जिसमें(कारणमें) एकत्वका विरोध आयेगा. जिसका उत्तर देते हैं कि ''मायागुणव्यतिकरात्'' मायाके सत्व, रज और तमो गुणोंका अन्योन्य सम्बन्धके कारण वे परिच्छिन्न हो, आतपमें जैसे ग्रह वैसे पृथक्-पृथक् पदार्थ सम्पादन करते हैं, वैसे आपभी अनेक भासते हैं अतः आपको जान लेनेके बाद दूसरा कुछ भी जान लेनेकेलिये शेष नहीं रहता है।।१।।

ब्रह्माके मनमें यों संशय उत्पन्न हुआ कि यदि भगवान् कह दे कि ब्रह्मके जाननेसे शेष कुछ जानना नहीं रहता है यह तो उचित ही है, किन्तु मेरे जाननेसे सबको ज्ञान कैसे होगा? इस पूर्वपक्षके उत्तरमें तीन श्लोकोंसे प्रमाण और तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं कि आप ही ब्रह्म हैं. इसलिए आपके ज्ञानसे सर्व ही विदित हो जाता है:

रूपं यदेतद् अवबोधरसोदयेन शश्वन् निवृत्ततमसः सदनुग्रहाय।
आदौ गृहीतम् अवतारशतैकबीजं यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आविरासम्।।२।।

जिससे तम(अज्ञानान्धकार) सदैव दूर है, ऐसा जो आपका स्वरूप है वह केवल अनुभवके निर्विषय रससे सत्पुरुषों(भक्तों) पर अनुग्रहार्थ ही प्रादुर्भूत हुआ है. यह रूप आपका आदिमें ही धारण किया हुआ है. उस वक्त एक शुद्ध ब्रह्म ही था उसके सिवाय कोई भी अन्य नहीं था, जो कि कारण बन सके. अन्य जो आपके सैकडों अवतार हुए हैं उन सबका वह ही एक बीज है जिसकी नाभिसे उत्पन्न कमलरूप भवनमेंसे मैं उत्पन्न हुआ हूं।।२।।

यह जो रूप आपने धारण किया है, वह ब्रह्म ही है. कारणकि अनुभवरूप रसके उदयसे वह प्रादुर्भूत हुआ है. केवल अनुभवसे अर्थात् अनुभवके सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है. उस अनुभवका भी जो निर्विषय परमरूप है, उसके उदयसे प्रकटा है. जिससे इस रूपकी सच्चिदानन्दता भी है, तब तो देह ग्रहणका हेतुरूप अज्ञानभी होगा. उसके उत्तरमें ''शश्वद् निवृत्ततमसः'' पद दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वहांसे अर्थात् उस स्वरूपसे अज्ञान तो सदैव दूर है. सरांश यह है कि इस स्वरूपके प्राकट्यमें देह ग्रहणका हेतुरूप अज्ञान लेशमात्र, नहीं है, क्योंकि जैसे जहां प्रकाश है वहां अन्धकार नहीं रहता है. वैसे ही जहां ज्ञान प्रकाश है वहां अज्ञानान्धकार किंचिन्मात्र भी नहीं होता है. उसका आपका ऐसा ही रूप है. 'अवबोधरसोदयेन' और 'निवृत्त तमसः' इन दो पदोंसे कितनेक ज्ञान और अज्ञानके भावका कार्य-कारणभाव कहते हैं उसकी निवृत्यर्थं 'शाश्वत्' पद देकर समझाया है कि जिस वस्तुका सदैवकेलिये जहां अभाव है वहां कारणकी अपेक्षा रहती ही नहीं है.

यदि कहो कि साधनके नित्यत्वसे ही कार्य-कारण अभाव है तो, वह अयुक्त है, क्योंकि जो(अज्ञान) नित्य दूर ही है, तदर्थ साधनकी आवश्यकता नहीं है. कदाचित्कत्व होनेसे ही साध्य-साधनभावकी व्याप्तता होती है अन्यथा

नहीं.

इस प्रकार स्वरूप धारण करनेका क्या कारण है? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'सदनुग्रहाय' सत्पुरुषों(भक्तों)पर अनुग्रह करनेकेलिये स्वरूप प्रकट किया है. यों कहनेसे भी यह सिद्ध किया है कि यह रूप ब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं है, अर्थाद् ब्रह्म ही है. कारणकि भक्तोंका कार्य ब्रह्मके सिवाय अन्यसे सिद्ध नहीं होता है, किन्तु यह रूप आदिमें ग्रहण किया हुआ है. उस समय केवल शुद्ध ब्रह्म ही था अतः उसके सिवाय कोई अन्य कारण नहीं था. ब्रह्म ही वैसे प्रकट हो गये, कहनेका यों तात्पर्य है किन्तु सैकड़ों अवतारोंका यह ही एक बीज है. अन्य अवतार इसके ही अंश हैं. अवतार ब्रह्मरूप है. यों अगे कहा जायेगा और पहले कहा भी है. 'कारण' और 'कार्य' ब्रह्म है तो मध्यमें ब्रह्म कैसे न कहा जावे. ''जगत्कारणं ब्रह्म'' ब्रह्मका लक्षण है कि जिससे जगत् उत्पन्न हो वह ब्रह्म है. वह यहां ही देखनेमें आता है. जैसे ''यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आविरासम् इति'' जिनके नाभिमें उत्पन्न कमलरूप भवनसे मैं प्रकट हुआ हूं. 'भवन' पदसे पद्मकी विशालता दिखाई है, 'अहं' शब्दसे सगुण कर्तृत्व अपना दिखाया है, 'आविरासम्' पदसे बताया है मेरा जन्म भी अलौकिक है।।२।।

यदि कोई कहे कि यह 'रूप' ब्रह्म नहीं है तो निम्न श्लोकमें उस पक्षका निराकरण करते हैं :

नाऽतः परं परम! यद् भवतः स्वरूपम्, आनन्दमात्रम् अविकल्पम् अविद्धवर्चः।
पश्यामि विश्वसृजम् एकम् अविश्वम् आत्मन्,
भूतेन्द्रियात्मकम् अदस्त उपाश्रितोऽस्मि।।३।।

हे परम! आपका जो यह आनन्दमात्र, अविकारी, प्रस्फुट तेजवाला रूप दिख रहा है उससे अन्य कोई रूप उत्तम नहीं है. हे आत्मस्वरूप! इस स्वरूपको मैं विश्व बनानेवाला एक विश्वसे पृथक् (विश्व नहीं) भूत और इन्द्रियोंकी आत्मा देखता हूं, मैं आपके इस रूपके शरण आया हूं अर्थात् आश्रय लेता हूं।।३।।

इस स्वरूपसे भिन्न अथवा इस स्वरूपका नियामक आपका कोई स्वरूप नहीं है. ''**आनन्दशरीरं ब्रह्म**'' इस श्रुति अनुसार ब्रह्मका रूप केवल आनन्दनिधि है, वह यह स्वरूप ही है, इसके सिवाय आनन्दमात्रादि गुणवाला कोई आपका रूप नहीं है वह स्वरूप जिसमें आनंद उपादान होगा उसके(आनन्दके) सिवाय अन्य पदार्थ सहायक होगें? इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि यो माना

जायेगा तो वह(रूप) ही विकारी हो जायेगा? जिस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि 'अविकल्पं' विकाररहित है, विकारी नहीं है यदि होगा तो तेज हीन अवश्य होगा, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अविद्धवर्चः' उसका तेज भी ढका हुआ क्षीण नहीं है. यों आप कैसे कहते हैं? इसमें प्रमाण क्या है? जिसका उत्तर देते हैं कि प्रमाण मैं हूं जो प्रत्यक्ष ऐसे स्वरूपको देख रहा हूं और अनुभवकर रहा हूं. यह रूप ब्रह्म है क्योंकि इस रूपमें ब्रह्मके सर्वधर्म मौजूद हैं. वे इस पंक्ति 'विश्वसृजम् एकमविश्वम्'से बताते हैं, जो विश्वकर्ता हो वह ब्रह्म है जिसमें "**यतो वा इमानि भूतानि**" श्रुति प्रमाण है. 'अविश्वं' जो विश्वसे अन्य पृथक् भी है वह ब्रह्म है जिसमें "**यो अस्मात् परस्माच्च परः**" श्रुति प्रमाण है. इसी तरह बहुत ब्रह्मधर्म इस स्वरूपमें विद्यमान होनेसे यह स्वरूप ब्रह्म ही है.

हे आत्मन्! यह सम्बोधन है जिसका आशय कितने ही यों करते हैं कि यह स्वरूप ब्रह्मादिकोंको आत्मस्वरूपसे उपास्य है किन्तु यह आशय पहले श्लोकमें जो यह स्वरूप ब्रह्म है. यों सिद्ध किया है. उससे विरुद्ध होनेसे अप्रमाणिक है. "**अयम् आत्मा ब्रह्म विज्ञानमयः**" यह विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है, इस श्रुत्यनुसार यहा स्वरूप आत्मा न होवे तो ब्रह्म भी न हो सके, इसलिये 'आत्मन्' शब्दसे उसका ब्रह्मत्व सिद्ध किया है, इस स्वरूप नेत्र श्रोत्रादि इन्द्रियोंके होनेसे यह स्वरूप ब्रह्म कैसे कहा जाय? जिसके उत्तरमें 'भूतेन्द्रियात्मकम्' पद दिया है जिसका आशय है कि यह स्वरूप भूत और इन्द्रियोंका आत्मा है जिसमें "**चक्षुषः चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रम्**" यह श्रुति प्रमाण है. भूत और इन्द्रियोंका आत्मा होनेसे स्वरूपमें जो भूत एवं इन्द्रियां दीखती हैं वे भौतिक नहीं हैं किन्तु अलौकिक कारणरूप(आत्मरूप) हैं. फिर शंका होती है कि ब्रह्म तो परोक्ष होता है फिर यह प्रत्यक्ष कैसे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यह अपनी इच्छासे ब्रह्माको दर्शन दे रहे हैं. यों तो परोक्ष ही हैं. अन्तमें ब्रह्मा कहता है कि ऐसे आपके शरणमें आया हूं, 'पश्यामि' यह वाक्य पृथक् है. इसलिये 'भवतः' और 'ते' यों कहनेसे पुनरुक्ति दोष नहीं है।।३।।

अब निम्न चार श्लोकमें तर्क कहते हैं:

तद् वा इदं भुवनमङ्गल! मङ्गलाय ध्याने स्म नो दर्शितं त उपासकानाम्।
तस्मै नमो भगवतेऽनुविधेम तुभ्यं योऽनादृतो नरकभाग्भिर् असत्प्रसङ्गैः।।४।।

हे भुवनोंके मंगलस्वरूप! यह ही वह मंगलस्वरूप है, उपासना

करनेवाले हम लोगोंको जो ध्यानमें इस स्वरूपके दर्शन आपने दिये हैं वह हमारा मंगल करनेकेलिये ही दिये हैं, उस मङ्गल स्वरूप भगवान्को नमस्कार है, हम तो उन आपकी आज्ञा को सदैव शिरोधार्य करते हैं जिस मङ्गल स्वरूप आपकी हम प्राप्ति करना चाहते हैं. ऐसे मंगलस्वरूपका दुःसङ्गी और नरकमें जानेवाले ही अनादर करते हैं।।४।।

हे भुवनमङ्गल! तीनों लोकोंका जो आपका मंगलरूप है निश्चय है कि यह स्वरूप जिसका हम दर्शनकर रहे हैं वह ही तीनों लोकोंका मङ्गलरूप है. जिसमें कारण यह है कि ध्यान करते समय हमारे मङ्गलकेलिए इस ही स्वरूपका हमको दर्शन दिये हैं. यों कहनेका भावार्थ क्या है? इसका उत्तर देते हैं, 'ते उपासकानाम्' ऐसे स्वरूपके दर्शन, आप अपने उपासकोंको ही देते हैं. हम ब्रह्मका साक्षात्कार करनेकेलिये ध्यान करने लगे, क्योंकि आपके सेवक हैं, परब्रह्मके उपासक परब्रह्मके सिवाय दूसरेका ध्यान नहीं धरते हैं, इसलिए ऐसे अनन्योपासकोंके ध्यानमें अपने परब्रह्म स्वरूपके सिवाय दूसरा स्वरूप नहीं दिखाते हैं, क्योंकि ऐसे अनन्योंका पुरुषार्थ दूसरेसे सिद्ध नहीं होता है. इस कारणसे तर्क द्वारा भी सिद्ध है कि यह स्वरूप ही परब्रह्म है.

इस प्रकार इस स्वरूपका परब्रह्मत्व निश्चयसे सिद्धकर उसको नमस्कार करनेकेलिये कहते हैं 'तस्मै नमः' इस पदसे यह सूचित किया है कि जिस परब्रह्मने मेरे मङ्गलार्थ इस स्वरूपसे दर्शन दिये हैं उस भगवान्को नमस्कार है, यदि कहो कि नमन तो उदासीन भी करते हैं नमन मात्रसे कौन सी विशेषता प्रदर्शित की है जिस आशंकाको मिटनेकेलिये 'तुभ्यम् अनुविधेम' पद कहा है, जिस पदसे यह दिखाया है कि मैं उदासीन नहीं हूं किन्तु आपका मुख्य सेवक हूं. इसलिये आपकी प्राप्तिकेलिये आपकी आज्ञा शिरोधारण करता हूं 'नमो अनुविधेम' इस प्रकार अन्वयकर अर्थ किया जा सकता है क्योंकि छान्दस होनेसे उपपद विभक्ति ही बलवती होती है जैसे 'नमस्कुर्मो नृसिंहाय' पद है, यदि यों है तो वादी इसमें(इस स्वरूपमें) सन्देह करते हैं? क्यों न इनका भजन करते हैं ऐसी शंका होय तो 'योऽनादृतः' कहा है. जिन आसुरी जीवों(दैत्यों)का अवश्य नरकपात होना है, वे ही इस स्वरूपका अनादर करते हैं केवल अनादर करनेसे ही नरकपात कैसे होगा? केवल अनादर ही किया है कोई निषिद्ध आचरण तो नहीं किया है? इस पर कहते हैं 'असत्प्रसङ्गैः' ऐसे जीवोंका दुष्टोंके साथ सङ्ग होता है जिससे उनकी बुद्धि

विपरीत होती है.

यों तो कोई भी जीव स्वभावसे भगवान्‌को नहीं मानता है ऐसा नहीं है क्योंकि भगवान् अपनी आत्मा है और आनन्द स्वरूप है किन्तु असत् पुरुषोंके सङ्गसे बुद्धि दुष्ट हो जाती है अतः उनके सङ्गसे उत्पन्न दोषोंके कारण वह पांचवां महापातकी हो जाता है, यदि वह पूर्वोपार्जित पुण्योंके कारण भगवान्‌को माने अथवा सत्संगके प्रतापसे भगवान्‌का भजन आदरसे करे तो नरकमें न गिरे, यों नहीं होनेसे अवश्य दुःसङ्गी नरकमें गिरते ही(पडते ही) हैं वैसे पुरुष भगवान्‌का निरादर ही करते हैं.

इस तरह प्रमाण और तर्कसे यह स्वरूप ही, ब्रह्म है यह स्थिरकर इसका साक्षात्कार ही ब्रह्मका साक्षात्कार है, 'भक्त्या मामभिजानाति' इस भगवद्गीता वाक्यानुसार उसके साक्षात्कारकेलिये भक्तिको ही साधनरूप इस श्लोकमें कहते हैं तथा साधनमुखतासे भी इसका ब्रह्मत्व सिद्ध करते है:

ये तु त्वदीयचरणाम्बुजकोशगन्धं जिघ्रन्ति कर्णविवरैः श्रुतिवातनीतम्।
भक्त्या गृहीतचरणः परया च तेषां नाऽपैषि नाथ! हृदयाम्बुरुहात् स्वपुंसाम।।५।।

हे नाथ! अभक्त एवं पुरुषार्थरहित मनुष्योंके सिवाय जो पुरुष वेदरूप वायु द्वारा आपके चरणकमलकी कलीकी गन्धको कर्ण छिद्रोंसे सूंघते हैं तथा जिन्होंने अन्तिम भक्ति द्वारा आपके चरणोंको दृढ़ पकड़ लिये हैं, उन अपने पुरुषों(भक्तों)के हृदयरूप कमलसे आप थोड़े भी नहीं खिसक सकते हैं।।५।।

'तु' शब्द देनेका आशय यह है कि जो चरणोंकी उपासना नहीं करते हैं और पुरुषार्थसे विमुख हैं उनको त्याग दिया है.

जो आपके चरणकमलकी कलीकी गन्धको कर्णके छेदोंसे सूंघते हैं उनके हृदयसे आप हटते नहीं हो, क्यों नहीं हटते हो? इसके उत्तरमें कहते हैं कि उन्होंने आपके चरणोंको भक्तिसे पकड़ रखा है, यहां केवल चरण कहकर यह सिद्ध किया है कि भक्तोंके चरणोंमें भी भगवान्‌के चरणोंकी तरह परागादि न होकर उनके चरणोंके समान कली होती है जो कोश(कली) भक्तोंके रक्षक हैं, उसका धर्म गन्ध है अथवा आपके ही चरणाम्बुज(कली) है.

यदि वे भगवदीयत्वके सम्पादक शरीरके हेतुभूत संस्कारवाले भूत प्राप्त कर लेवें तो इस जन्ममें ही आपके हो जाने चाहिये, लेकिन अब वैसे शरीरकी प्राप्ति न होने पर भी दूसरे शरीरमें भी श्रुति आदिके विचार करनेसे माहात्म्यज्ञान

जान लेने पर भक्ति हो जाती है, भक्ति प्राप्त हो जाने पर भगवदीय विषयोंके ग्रहणार्थ लौकिक इन्द्रियां बदलकर अलौकिक हो जाती हैं, गन्ध भीतर जाकर चित्तमें क्षोभ करती है, क्योंकि गन्ध भीतर जानेमें समर्थ है. शब्दको भीतर जानेकी सामर्थ्य ही नहीं है, इस कारण भगवत्कीर्तिके श्रवणको भी गन्धका अनुभव कहा है, क्षोभकेलिये ही गन्धका भीतर प्रवेश होता है भगवदीय पदार्थोंमें सर्व धर्म रहते हैं वेद ईषत्(स्वल्प) स्पर्शसे गन्धवाहक है यहां 'गन्ध' पदका भावार्थ 'यश' है. जैसे पुण्यकर्मका यश फैल रहा है अर्थात् पुण्यकर्म करता है उसकी सर्वत्र गन्ध(यश) फैलती ही है.

भगवान्के माहात्म्य श्रोताओंका भगवद्गुण कीर्तिरूप श्रवण देवतारूप है यों उसको गन्धको भी कहा जाता है इसी प्रकार माहात्म्य प्रतिपादनकेलिये इस प्रकारकी कथा कही गयी है, 'कर्णविवरैः' कर्णके छिद्रोंसे कहनेका भाव है कि शान्त होकर जो सुनते हैं भगवान्के गुण(धर्म) प्रवेश करते हैं. घ्राणसे ही प्रेमलक्षणाभक्तिकी प्राप्ति होती है, 'च' पदसे समझना चाहिए कि साधनरूप भी प्राप्त होता है जब इस प्रकारकी भक्ति सिद्ध होती है तब वे अपने पुरुष(भक्त) होते हैं ऐसी अवस्था होने पर भगवान् हृदयसे हटते नहीं हैं. तब नियत साक्षात्कार तथा प्रवेश होता है यों तात्पर्य है. यह कार्य भगवान्का ही है न कि दूसरेका, यों कार्य द्वारा भी इस स्वरूपका ब्रह्मत्व समर्थन किया है।।५।।

इस स्वरूपके ब्रह्मत्वकी सिद्धिका धर्मान्तर अर्थात् अन्यगुणोंसे श्लोकमें समर्थन करते हैं:

तावद् भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन् ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः।।६।।

जबतब लोक आपके निर्भय चरणका वरण नहीं करते हैं तबतक धन, देह, मित्र आदिके कारण भय, शोक, इच्छा, परिभव और लोभ होता है तथा तब तक ही दुःखकी मूल(जड़) ये मेरे हैं ऐसी ममताका झूठा आग्रह नहीं मिटता है।।६।।

''**अभयं वै जनक! प्राप्तोऽसि**'' ''हे जनक! तुमने निश्चय अभय प्राप्त किया है'' इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म प्राप्तिके अनन्तर ही अभय प्राप्त होता है, भगवदीयको तो तबतक भय है जबतक आपके 'निर्भय(भयरहित) चरणकमलका वरण(आश्रय) नहीं किया(लिया) है, भगवदीयके अभयत्वका निरूपण करते हुए यह स्वरूप ब्रह्म है यों निरूपण किया है, दोनों प्रकारसे आपके चरणसे भय नहीं है

क्योंकि आत्मरूप है "**द्वितीयाद् वै भयं भवति**" इस श्रुत्यनुसार दूसरेसे ही भय होता है, चरण आत्मरूप होनेसे उससे भय नहीं होता है तथा चरणाश्रयसे दूसरोंसे भी भय नहीं होता है. सारांश कि दूसरे भय भी निवृत्त हो जाते हैं, क्योंकि चरणोंमें अलौकिक सामर्थ्य है. चरणके वरण करनेसे जो दूसरे भय निवृत्त हो जाते हैं उनका वर्णन करते हैं. धन और सम्बन्धी भय सबसे मुख्य है कारण सब उसकी चाहना करते हैं, उसके बाद देह निमित्त(देहके कारण) भय है जैसे कि यह देह व्याधिग्रस्त होगी जिससे भय उत्पन्न होता है, अनन्तर पुत्रादिके कारण भय होता है अथवा स्त्री और पुत्र देहसे ही ग्रहण किये हैं, अतः वे न कहकर सुहृद् कहे हैं, भय तब होता है जब देह विद्यमान होगी, जो देह नाश हो जायेगी तो शोक होगा भय न होगा, इसलिए यहां देह शब्दसे देहका एकदेश समझना चाहिए अन्यथा शोक न होवे अथवा देहका आशय पुत्रादि भी हैं. यदि 'देह'के स्थान पर 'गेह' पाठ हो तो आशय स्पष्ट ही है वह(गृह) जानेके बाद फिर प्राप्त करना चाहिए यों इच्छा होती है, उस इच्छाको पूरा करनेकेलिए मनुष्योंको प्रार्थनाएं करनी पड़ती हैं. यदि वे प्रार्थनाएं स्वीकृत नहीं होती हैं तो पराभव(हार) मानना पड़ता है, यदि बादमें दैवगतिके कारण कैसे भी गेहादि प्राप्त हो जावें तो फिर ज्यादा लोभ होने लगता है. 'तावत्' पदसे यह भाव है कि धन आदिका भी लोभ बढ़ जाता है. 'मैं' और 'मेरा' यह मिथ्या आग्रह भी तबतक ही रहता है. यह भी एक ब्रह्मपनका साधक है. उन सब दुःखोंके मिटनेका कारण ब्रह्मात्मभाव ही है. देहादिमें जो असत् (झूठा) आग्रह है वह लौकिक प्राप्तिसे सुखका कारण दीखता है किन्तु वास्तवमें दुःखका हेतु है अतः कहा है 'आर्तिमूलम्' दुःखकी जड़ है अर्थात् निश्चित् चिन्ह है. "**तद् विष्णोः परमं पदम्**" इस श्रुतिके प्रमाणानुसार भगवच्चरण ही ब्रह्म है, इसलिए ब्रह्मज्ञानसे इनका [२]व्यभिचार नहीं होता है. 'वृणीत' इस पदका आशय दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे कन्या वर(पति)का वरण करती है तब वह कन्या उसकी(वरकी) हो जाती है. वर, कन्याकी सर्व अभिलाषा पूर्ण करता है किन्तु वह कन्याका नहीं होता. 'लोक' शब्दसे यह बताया है कि जो विशिष्ट अधिकारी है वह यों करता है।।६।।

१.जिस चरणसे भय नहीं है, ऐसे और भयको मिटानेवाले चरण हैं– 'प्रकाश'

२.कठोपनिषदमें–अक्षरब्रह्मको विष्णुका चरण कहा है यहां केवल चरण कहा है यों नामभेदसे स्वरूपमें किसी प्रकार व्यभिचार(अन्यथा विचार) नहीं होता है– 'प्रकाश'

यदि यों है तो इस भगवान्का भजन सब क्यों नहीं करते? यद्यपि पहले, रूपविशेषके कारण तथा असत्पुरुषोंके संगसे नहीं भजते हैं यों कहकर शंकाका निवारण किया है तो भी फिर सामान्य प्रकारसे इस श्लोक द्वारा उस शंकाका परिहार करते हैं:

दैवेन ते हतधियो भवतः प्रसङ्गात् सर्वाशुभोपशमनाद् विमुखेन्द्रिया ये।
कुर्वन्ति कामसुखलेशलवाय दीना लोभाभिभूतमनसोऽकुशलानि शश्वत्।।७।।

सकल अशुभोंको नष्ट करनेवाले आपके चरित्र विषयक प्रसङ्गसे जिनकी इन्द्रियां विमुख रहती हैं, वे लोभवश मनवाले अल्पमात्र(थोड़ेसे) काम सुख केलिये दीन हो निरन्तर अकल्याणकर (अशुभ) कर्मोंको करते हैं क्योंकि दैवने (पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मोंने) उनकी बुद्धि भुलावेमें डाल दी है।।७।।

आपके चरित्रविषयक प्रसङ्गोंसे जिनकी इन्द्रियां विमुख हो रही हैं उनकी बुद्धि दैव(पूर्वजन्मकृत दुष्कर्मों)ने नष्टकर डाली है जिससे सर्वोत्तम विषय होने पर भी एवं उसमें विचार करनेवालेको सर्व प्रकारका इष्टफलदातृत्व(मनोरथ सिद्ध करनेवाले) होते हुए भी, और अपनी आत्मारूप होते हुए भी वे भजन नहीं करते हैं. इसमें दोष इन्द्रियों और बुद्धिका ही है. जैसे बुद्धि प्रेरणा करती है वैसे इन्द्रियां विषयको ग्रहण करती है. इसलिए भगवद्भजनमें रुकावट डालनेका दोष इन(इन्द्रियों और बुद्धि)का ही है.

इसमें प्रेरणा करनेवाली बुद्धि दैवने नष्टकर दी है. कितनों ही का मत है कि उस ही बुद्धिका ही आधिदैविकरूप भगवदिच्छा(दैव) है किन्तु श्रोत ब्रह्मवादका सिद्धान्त है कि प्रवाहके नियामक कर्म ही ऐसा करते हैं. जीवको भगवत्सम्बन्धी सत्संग प्राप्त हो जयेगा तो वह भगवद्भक्त बन जायेगा, ऐसा (भगवदीय) न बने, तदर्थ अधिकारी काल अपने अधिकारमें आये हुए जीवकी बुद्धिको भ्रष्टकर देता है, दूसरे कहते हैं कि 'काल' ही यों करता है क्योंकि काल ही दैव है. अतः तीन प्रकारके मत होते हुए भी जीव दोषरहित है. यद्यपि पहले जीवोंका दोष कहा है किन्तु अब जीवोंका दोष नहीं है यह युक्तियोंसे सिद्धकर आगे अपनी दया प्रतिपादन की है अर्थात् भगवत्कृपार्थ प्रार्थना करेंगे, 'प्रसङ्ग' पदका आशय है 'हरिकथा'. वह हरिकथा सर्व लोग प्रायः सुनते हैं किन्तु जिनकी बुद्धि दैवने नष्टकर दी है वे उस कथाको सुननेसे विमुख होते हैं, विमुखताके रूप बताते हैं, किसी स्थान पर लौकिक कथाएं होती हों वहां बैठकर तो वे कथाएं

प्रेमसे सुनते हैं. कदाचित् प्रसङ्गवश उसमें भगवत्कथा आ जाती है तो वे उठकर चले जाते हैं अथवा उनको नींद आने लगती है अथवा चित्त दूसरी बातोंके परायण होता है, ऐसे जीवोंकी बुद्धि दैवने नाशकर डाली है नहीं तो सर्व अशुभोंको शान्तकर अपरिमित(अपार) आनन्द देनेवाली कथाओंसे विमुख कैसे हों? भगवत्कथा किन-किन अशुभोंको नाश करती है उनका स्पष्ट वर्णन करते हैं जिन जीवोंने अन्य प्रसङ्गसे जो भी बहुत पाप किये हैं उनके सर्व पाप भगवत्कथा श्रवणसे नष्ट हो जाते हैं. प्रारब्धकर्म(पूर्वजन्मकृत दुष्कर्म) द्वारा जो अशुभ होनेवाला है वह भी नहीं होता, अन्तःकरणमें रही हुई अविद्या भी जैसे अग्निपुंजमें आर्द्रकाष्ठ(गीली लकडी) वहां ही शुष्क(सुखकर) होकर भस्म हो जाता है वैसे ही अविद्या वहां ही लुप्त(अदृश्य, गायब) हो जाती है.

'इन्द्रिय' पदसे उनकी निर्दुष्टता प्रतिपादन की है अर्थात् सदोष होनेसे इन्द्रियां स्वभावसे भगवत्सम्मुख स्वतः नहीं होती हैं, इसीसे ये लोग प्रवाहमें पतित होकर काम लोभसे व्याप्त हो रहे हैं. इसलिए काम द्वारा प्राप्त लेश सुखमात्रके अर्थ दीनवत् उलटे कर्म करते हैं[१]. पांचों इन्द्रियोंसे भोगा हुआ काम सुखपूर्ण होता है. एक ही इन्द्रिय द्वारा प्राप्त कामसुख अपूर्ण अल्प एवं क्षण मात्र भोग्य है और उसमें कामिनीको प्रसन्न करनेकेलिए अनेक अर्थ करने पड़ते हैं, यदि कहो कि सुख भोगकेलिए यों करना उचित नहीं है तो वह भी युक्त नहीं है क्योंकि उन कामियोंको कामिनियोंके आगे दीन बनना पड़ता है, दीनतासे भोगमें स्वतन्त्रता नहीं होती है जिससे उस समय भी हृदयमें दुःखका अनुभव होता रहता है जिससे सुखपूर्वक भोग सिद्ध नहीं होता है. यों भोग न भी सिद्ध हो तो भी अभिमानिक भोग तो सिद्ध होगा ही. इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'लोभाभिभूतमनसः' वह अभिमानिक भोग भी दुःखप्रद होता है क्योंकि मनमें लोभ व्याप्त है जिससे वह कामी मनमें पश्चातापकर दुःखका ही अनुभव करता है कि हाय! इतने पैसे गवा दिये, सर्व व्यर्थ ही किया, अकुशल पदसे यह जताया है कि जो कुछ सुख विद्यमान होता है वह भी नाश हो जाता है।।७।।

१.जैसे अजामिलने किये थे-'प्रकाश'.

ऐसी जीवों पर कृपा हो इस प्रकारकी प्रार्थना करनेकेलिये निम्न श्लोकमें अपनी दया प्रकट करते हैं:

क्षुत्तृट्त्रिधातुभिरिमा मुहुरर्द्यमानाः शीतोष्णवातवर्षैर् इतरेतराच्च।

कामाग्निनाऽच्युत! रुषा च सुदुर्भरेण सम्पश्यतो मन उरुक्रम! सीदते मे।।८।।

हे उरुक्रम! प्रभो! क्षुधा, तृष्णा तथा वात, पित्त और कफ इन तीन धातुओंसे दुःखी एवं परस्पर द्वेषादिसे और कामाग्नि तथा असह्य क्रोधसे पुनः-पुनः पीड़ित प्रजाको देखनेसे ही मन दुःखी होता है।।८।।

मुझसे उत्पन्न हुई ये प्रजाएं स्वतन्त्र नहीं है उनका स्वरूप जो मैं जानता हूं वह बताता हूं सावधान हो के सुनो, हे उरुक्रम! मेरा मन कांप रहा है दूसरोंका दुःख देख दुःखी होता है. 'उरुक्रम!' सम्बोधन देनेसे यह सूचित किया है कि आपमें दुःख निवारण करनेकी सामर्थ्य है, यह भी प्रार्थना है. यह पुरुष(जीव) जैसे द्वादशविध है वैसे ही(उतने ही १२) रोगोंसे व्याप्त है किसी तरहसे सुखी नहीं है. वे द्वादश दोष(रोग) अनिवार्य(मेटे नहीं जा सकते) हैं वे दोष बताते हैं. क्षुधा और तृष्णा दोनों असह्य हैं यह अनुभव सिद्ध है, तीन(वात, पित्त तथा कफ) धातुएं भी वैसी ही हैं. बहुत प्रकारसे उपाय करने पर भी नष्ट नहीं होती हैं. शीत आदि चार दोष भी ऐसे ही हैं परस्पर एक दूसरेसे क्लेश होता है. ''इतरेतरादिशब्दाः निपाताः'' होनेसे यह एकशेष समास नहीं है और न उसकी सर्वनामता है और 'च' शब्दका आशय है एक दूसरेके शस्त्रोंसे पीड़ित भी होते हैं, काम तृप्त नहीं होता है इसलिए वह अग्निरूप होनेसे सदैव जलता रहता है किन्तु 'अच्युत!' सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि शरीर भस्मीभूत होकर स्थित ही रहता है. कितनेक 'अच्युत'का सम्बन्ध क्रोधसे कर अर्थ करते हैं कि क्रोधकी च्युति(नाश) नहीं होती है. 'च' पदसे बताया है कि लोभसे भी पीड़ा पाते हैं. इस प्रकारके ये द्वादशविध दुःख ऐसे हैं जो क्षणमात्र भी सहे नहीं जाते हैं और उसका उपाय भी अशक्य है, अतः दुःखीपन है, 'सीदते' पद आत्मनेपद इसलिये दिया है कि अर्थका अलौकिकत्व है।।८।।

यदि यों है तो ऐसी प्रजाओंको ज्ञानोपदेश देकर क्यों नहीं कृतार्थ किया जाता है? इसका उत्तर निम्न श्लोकसे देते हैं :

यावत् पृथक्त्वम् इदम् आत्मन इन्द्रियार्थमायाबलं भगवतो जन ईश ! पश्येत्।
तावद् न संसृतिरसौ प्रतिसंक्रमेत व्यर्थाऽपि दुःखनिवहं वहती क्रियार्था।।९।।

हे ईश! जबतक भगवान्की इन्द्रियार्थरूप मायाके बलसे आत्माका पृथक्पन भासता है जिससे इस ब्रह्मरूप विश्वको 'इदम्' (यह) शब्द कहकर पृथकत्व प्रकट किया जाता है तबतक कर्ममूल दुःखोंको देनेवाला संसार प्रवाह व्यर्थ होते हुए भी नाश नहीं होता है।।९।।

जबतक आत्माको पृथक् देखा जाता है तबतक ज्ञानोपदेश देने पर भी संसार नष्ट नहीं होता है 'यावत्' पदसे संसार नाशकी अवधी(हद) बताई है. परन्तु जबतक वह अवधिका समय आवे तबतक जो दुःख प्राप्ति होती है उसके निवृत्यर्थ मध्यमें प्रार्थना की है, आत्मासे पृथकत्वका निरूपण 'इदम्' पदसे दिखाते हैं, जबतक आत्मा न कहकर 'यह' पदसे जो कुछ अन्य है समझा जाता है तबतक पृथकत्व(द्वैत) है, इस पृथकत्व(द्वैत)की अवधी(हद) भगवत्सायुज्य ही है ब्रह्मभाव भी वही है, [१]अन्यपक्ष जो यो मानता है कि देहका त्याग और ग्रहण ही पृथकत्व(संसार)का सिद्धान्त अवधी है वह आयुक्त[२] है. 'इदम्' कहकर ही आत्मासे भेद निरूपण किया जाता है कैसे? इस पर कहते हैं 'इन्द्रियार्थमायाबलं' यों भेद करनेमें भगवान्के इन्द्रियार्थरूप मायाका बल है, भगवान्की तरह जब इन्द्रियां अहंकारसे लोकहितार्थ प्रवृत्ति करने लगी तब भगवदाज्ञासे भगवान्की मायासे स्वरूपभूत पदार्थ उत्पन्न हुए, अतः विशेषण भी भगवदीय हैं, जिससे भगवत्सम्बन्ध कहे हैं. वह माया तब निवृत्त होती है जब अधिष्ठानका पूर्णज्ञान हो जाता है. किन्तु वह(अधिष्ठानका ज्ञान) जैसे नहीं हो वैसे वह माया बुद्धिशास्त्र (तर्कोसे) दिये उस पर अपना कठोर बल चलाती है, उसके बलका यह ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि 'इदम्'की प्रतीति हो रही है. जबतक वह प्रतीति है तबतक मायाका बल है यों समझना चाहिये. इस मायाका भगवत्सम्बन्ध है अतः यह भगवत्कृपा होने पर ही मिटती है अर्थात् भगवत्कृपा होने पर ही इसका बल हट जाता है.

इस प्रकारकी दृष्टि होनेमें कारण बताते हैं कि यह देखनेवाला जन है 'जायते इति जन' जो जन्म लेता है अर्थात् देह धारण करता है वह जन है, जो जब शरीर ग्रहण करता है तब यह(दृश्यमान् जगत्) ही देखता है यह नियम ही है. इस प्रकार किसलिये वा क्यों उत्पन्न होता है? इस शंकाकी निवृत्ति करनेकेलिये कहा है कि ईश, जब भगवान्की स्फूर्ति हुई कि मैं ईश हूं तब उस ईशपनकी ईशव्यता कला सिद्ध करनेकेलिये शासन पदार्थोंकी आवश्यकता देख उत्पन्न किये. यह दृश्यमान संसार रचा अर्थात् देह लेना फिर उसका त्याग यों बार-बार करनेवाला विश्व(नाटक) रचा, फिर उसका प्रवाह जब विपरीत होता है तब वह भगवत्सायुज्यको प्राप्त करायेगा (करता है.) जैसे "**अन्ने प्रलीयते मर्त्यः**" इस श्रुतिमें कहा है जबतक पृथकत्व दीखता है तबतक संसार नष्ट नहीं होता है, संसारकी जड़ क्या है? और वह रुकता क्यों नहीं? इन प्रश्नोंके उत्तरमें कहते हैं कि

''संसृतेः कर्ममूलम्'' संसारकी जड़ 'कर्म' है. इसका प्रयोजन तो कोई नहीं है किन्तु कालके अर्थ ही संसार होनेसे मध्यमें दुःखोंको देनेवाला है अर्थात् दुःखोंके प्रवाहको सिद्ध करनेकेलिये ही स्थित है कैसे भी इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है. अतः बीज प्रयोजन(कर्म) तथा अन्य अवान्तर प्रयोजनोंके विद्यमान होनेसे कभी भी बिना भगवत्सायुज्य हुए निवृत्त नहीं होता है।।९।।

१.जीव एक ही है, जो यों मानते हैं, उस पक्षमें पृथकत्वकी अवधि ग्रहण और त्याग ही है फिर आप सायुज्यको ही कैसे कहते हो? वह यहां सर्वथा अयुक्त है.

२.जीव एक ही है. यह मत श्रुति तथा सूत्र विरुद्ध है तथा प्रत्यक्षसे भी विरुद्ध है क्योंकि जीव जब देहसे निकलता है तब वह देह निकम्मी हो जाती है किन्तु अन्य देहसे सर्व क्रिया करती रहती है अतः जीव एक ही है यह सिद्धांत असत्य है.

अधिकारीको गुरुकृपासे वाक्यके साथ सहकारवाले मनमें आत्मा (जीव) ब्रह्मका ही रूपान्तर है ऐसा भान हो जाने पर यह संसार क्यों नहीं दूर होगा (होता है) क्योंकि उस अधिकारीकी सर्वत्र अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है. वह समझता है कि ''यह सर्व आत्मा ही है'',''यह सर्व ब्रह्म है'' इसके उत्तरमें निम्न श्लोक कहा है:

अह्न्यापृतार्त–करणा निशि निःशयाना नाना–मनोरथ–धिया क्षण–भग्न–निद्राः।
दैवाहतार्थरचना ऋषयोऽपि देव! युष्मत्प्रसादविमुखा इह संसरन्ति।।१०।।

पूर्वजन्मके ब्रह्मभाव चिन्तनपरायण ऋषि भी यदि भगवत्कृपासे विमुख होते हैं तो वे भी इस संसारमें ही भटकते रहते हैं. कैसे भटकते हैं? वह वर्णन करते हैं दिनके समयमें लौकिक कार्योंमें इन्द्रियोंको व्याप्त करनेसे वे अति दुःखी होते हैं और रात्रिमें उनको अच्छी तरह नींद भी नहीं आती है क्योंकि मनमें अनेक मनोरथ करते हैं जिससे क्षण–क्षणमें नींद खुल जाती है, दैवने उनके अर्थकी रचना भी तोड़ डाली है।।१०।।

जो पूर्वजन्ममें ब्रह्मभाव चिन्तनपरायण ऋषि थे, उस चिन्तनके कारण ही उनको यह अन्तिम जन्म प्राप्त हुआ है, किन्तु यदि वे इस अन्तिम जन्ममें भी, हे भगवन्! आपकी कृपासे विमुख हैं तो यहां ही(संसारमें) भटकते रहते हैं, संसारमें भी उनके भीतर विशेष गुण(दोष) उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे कि दिनके समयमें लौकिक कार्योंमें इन्द्रियोंको लगानेसे अति(दुःखी) रहते हैं. रात्रिको सोनेके समय महामोहमें मग्न रहते हैं. इस तरह उनका काल व्यर्थ जाता है. निद्रासे जो प्रासङ्गिक

सुख प्राप्त होता है वह भी उनकों नहीं मिलता है, क्योंकि मनोरथोंके विचारोंसे क्षण–क्षणमें निद्रा टूट जाती है कारण कि अनेक मनोरथोंवाली बुद्धि रात्रिको नींदमें मनोरथ अनुसार ही स्वप्न देखती है, उस स्वप्नमें कभी भय आदि देनेवाली घटना होती है, कभी प्रियका वियोग देखनेमें आता है. स्वप्न पदार्थ स्थिर नहीं होनेसे उस समय व्याकुलता होती है, जिससे निद्राभङ्ग होती है अर्थात् निद्रा टूट जाती है. विपरीत दैव उसकी अर्थयोजना भी नष्टकर देती है. इसीसे उनकी क्रिया भी व्यर्थ होती है. यह सूचित किया यदि सुख भोगादिकेलिये घर बनाते हैं तो वह भी स्वल्प थोड़े समयमें ही यों ही नाश हो जाता है. ''**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**'' जो मन्त्र दिया है वे ऋषिक हो जाते हैं. उन पर भगवान् प्रसन्न होकर सत्य आदि लोकोंमें वा इस लोकमें ही कुछ कृपा करनी चाहते हैं क्योंकि प्रभु देखते है कि ये मेरे कहे हुए निवृत्ति मार्गके आचरण करनेवाले थे इस समय वे भगवान्के दिये हुएको ग्रहण नहीं करते हैं अतः भगवद्विमुख होनेसे संसारमें ही भटकते रहते हैं. वास्तवमें वे बालक ही हैं शब्दोंके अर्थका विचार करते हैं. उनके भाव व उपपत्तिका विचार नहीं करते हैं कि इस जीवको ब्रह्मभाव कैसे प्राप्त होगा? वाक्यके तात्पर्यका उनको ज्ञान नहीं है. इस ब्रह्माण्डके भीतर उनमें आनन्दांश प्रकट नहीं होता है कारण कि सर्व पदार्थों पर भगवान्ने मायाका पर्दा डाल दिया है, वैसे भगवत्सायुज्य भी उनको नहीं प्राप्त होता है. कारण कि ज्ञानमें यह शक्ति नहीं है जो भगवान्को वशमें कर सके अतः ज्ञानमार्ग द्वारा भगवत् प्राकट्य भी नही हो सकता है तो फिर सायुज्य प्राप्ति कैसे हो? ''**इहैव समवनीयन्ते प्राणाः**'' ''**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति**'' इन श्रुत्यनुसार जो सद्योमुक्ति कही गई है वह भी तब प्राप्त होती है जब स्वतन्त्र भक्तिसे भगवत्सायुज्य अधिकारी जीव होता है, इसकारणसे ही सकल वेदोंके अर्थका ज्ञाता व्यासदेवने ज्ञानफल 'सद्योमुक्ति' नहीं कही है, किन्तु ब्रह्मवेत्ताकी अर्चिरादिमार्गसे ब्रह्मलोकमें स्थिति होना फल कहा है पुनः आवृत्तिका निषेध किया है. वह फल भी भगवान्के प्रसन्न होनेसे मिला समझना चाहिये. यदि यों माना जायेगा तो मनसे वा अन्यके योग्यसे संसार ही होता है अतः ब्रह्मभावना होते हुए बिना भगवत्कृपाके संसारकी निवृत्ति नहीं होती है।।१०।।

यदि यों होवे तो भक्तोका भी संसार नाश नहीं होगा उत्तमोंको भी विष्णु लोककी प्राप्ति वा कृत्रिम वैकुण्ठमें जाना होगा, क्योंकि मायाका पर्दा लगा हुआ ही है. योगसे ब्रह्माण्ड भेद होता है. यह केवल फलका प्रकार दिखाया है

उसकेलिये कोई अधिकारी नहीं उत्पन्न होता है. ब्रह्माके साथके समग्र ब्रह्माण्ड नाश होते हैं. जब फल प्राप्त हुआ तो भक्तिमार्ग मुख्य शीघ्र फलदाता है यो कहना युक्त नहीं है. ऐसी शंका होने पर उत्तरमें निम्न श्लोक कहा है:

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ! पुंसाम्।
यद्-यद् धिया त उरुगाय! विभावयन्ति तत्तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।।११।।

हे नाथ! जिन जीवोंने श्रवणेन्द्रिय द्वारा आपके मार्गका ज्ञान प्राप्तकर लिया है उनके हृदय कमलमें ही आप विराजते हैं. हे उरुक्रम भगवन्! आप प्रेमी भक्त जब जिस-जिस बुद्धिसे जैसे रूपके दर्शनकी इच्छा करते हैं, तब विशेष प्रकारका अनुग्रह करनेकेलिए वैसे स्वरूपसे प्रकट हो उनको दर्शन देते हैं।।११।।

दैवादिमें जो प्रेम(रति) है उसे भाव कहते हैं अर्थात् भगवान्में प्रेमलक्षणा भक्तिभाव है वह प्रीति(प्रेम) तो भगवान्के माहात्म्यज्ञानसे उत्पन्न होती है, वह प्रेम ही भगवान्से सम्बन्ध कराता है. इसलिए वह प्रेम ही भगवान्से मिलनेका सत्य उपाय है, कामादिसे उत्पन्न योग उपाय नहीं है किन्तु वहां भगवान्का प्रमेयबल ही साधन(उपाय) बनता है, प्रमाणमार्गमें तो यह ही व्यवस्था है, अतः प्रेमयोगसे शुद्ध किया हुआ, भगवद्विषयक माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेह यदि हृदयमें स्वाभाविक धर्म बन जाता है तब वह भक्त हृदय कमलरूप हो जाता है. जिसका प्रमाण यह है कि उस हृदयमें किसी प्रकारकी विषय वासनाका स्फुरण भी नहीं होता है. ऐसी दशामें भी यदि चित्तको पूर्वकी तरह प्रेमसे फिर शुद्ध किया जाता है तब भगवान् उसमें विराजते हैं भगवद्गुणानुवाद श्रवणमें जिसने मार्ग देख लिया (जान लिया) है, जब श्रवण(कान) भगवद्गुणानुवादसे रिक्त(खाली) होंगे तो भगवान्ने निकलकर बाहर जानेका मार्ग देख ही लिया है. 'ननु' पद निश्चयार्थ कोमल सम्बोधनवत् दिया है, हे नाथ! यह पद युक्तिकेलिये दिया है अर्थात् यह नाथ है इनका(भक्तोंका) भगवान् ही पति हैं, जिससे वह भार्या (स्त्री)के गृहमें विराजते ही हैं. किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि यह(भगवान्) पुरुषों(जीवों)का पति है.

भगवत्सायुज्य होने पर हृदयमें भगवत् स्थिति कैसे रहेगी? जिसके उत्तरमें श्लोकका उत्तरार्ध कहा है. 'हे उरुगाय!' बहुतोंसे बहुत प्रकारसे गाये हुए अनन्तमूर्ति भगवन्! आपके जिस-जिस रूपके दर्शनकी भक्त भावना करते हैं वह, वह रूप वैकुण्ठ रूप वा अवतररूप आदि प्रकट करते हो, कारण कि आप

भक्तों पर ही उत्तम विशेष अनुग्रहसे भक्तजन यहां ही अपनी इच्छानुसार भगवान्में सायुज्यादि जो चाहते हैं वे पाते हैं।।११।।

इस प्रकार ज्ञान तथा भक्तिमार्गका निरूपणकर अब साधन निरूपण करते हुए इस श्लोकमें बताते हैं कि भक्तिमार्गके साधनोंकी अपेक्षा ज्ञानमार्गका साधन(सर्वभूतों पर दया करनी) भगवान्के प्रसन्न करनेका उत्तम हेतु है :

नाऽतिप्रसीदति तथोपचित्तोपच्चारैः आराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः।
यत्सर्वभूतदयया सदलभ्ययैको नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा।।१२।।

जो दया दुष्टोंके हृदयमें उत्पन्न ही नहीं होती ऐसी सर्वभूत दयासे प्रभु अतिशय प्रसन्न होते हैं किन्तु जिन देवोंने हृदयमें अनेक कामनाएं धारणकर बहुत बड़े-बड़े उपचारोंसे भगवान्की पूजा की है, उस पूजासे वे प्रसन्न नहीं होते हैं. कारण कि भगवान् पृथक् सर्व जीवोंके हृदयमें उनके सुहृद् एवं अन्तरात्मा बनके सावधान रहते हैं।।१२।।

साधन भक्ति करनेके मुख्य अधिकारी देव हैं. उनकी पूजाके साधन भी दिव्य पुष्प हैं. उनमें प्रभु प्रसन्न नहीं होते हैं. साधारण रूपमें प्रसन्न हो के भी तथा उनका काम्यफल देते हुए भी अत्यन्त प्रसन्न नहीं होता है, क्यों अतिशय प्रसन्न नहीं होते हैं? जिसका कारण बताते हैं कि ''हृदि बद्धकामैः'' उन्होंने अपने हृदयमें कामनाओंको बांधकर रख छोड़ा है. भगवान् हृदयमें तब पधारते हैं जब उन (भगवान्)को अपना समझते हैं. इन्होंने तो भगवान्से विशेषको अपना समझ उनको भगवान्के विराजनेके स्थान हृदय पर दृढ़ स्थान दे दिया है. यदि हृदयमें कामनाओंको साधारणरीतिसे स्थान दिया होता तो उनको भगवान् दूर भी कर देवें, किन्तु ये कामनाएं जो दृढमूल हो के किसका नाशकर निवृत्त होती है जो बद्ध होता है वह निश्चयसे अपना स्वकीय दे देता है. अतः दैत्योंका वध करनेकेलिए पूजे गए भगवान् दैत्योंका तो वधकर इनकी कामनाएं पूर्ण करते हैं, किन्तु इन पर प्रसन्न नहीं होते हैं. जिसका कारण बताते हैं कि ''नानाजनेषु अवहितः सुहृदन्तरात्मा''. भगवान् सर्व प्रकारके जीवमें उनको सुहृत् एवं अन्तरात्मा होकर सावधानतासे विराजते है. इसलिये जो अपने हितार्थ दूसरोंको दुःख देते हैं सबमें समबुद्धि रख दया नहीं करते हैं, उन पर प्रभु विशेष प्रसन्न होकर कृपा नहीं करते हैं, जैसे देवों पर. तब भगवान् क्या करनेसे प्रसन्न हो कृपा करते हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि सर्वभूतों पर दया करनेसे ही जैसे विशेष प्रसन्न होते हैं वैसे उस बाहरकी पूजासे प्रसन्न नहीं

होते हैं. सर्वभूतों पर प्रत्येकको साधारण दया तो करनी चाहिये, क्योंकि जीवकेलिये विशेष दया करना अशक्य है. वह दया कैसे करनी वह उपाय बताते है कि अपने चित्तमें उन(भूतमात्र)के हित की भावना करनी और उनकेलिये भगवान्‌की प्रार्थना करनी कि हे प्रभु दयानिधे! इन भूतों पर कृपा कीजिये, जिसका शास्त्रमें निषेध न हो. इस प्रकार देह सम्बन्ध रखता, भगवान्‌को प्रसन्न करनेका कारण एक ही वह है, जिस एकसे सबका हित होता हो वह है दया. यदि इतना सरल उपाय है तो, सब दया क्यों नहीं करते हैं? 'जिसके उत्तरमें कहते हैं कि सरल होते हुए भी आसुरी जीवोंके हृदयमें दया कभी भी उत्पन्न नहीं होती है–इसके तीन हेतु हैं जिस कारणसे यह भगवान् सात्त्विक आदि समस्तजनोंमें जब सावधान होकर विराजते हैं तब सर्वका हित समान ही चाहते हैं. यदि कहीं हों, कहीं न हों तो जहां पूजा होती हो वहां प्रसन्न हो जाते, किन्तु सर्वत्र सावधान विराजनेसे कहीं पूजा और कहीं अपराध हो तो प्रसन्न नही होते हैं. लोकमें भी जिसको पैर पर चोट लगाकर सिरमें पूजन किया जाय तो वह प्रसन्न नहीं होता है–वैसे ही प्रभु सर्वत्र विराजते हैं एवं सब प्रभुके ही शरीर है अतः किसीको सुख किसीको दुःख देनेवाले पर कभी भी प्रभु प्रसन्न नहीं होते हैं कारण कि सर्वके सुहृत् हैं–इसलिये क्वाचित्(कोई थोड़ा) अपराध करने पर भी प्रसन्न नहीं होते हैं, किन्तु आप सबकी अन्तरात्मा हैं. अतः अन्तःकरणसे किये पूजाके साधनोंसे प्रसन्न होते हैं, न कि बाहरके दिखावटी साधनोंसे प्रसन्न होते हैं अतः जिस प्रकारसे भगवान् प्रसन्न होते हैं वह ही साधन है–दूसरे तो परम्परासे रूढ़िगत साधन हैं जिनसे भगवान् वास्तवमें प्रसन्न नहीं होते हैं यह निश्चय है।।१२।।

इस ही आशयको कहते हुए पूर्व कहे हुए निर्णयका उपसंहार निम्न श्लोकमें करते हैं :

पुंसाम् अतो विविधकर्मभिरध्वराद्यैः दानेन चोग्रतपसा व्रतचर्यया च।
आराधनं भगवतस्तव सत्क्रियार्थो धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद् द्रियते न यत्र।।१३।।

अतः पुरुष जो यज्ञ, दान, उग्रतपस्या और व्रतचर्यासे आप(भगवान्)का आराधन करते हैं. यह ही क्रिया(कर्म)का सदर्थ है(सच्चा आशय है) क्योंकि वह सर्व आपको ही वहां अर्पण किया जाता है जिससे वह धर्म(आराधना) कभी भी नाश नहीं होता है।।१३।।

आप(भगवान्)का आराधन ही मनुष्योंके सत्कर्मका अर्थ(फल) है वह

आराधन लौकिक, वैदिक दोनों प्रकारसे किया हुआ हो यज्ञकूप आदि बनवाने, ये कर्म देवोंको प्रसन्न करनेवाले हैं, 'दान' कर्म मनुष्योंको प्रसन्न करनेवाले हैं, उग्रतपस्या कर्म अपने एवं देहको प्रसन्नता करनेवाला है, 'व्रतचर्या' व्रत करनेसे अन्तःकरणको प्रसन्नता(शुद्धि) होती है. इसी तरह लौकिक, अलौकिक भेदसे सर्वकर्म आर्ष(भगवान्)की आराधनाके रूप हैं अथवा उनके हेतुरूप हैं–यों ये सत् क्रियाके मूलरूप होते हैं. धर्म तो पुरुषार्थ होनेसे स्वतन्त्र फलरूप है अथवा अभ्युदय एवं निःश्रेयसका हेतु होनेसे यों है, तो फिर कैसे कहते हो कि सर्वको भगवदाराधना ही फल देनेवाली है? इसका उत्तर देते हैं कि यह सर्व प्रकारका आराधन प्रभुको अर्पण किया जानेसे धर्म है और वह भी ऐसा धर्म बन जाता है जो कदापि नाश नहीं होता है. यदि धर्म, फलकेलिये, वा स्वतन्त्र किया हुआ हो तो, वह धर्म कीर्त्तनसे अर्थात् धर्म अन्योंको बतानेसे नाश होता है. ढोंग किया हुआ पुण्य भी नाश हो जाता है. धर्मको किये हुए वर्ष हो जावे तो गृह भी नाश होता है; किन्तु नाश क्यों होता है इसलिए कि वह भगवदर्पण नहीं किया गया है. भगवदर्पित होनेसे उस धर्मका भगवान्से सम्बन्ध हो जाता है जिससे अक्षय फलवान् होके नाश नहीं होता है।।१३।।

इस प्रकार शास्त्रोंका सकल अर्थ निरूपणकर अब निम्न ६ श्लोकोंसे भगवान्को प्रणाम करते हैं :

शश्वत् स्वरूपमहसैव निपीतभेद–मोहाय बोधधिषणाय नमः परस्मै।
विश्वोद्भवस्थितिलयेषु निमित्तलीला–रासाय ते नम इदं चकृमेश्वराय।।१४।।

जिस प्रभुने निरन्तर अपने स्वरूपके तेजसे भेद और मोहान्धकारको नाशकर डाले हैं, जो प्रभु ज्ञान बुद्धिवाले हैं एवं विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय की निमित्तरूप लीला ही जिसकी रास(क्रीड़ा) है, ऐसे आप प्रभुको नमस्कार है कारण कि आप ही नियामक पर उत्तम स्वरूप हैं।।१४।।

भगवान्के नमनीयरूप छः हैं जो ब्रह्मा(चतुर्मुखवाले)से पहलेके हैं. उनको पृथक्–पृथक् गिनकर दिखाते हैं

१.शेषशायी नारायण
२.पुरुष
३.सर्वतत्त्व सहित जो प्रकृति है उसका पति पुरुष
४.कालरूप

५.यज्ञस्वरूप भगवान् एवं
६.पुरुषोत्तम(क्षराक्षरातीत).

इनमेंसे इस हृदयमें दर्शन देनेवालेको अनेक आवश्यक धर्म कीर्तन करते हुए नमन करते हैं यदि कदाचित् यह पौढ़ा हुआ स्वरूप मोहात्मक हो? इस शंकाको मिटानेकेलिए इनको मोहादिका अभाव निरूपण करते हैं. अथवा यह अक्षररूपब्रह्म हैं, पौढ़े हुए स्वरूपका वर्णन आगे दो श्लोकोंमें कहेंगे.

यह स्वरूप ऐसा है जिसने अपने स्वरूपके निरन्तर प्रकाशमान तेजसे ही भेद तथा मोहका नाशकर डाला है. मोह और भेद ये दो ही गुण जीवत्वके साधक हैं, अतः जीव, भेद एवं मोह गुणवाला होनेसे इस स्वरूपसे दूसरा स्वरूप है, अर्थात् यह स्वरूप जीवस्वरूप नहीं है, क्योंकि इस स्वरूपमें जीवके दोषरूप भेद एवं मोह नहीं है तथा जीवके गुणोंसे भी इसमें विलक्षणता है. जैसे कि जीवकी बुद्धि अज्ञानवाली होनेसे जड़ है. इस स्वरूपकी बुद्धि ज्ञानमयी है अतएव(इस कारणसे) ही यह स्वरूप पर होनेसे नियामक है इसलिये ऐसे स्वरूपको प्रणाम है.

इस प्रकार स्वरूपका वर्णनकर अब इसके कार्यका वर्णन करते हैं. विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय 'निमित्त' जो लीला है वह जिसकी 'रास' अर्थात् क्रीड़ा है. अथवा इस क्रीड़ामें जिसको रससमूह प्राप्त होता है वह अक्षरात्मक आप ही हैं न कि दूसरा है. अतः नमस्कार करते हैं. ''ते नम इदं चकृमेश्वराय इदम्'' पदसे साष्टाङ्ग नमस्कार सूचित किया है. 'चकृम' बहुवचनसे यह बताया है कि अपने भीतर जो भी जीव हैं उन सबके साथ नमस्कार करता हूं. यह प्रणाम शिक्षार्थ है. यह समझनेकेलिये 'ईश्वराय' पद कहा है, अर्थात् वह स्वरूप सर्वसमर्थ है. यदि वह सर्वसमर्थ न होवे तो बिना उनकी कृपा सम्पादन करनेके जीव(ब्रह्मा) कार्यकर ही न सके, अर्थात् उस सर्व समर्थकी कृपासे ही ब्रह्मा उनका बताया हुआ कार्यकर सकता है।।१४।।

इस श्लोकमें पुरुषरूपको नमस्कार करते हुए सकल पुरुषावतारोंको नमस्कार कहते हैं अथवा पूर्व श्लोकमें सामान्य प्रकारसे भगवद्रूपके कीर्त्तनसे प्रणाम किया विशेष तो छः रूप हैं, उनमें प्रथम पुरुषादि अवतार हैं, वे जन्मे हैं ऐसा किसीको भ्रम हो तो उसको मिटानेकेलिये उनके दोषोंका परिहार करते हुए नमस्कार करते हैं:

यस्यावतार–गुणकर्म–बिडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।

तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतम् ऋतं तमजं प्रपद्ये।।१५।।

जिनके नाम अवतारोंके गुण तथा कर्मोंके अनुकरण करनेवाले वा परिचायक हैं, जिनको मनुष्य प्राण जानेके समय विवश होते हुए भी लेते हैं तो अनेक जन्मोंके पापोंको शीघ्र ही त्याग, खुले हुए द्वारवाले ब्रह्मरूप अक्षरको पाते हैं उस अजन्मा प्रभुकी शरणमें जाते हैं।।१५।।

परमात्माके अवतार, गुण तथा कर्मोंका केवल अनुकरण करते हैं. जिससे उसके देवकीनन्दन! दयालो! गोवर्द्धनधरणधीर! ये नाम प्रसिद्ध हुए हैं इन नामोंको जो प्राणी, प्राण त्याग समयमें विवश(लाचार) होते हुए भी लेते हैं, वे पूर्व जन्ममें इकट्ठे किये हुए अनेक अपने पापोंका त्यागकर खुले हुए द्वारवाले ब्रह्म(अक्षर)को पाते हैं इस प्रकार सर्वोंके सर्व पुरुषार्थ हितकर्ताको नमन करता हूं 'तमिति अजं' पदसे यह सूचित किया है कि जन्मरहित हैं. 'तं' पदसे बताया है कि गुणकर्म उसमें सहज नहीं हैं. सजातीय सजातीयको ही मानते(चाहते) हैं. अतः उत्पन्न हुए सगुण कर्मकर्ताओंके अपने सदृश रुचता है, इसलिये प्रभु वैसे ही जन्म, गुण और कर्म दिखलाकर, अपनी तरफ खेंचकर जीवोंको बन्धनसे छुड़ाते हैं. यह ही आपकी दयालुता है. वास्तवमें आपके जन्मकर्म ऐसे नहीं है, किन्तु अलौकिक हैं. अतः निर्दोषपूर्णगुणविग्रह, उस आपकी शरण लेता हूं यों कहकर प्रणाम एवं उत्पत्तिकी एकता सूचित की है।।१५।।

इस प्रकार पुरुषको अर्थात् अक्षरात्मक द्वितीय पुरुषको नमस्कारकर अब इस निम्न श्लोकमें सर्वतत्त्व सहित प्रथम पुरुषको नमस्कार करते हैं :

यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च स्थित्युद्भव–प्रलय–हेतव आत्ममूलम्।
भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहः तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय ।।१६।।

आत्ममूल अर्थात् प्रकृतिको भेदकर, उत्पति, स्थिति और प्रलयके कारणरूपमें(ब्रह्म) महादेव और स्वयं विष्य तृणरूप होके बढ़े, एक होते हुए भी बहुत प्रकार हुए वैसे भुवनद्रुमरूप भगवान्को नमस्कार है.

जो भगवान् तीन पाद हो अर्थात् तीन रूप हो बढ़े उस भुवनद्रुम(वृक्ष) रूप भगवान्को नमस्कार है, यों सम्बन्ध है. तीन पादको स्पष्ट करते हैं– मैं ब्रह्मा, 'च' पदसे तपस्या आदि, शंकर, दूसरे 'च'से अधर्म आदि, 'विभु' पदसे समर्थता बताई है स्वयं पालक विष्णु, यों तीन पादका तात्पर्य समझाकर अब उनके कार्य बताते हैं: उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय इन तीनों कार्योंके कारण(कर्ता) निश्चयसे, ये

रूप हैं–जो एक ही पुरुष अपनी मूल प्रकृतिको भेदकर बढा. कैसे बढ़ा? उसकी स्पष्टता करते हैं, महदादि तत्त्वोंके रूपसे या मरिच्यादि रूपसे बढ़े. जिसकी अधिक(अनन्त) वृद्धि हुई है, नीचे और ऊपर उसकी वृद्धि हुई है, नीचे ब्रह्माण्डके मध्यममें पृथ्वी आदिसे और कश्यपादि ऋषियोंसे ऊपर आवरणोंसे ऐसे भुवनद्रुम(वृक्ष) रूप 'सर्व' शब्द वाक्य(सर्व शब्दसे जिसका वर्णन किया जाता है) भगवान् कल्पवृक्ष हैं. उनको नमस्कार है।।१६।।

इस निम्न श्लोकमें कलात्मक भगवान्को नमन करते हैं:

लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे।
यस्तावदस्य बलवान् इह जीविताशां सद्यः छिनत्त्यनिमिषाय नमोऽस्तु तस्मै।।१७।।

मनुष्य विकर्मोंमें आसक्त बन उन कर्मोंको करता और जो सत्कर्म करने केलिये आपने कहे हैं जैसे कि आपकी सेवादि उनसे विमुख रहता है. लौकिक कर्मोंके करानेकेलिये जीनेकी आशा रखता है, किन्तु बलवान काल इसके जीनेकी आशाको शीघ्र ही तोड़ देता है, उस कालरूप भगवान्को नमस्कार है ।।१७।।

विकर्म(निन्दितकर्म) करनेमें लोक आसक्त हो रहा है और जो कल्याणकारी कर्म हैं उनको करनेमें आलस्यवश असावधान रहता है. आपके बताये हुए कर्म ''मन्मना भव मद्भक्त(मेरेमें मन लगा, मेरा भक्त हो)'' इत्यादिमें, 'भवदर्चने' आपकी पूजा, पूजारूप कर्ममें तथा आपने धर्मरूप कर्म करनेमें सदा आलस्य करता है. जबतक जीवित रहता है तब तक जीवनकी आशाका वह (काल) नाश करता है और मरनेके बाद उसे(लोकको) नरकमें डालता है यह आशय है. निकटमें ही भगवान्का अपराधकर जो बड़ा आदमी बन जाता है उसे भी मार डालता है यह बतानेकेलिये विशेषण 'बलवान्' कहा है ऐसा उपाय जो (काल भगवान्) करता है कि जीवनकालमें भी वनकी आशाको छुड़ाता है. ऐसे अलौकिककाल भगवान्को नमस्कार है।।१७।।

नीचेके श्लोकमें यज्ञरूप भगवान्को नमस्कार करता है :

यस्माद् बिभेम्यहमपि द्विपरार्धधिष्ण्यम् अध्यासितः सकललोकनमस्कृतं यत्।
तेपे तपो बहुसवोऽवरुरुत्समानः तस्मै नमो भगवतेऽधिमखाय तुभ्यम्।।१८।।

जिनको सब लोक नमस्कार करते हैं वैसे दो परार्ध(वर्ष) तक आसन पर बैठा हुवा मैं भी जिनसे भयभीत हूं(डर रहा हूं) और जिनको प्राप्त करनेकेलिये

बहुत यज्ञकर तपस्या की है उन आप यज्ञके स्वामी(अधिष्ठाता, भगवान्)को मैं नमस्कार करता हूं।।१८।।

काल दो प्रकारका है १.यज्ञको प्रवृत्ति करानेवाला यशरूप २.लौकिक! लौकिक कर्म पहले कहा अब यज्ञात्मक कर्म कहे जाते हैं. ''**स्वधर्मनिष्ठः शत-जन्मभिः पुमान् विरञ्चिताम् एति ततः परं हि माम्**''(भाग.पुरा.४।२४।२९) पुरुष सौजन्योंमें स्वधर्ममें निष्ठावाला होकर उसका पालन करें तब ब्रह्म पद पाता है. अतः मैं सहस्त्र अश्वमेधयज्ञोंके करनेसे ब्रह्मा बना हूं. अब भी बहुत यज्ञोंसे एवं तपस्याओं द्वारा उससे भी उपर जानेकी इच्छाकर रहा हूं, अर्थात् प्रभुका सायुज्य ही चहाता हूं, इस प्रकार यद्यदि यज्ञपुरुष मेरा अभीष्टकर रहा है तो भी कालसे मैं भी डर रहा हूं, क्योंकि यह मार डालेगा. यद्यपि मैं इस पद पर दो परार्द्ध वर्षकेलिये स्थापित हुआ हूं. इस आसनकी दो परार्द्ध वर्ष आयु निश्चित है इसलिये मेरे आसनका काल नियत है तो भी ईश्वरकी गति जानी नहीं जाती है इसलिये डर रहा हूं.

यद्यपि मेरे आसनका बड़ा महत्त्व है, क्योंकि सर्व लोक उनको पूजते एवं नमन करते हैं. तो भी वह काल महान बलवान् है. मुझे भी नहीं छोड़ेगा, इसलिये मैं डरता हूं. स्वभावसे मैं बहुत यज्ञ करता हूं, तो भी तपस्याकर रहा हूं. एवं अतिदुर्धर्ष यज्ञोंके अधिष्ठाता देव जो आप हैं उस आपके स्वरूपको नमस्कार है।।१८।।

इस श्लोकमें पुरुषोत्तमको प्रणाम करते हैं:

तिर्यङ्-मनुष्य-विबुधादिषु जीवयोनिष्वात्मेच्छयात्मकृत-सेतुपरीप्सया यः।
रेमे निरस्त-रतिरप्यवरुद्ध-देहः तस्मै नमो भगवते पुरुषोत्तमाय।।१९।।

विषयोंमें रति न होते हुए भी अपनी इच्छासे अपनी बनाई हुई मर्यादाके परिपालनार्थ सब तरहके तामस, राजस एवं सात्विक जीवोंकी देहोंमें जो रमण करते हैं, उन भगवान् पुरुषोत्तमको नमस्कार है।।१९।।

साधारण प्राणी, मनुष्य और देव अर्थात् तामस, राजस, सात्विक देहधारी तथा उनकी तरहके दूसरे भी तीन प्रकारके जीव हैं. इस प्रकारकी सर्वजीव योनियोंमें विषयोंमें रति(आसक्ति)वाले न होते हुए भी अपनी इच्छासे लीला विग्रह धारणकर अपनी बनाई हुई मर्यादाकी रक्षार्थ जो रमण करते हैं, मनुष्यादिको अपने तुल्य बनाकर अपने धर्मको रक्षार्थ ही कृष्णरूप वन तिर्यङ्गादि किसी भी योनिमें विषय विहीन होके भी रमण करने लगे, ऐसेको प्रणाम है, अक्षरसे भी जो

उत्तम है, लोक प्रतीतिसे समझनेकेलिये ही देह ग्रहणकी कथा है अथवा अवरुद्ध देह, जिसने देह धारणको रोक रखा है, देहादि धारण करनेकी इच्छा मात्र भी नहीं है. देह भी नहीं है, तो भी स्वरूपसे ही आनन्दरूप बनकर ही रमण करते हैं।।१९।।

निम्न दो श्लोकोंसे कार्य और कारण रूप दो अवस्थाओंका निरूपण करते हुए नारायण स्वरूपको नमन करते हैं :

योऽविद्ययानुपहतोऽपि दशार्धवृत्त्या निद्राम् उवाह जठरीकृत लोकयात्रः।
अन्तर्जलेऽहिकशिपुस्पर्शानुकूलां भीमोर्मिमालिनि जनस्य सुखं विवृण्वन्।।२०।।

जो पञ्चपर्वा अविद्यासे उपहित(स्थापित) नहीं होते हुए भी, लोक समूहको उदरमें रखकर, मनुष्योंको सुखका स्वरूप समझाते हुए, भयंकर तरंगोंकी मालावाले जलके भीतर, सर्पकी कोमल शैय्याके स्पर्श अनुकूल सुखपूर्वक निद्रा ले रहे हैं (उस प्रभु नारायणको प्रणाम् है)।।२०।।

जो नारायण पञ्चपर्वा अविद्यासे स्थापित न होते हुए भी निद्रा ले रहे हैं कोई भी अविद्या द्वारा आत्मविस्मरण हुए बिना नींद नहीं ले सकता है. पञ्चपर्वा अविद्या स्पष्ट न कहकर जो 'दशार्धवृत्त्या' पद दिया है जिसका आशय है कि जैसे विद्याके पांचपर्व हैं वैसे ही अविद्याके पांचपर्व हैं, दोनों समान पर्ववाले हैं. भगवान् जैसे विद्याके किये हुए उपकारके बिना जगते रहते हैं वैसे ही अविद्यासे स्थापित न होते हुए भी स्वतः स्वेच्छासे नींद ले रहे हैं. यों कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्का जगना, नींद लेना, विद्या एवं अविद्याके कार्य नहीं हैं. यों जतानेकेलिए मात्र वैसी लीला करते हैं. किञ्च निद्रा समय लोकसमूहको उदरमें समा लिया है. जैसे लोकको स्वप्न आता है, वैसे ही अब इसमें लोकसमूह है, यह ही स्वप्नका कर्त्ता नींद सहित है अर्थात् नींद ले रहे हैं, अर्थात् ऐसी लीलाकर रहे हैं, अतः स्वरूपमें कार्य करते हुए भी वह कार्य मायिक ही करते हैं. जो अभी भी नींद लेते हुए कार्य करेंगे तो आगे पैदा हुआ कार्य भी असत् ही होगा, क्योंकि मूल ऐसा है. बिना बीजवाले फलोंके वृक्षकी तरह किञ्च भयानक तरंगोंकी मालावाले जलके भीतर सर्पकी कोमल शैय्याके स्पर्शानुकूल सुख निद्रा ले रहे हैं. कोई भी जलके मध्यमें नहीं सोता है. उससे भी वह जल तरंगोंसे विक्षिप्त हो तो कदापि नहीं सोता है. उस दशामें भी सर्प शैय्या पर सोना तो तामसी अवस्था है. इस प्रकार जलके मध्य सोना सर्वथा अनुचित है. खलबलवाली शय्या पर सोना बहुत परिश्रमका सूचक है, जिसमें भी सर्प पर सोना तो मृत्युके कारणोंकी परवाह न कर

सोये हैं इसका सूचक है.

यदि यों है तो फिर ऐसे शयन क्यों कर रहे हैं? इस पर कहते हैं कि ''जनस्य सुखं विवृण्वन्'' इति ''जगत्में उत्पन्न होनेवालोंको सुख स्वरूप समझानेकेलिए यों शयन किया है'' अर्थात् मनुष्यको ऐसी अवस्था प्राप्त हो तब सुख मिलता है. अतः इस प्रकारकी स्थिति होते ही, यदि सृष्टि उत्पन्न होगी तो उद्भूत होनेवालोंका मोक्ष होगा नहीं इस प्रकार अवस्थाका वर्णन ब्रह्माने इसलिए किया है कि इस अवस्थाके परित्यागार्थ प्रार्थना करेंगे।।२०।।

सृष्टिके आदिमें प्रभुने कार्य किस प्रकार किया उस अवस्थाका निम्न श्लोकमें वर्णन करते हैं :

यन्नाभिपद्मभवनाद् अहम् आसम् ईड्य! लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण।
तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योगनिद्रावसानविकसन् नलिनेक्षणाय।।२१।।

हे स्तुति करने योग्य सर्वेश्वर! जिस आपके नाभि कमलरूप भवनसे मैं उत्पन्न हुआ, एवं जिस आपकी कृपासे तीन लोकरूप गृहोपकरण(सामग्री)वाला हुआ हूं उन आपको नमस्कार हैं. आपके ही उदरमें समग्र जगत् रहा हुआ है, तथा योगनिद्राके अन्तसमयमें आपके नेत्रकमल खिल जाते हैं, अतः आप स्तुत्य भी हैं।।२१।।

जिसके नाभिकमलरूप भवनसे मैं(ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ हूं, उसको नमस्कार है, यों सम्बन्ध है. यदि कोई शंका करे कि जब वे आपके पिता हैं तो केवल नमन करना चाहिये, स्तुतिकी आवश्यकता नहीं है. इसके उत्तरमें 'हे ईड्य' पद दिया है, कि यद्यपि पिताके संबंधसे नमन ही करना है, किन्तु आप केवल पिता ही नहीं हैं बल्कि सर्वकेलिये स्तुति करने योग्य भी हैं, अतः आपको स्तुति करनेके बादमें ही कोई भी कर्म करना चाहिए.

जिस आपके अनुग्रहसे ही मैं तीन लोकरूप उपकरण(गृह वस्तुओं) वाला हुआ हूं. वैसे लोकमें मनुष्यको गृहवस्तु(घर, वस्त्र) आदि होती हैं, वैसी मेरी भी तीन लोक गृह वस्तु हैं. इस प्रकारके उपकरण आपके अनुग्रहसे ही प्राप्त हुए हैं. अतः वैसे अनुग्रहकर्त्ता आपको प्रणाम है. प्रणामका प्रयोजन बताते हैं कि सकल लोक आपके उदरमें स्थित हैं. अतः आप कृपा करके देवो तो सृष्टि हो सके अन्यथा नहीं हो सके. निद्राके समय तो नमन करना उचित नहीं है. इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते हैं कि ''योगनिद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय'' जब सृष्टि

करनेका समय होता है तब योगनिद्राका अवसान(अंत) होता है उस समय आपके कमलनेत्र खिल जाते हैं. अर्थात् तब आप निद्रित नहीं होते हैं, उसके सिवाय आपको निद्रा, स्वरूप विस्मृतिरूप नहीं है, किन्तु आपकी निद्रा भी अन्य अपनी शक्तियोंके समान एक शक्ति है. जिससे योगनिद्रा लेते हुए भी आपका स्वरूप विस्मृति नहीं होता है. इसलिये निद्रित आपको नमस्कार किया जावे तो भी अनुचित नहीं है, किन्तु मैं सृष्टिके आरम्भमें जब प्रणाम करता हूं. तब आपके कमलनेत्र खिले हुवे होनेसे आप जागृत ही हैं.

जैसे 'सृष्टि' एक प्रकारकी आपकी शक्ति है, वैसे ही योगनिद्रा भी आपकी ही शक्ति है. दोनों बहिन हैं और दोनों समानकालमें रहनेवाली हैं. वह (योगनिद्र) भगवान्में प्रलयके समयमें रहती है. प्रलयके आरंभ समयमें उसके प्रथम अंशका सम्बन्ध होता है और प्रलयके अन्तमें अन्तिम अंशका भगवान्से सम्बन्ध होता है. जिससे प्रलयका अन्त हो जाता है अतः ऐसे समय नमन उचित ही है. क्योंकि यह निद्रा अवसान(अन्त)का समय है. इस प्रकार प्रणामकर अपने इच्छित पदार्थोंकेलिये चार श्लोकोंसे प्रार्थना करते हैं.

ब्रह्माको भगवान्ने सृष्टि रचनाकेलिये उत्पन्न किया है, अतः इसका अन्यकार्य करनेमें अधिकार नहीं है, किन्तु सृष्टि करनेकेलिए पदार्थज्ञान चाहिए. ज्ञान बुद्धिका संयोग न होवे तो सृष्टिकर नहीं सकते. अतः पदार्थज्ञान प्राप्तकर पश्चात् सृष्टि करनी चाहिए. इसलिए चित्त अवश्य भगवत्परायण होना चाहिए क्योंकि भगवान्के उपयोगमें आवे ऐसी सृष्टि करनी है. वेदोंकी भी विस्मृति नहीं होनी चाहिये यदि वेदका ज्ञान नहीं होगा तो पातकीपन प्राप्त होगा जिससे पातकीको किया हुआ कार्य पुरुषार्थोंके उपयोगी नहीं बनता है. कार्य उपयोगी हो तदर्थ विषादत्याग संतोष धारणकी आवश्यकता रहती है. अतः चार प्रकारके वेदोंकी प्रार्थना करते हैं. उनमेंसे पहले भगवान्से ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध होनेकी प्रार्थना करते हैं. यद्यपि सृष्टि करनेकी सामर्थ्य पहलसे विद्यमान है, तो भी बुद्धिमें उद्वेग होनेसे उस सामर्थ्यकी स्फूर्ति नहीं है. जिससे सृष्टि विषम हो जावेगी अतः ज्ञानपूर्वक भगवत्सम्बन्ध अवश्य चाहिए।।२१।।

सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा सत्त्वेन यन् मृडयते भगवान् भगेन।
तेनैव मे दृशम् अनुस्पृशताद्यथाहं स्रक्ष्यामि पूर्ववद् इदं प्रणतप्रियोऽसौ।।२२।।

सकल जगतोंका मित्र एक आत्मरूप जो भगवान् है वह अपने सत्त्वरूप

'भग'(गुण)से जगत्को सुखी करते हैं. उस प्रभुसे ही चाहता हूं कि जैसे मैंने पहले सृष्टि की अब भी वैसे ही कर सकूं तदर्थ मेरी दृष्टिका स्पर्श करो अर्थात् मेरी वैसी दिव्य दृष्टि करो, ये प्रभु प्रणत प्रिय हैं अर्थात जो आपकी शरण ले आपको प्रणाम करते हैं वे आपको प्रिय हैं।।२२।।

वे ये ही भगवान् हैं जो अपने सत्त्वसे जगत्को सुखी करते हैं उनसे ही मेरी दृष्टिका स्पर्श(सम्बन्ध) हो भगवान् सबके हितकारी हैं, उदासीनतारहित हैं. अतः सृष्टि रचनेमें भगवान्का ज्ञान आवश्यक होनेसे अपेक्षित है. इसकेलिए तीन विशेषण हैं

१.समस्त जगतोंके मित्र
२.एक ही(अकेले) और
३.आत्मा, दिये हैं.

अकेला होनेसे सर्वत्र आप समान एक ही स्वभाववाले हैं. सबकी आत्मा होनेसे सबकेलिये आपकी आवश्यकता है. ज्ञानपूर्वक सुखके कारणभूत सत्त्वगुणसे सकलको सुखी करते हैं, यह विषय प्रसिद्ध ही है, सृष्टि रचनेका कार्य प्रसिद्ध ही है, इसलिये कहा नहीं है. 'भगेन' पदसे सूचित किया है कि वह सत्त्वात्मक भग(गुण) ऐश्वर्यादि गुणोंका उपलक्षक(रूप) है. उससे मेरी दृष्टिका स्पर्श (सम्बन्ध) हो ऐसी प्रार्थना की है. उससे क्या होगा? इसलिये कहते है कि जैसे मैने आगे सृष्टि रची वैसे अब भी रच सकूंगा. इस स्पर्शसे उद्वेग, अज्ञान और विषमता नष्ट हो जायेगी, तब पूर्वकी तरह सृष्टि बनाऊंगा. ऐसी शक्ति कैसे देंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिये कहते है कि ''प्रणत प्रियोऽसौ'' इस भगवान्को वे प्रिय हैं, जो शरणपूर्वक प्रणाम करते हैं, अतः इन प्यारोंको सब कुछ दे देते है, यह ही वैसे दयालु प्रभु हैं, अन्य ऐसे नहीं है।।२२।।

इस श्लोकमें ब्रह्मा भगवान्की प्रार्थना करता है कि मेरा चित्त सदैव आपके चरित्रोंके परायण रहे:

एष प्रपन्नवरदो रमयाऽऽत्मशक्त्या, यद्यत् करिष्यति गृहीतगुणावतारः।
तस्मिन् स्वविक्रममिदं सृजतोऽपि चेतो युञ्जीत कर्मशमलं च यथा विजह्याम्।।२३।

यह शरणागतोंको वर देनेवाले भगवान् गुणावतार धारणकर अपनी रमा शक्तिसे जो-जो कार्य करते हैं(करेगें), उसमें यदि जगत् रचते हुये मैंने अपना पराक्रम समझा वो कर्म करनेसे पाप लगेगा. वह पाप न लगे, तदर्थ मेरा चित्त

आपमें ही पिरोया हुआ हो, अर्थात् रचनेमें अपना पराक्रम न समझ आप द्वारा की हुई लीला है, यों समझूं।।२३।।

यदि मेरा चित्त भगवच्चरित्रोंके परायण न होगा तो मैं जगत्का कर्ता हूं ऐसा अभिमान मुझे उत्पन्न होगा, इस प्रकारके प्रमाद(मूल)से विषम कृतिसे उत्पन्न दोष लगेगा तथा नाश होगा. यह चरित्र(जगत् रचनेकी लीला) भगवान्ने ही सत्त्वांशसे किया है. अथवा ज्ञानसहित अंशसे किया है. अथवा किसी विशेष प्रकारके भेदसे किया है, किन्तु यों करनेसे वह कृति(लीला) वैसा आनन्द नहीं देती है, जैसे होना चाहिये. अतः प्रभु अपनी आत्मशक्ति ब्रह्मानन्दरूपा रमा(लक्ष्मी) द्वारा भेदको मिटानेकेलिये ही शरणागतोंके वरदानार्थ जो-जो लीला करते हैं, वे भी अपने अधिकारानुसार गुणावतार धारणकर ये गुणावतार 'यत्रोद्यतः' इत्यादि श्लोकोंसे(२।७।१) कहे हैं. अथवा जो सर्व भगवदीयगुण पुरुषमें स्थित थे वे प्रकट हुए. वे गुणावतार उन प्रकट गुणोंको धारणकर जो पदार्थ(सृष्टि) बनायेंगे वे भगवदीय होंगे. काल, कर्म और स्वभावसे बने हुए पदार्थोंसे पृथक् प्रकारके होंगे. सामान्यरीतिसे वह रचनेका अधिकार मुझे मिला है. उसके भी कर्त्ता मैं ही हूं, किन्तु उस आपके किए इस चरित्र(सृष्टिरचना)में आपका पराक्रम होनेसे यह भवगदीय जगत् बनाते हुए भी मेरा चित्त आपके चरित्रमें ही सदा लगा रहे, यह ही उचित है. यद्यपि कालादिके द्वारा की हुई सृष्टिके समय चित्त भगवच्चरित्रमें आसक्त रहे यह उचित है क्योंकि चरित्र परायण होनेसे चित्तमें न गर्व होगा और न भगवत्विस्मृति होगी. भगवदीय सृष्टिमें उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवदीय सृष्टिमें उपयुक्त दोष उत्पन्न नहीं होते हैं. इस पर कहते हैं कि इसमें दो दोष होते हैं. उनके निराकरण करनेकेलिए चरित्र परायण होना उचित ही है. ये भगवदीय सृष्ट पदार्थ हैं. अतः यदि इनसे अणुमात्र भी भगवदिच्छासे विपरीत कृति हुई तो भगवान्का द्रोह हो जायेगा और सृष्ट पदार्थोंका शाप लगता है इन दोनों दोषोंको मिटानेकेलिए भगवान्के पराक्रमसे इस जगत्को रचते हुए भी चित्त भगवान्में लगा रहना चाहिए. यही युक्त(योग्य) है. किञ्च कर्मसे सर्वथा पाप ही लगता है क्योंकि रचनामें रचे हुए सकल पदार्थोंका पूर्वहित हो नहीं सकता है. वह पाप न लगे यदि पाप लगे तो भी छूट जावे, इस प्रकार मेरा चित्त सदैव आपके चरित्र परायण रहे।।२३।।

रूपसृष्टि, नामसृष्टिके आधीन है अतः करनेका ज्ञान हो तदर्थ वेदके

ज्ञानकी अपेक्षा(जरूरत) है. इसलिये जैसे वेदोंको भूल न जाऊं ऐसी प्रार्थना इस श्लोक में करते हैं:

नाभिह्रदाद् इह सतोऽम्भसि यस्य पुंसो विज्ञानशक्तिरहम् आसम् अनन्तशक्तेः।
रूपं विचित्रम् इदम् अस्य विवृण्वतो मे मा रीरिषीष्ट निगमस्य गिरां विसर्गः।।२४।।

यहां जलमें निवास करनेवाले जिस पुरुषके नाभि कमलसे विशेष ज्ञान शक्तिवाला जो मैं उत्पन्न हुआ हूं उस अनन्तशक्तिके विचित्र रूप(सृष्टि)का विस्तार करते हुए उस मुझ वेदवाणीका आचरण(ज्ञान) नष्ट न हो।।२४।।

यहां जलमें विराजमान जिस पुरुषके नाभिकमलसे(नाभिरूप ह्रदसे) विशेष ज्ञान शक्तिवाला मैं उत्पन्न हुआ हूं. उस ही अनन्त शक्तिवाले पुरुषके विचित्ररूपका विस्तार करते हुए मुझसे वेदोंकी स्मृति नष्ट न होवे 'इह सतः' पदसे यह ध्वनि(आशय) निकलती है कि आगे इसका तिरोभाव होनेवाला है. यदि यों है तो फिर प्रार्थना करनेका प्रश्न उत्पन्न नहीं होता है. ऐसी अवस्थामें दूसरेसे पूछिये? इस पर कहते हैं कि आपसे उत्पन्न होनेके कारण आपसे ही पूछना उचित है. दूसरेसे पूछना अनुचित है. जब आप विज्ञान शक्ति वाले हैं तो आपको विस्मृति कैसे होगी. इस पर कहते हैं कि इस सृष्टिका विचित्ररूप विस्मृतिमें कारण है 'नाभिह्रदात्' (नाभिकी गहराई) पदसे ढूंढनेके परिश्रमका सूचन किया है. भगवन्! आप अनन्तशक्ति हैं अतः वेदोंको भूलूं नहीं ऐसे दान देनेकी शक्तिवाले हैं. 'अहम्' पदसे यह सूचित किया है कि, जिस आपकी कृपासे मैनेइतनी पदवी प्राप्त की है. वह कृपा आगे भी निभानी(करनी) चाहिए. 'अस्यरूपम्' पदसे 'हलान्तं ब्रह्म वर्चसम्' वत् अर्थात् जैसे ब्राह्मण हल नहीं लेता है तबतक उसका ब्रह्मवर्चस रहता है इस न्यायानुसार इस विचित्र सृष्टि करनेसे वेद स्फूर्तिका कारणरूप जो धर्म है उसके नाशकी सम्भावना है और 'च' पदसे भगवदपराध होनेकी भी सूचना की है. विसर्गका तात्पर्य है वासनासहित परित्याग, प्रायश्चितकी तरह त्याग नहीं. 'रीरिषीष्ट' पदका व्याकरणानुसार विवरण करते हैं[१].

वेदमें अनेक प्रकारका कहा हुआ सर्ग एवं ब्रह्माके वाक्य सर्व वेदरूप हैं. 'निगमस्य(वेदस्य) गिरां' कहनेका आशय है कि सिवाय वेदके अन्योंके स्मरणकी मुझे आवश्यकता नहीं है. अन्य प्रकारसे जो वेद विस्मृत न होवे कहा है, जिसका आशय है कि, आपके वरदानसे मुझे केवल वेदका सदा स्मरण रहे ही, कदापि वेद भूलूं नहीं. ''अतएव मा लुप्यताम्'' इस कारणसे वेदस्मृतिका लोप नहीं. ऐसी

प्रार्थना है अथवा प्रश्नरूपमें इसका यों आशय हो सकता है कि ब्रह्मा अन्तमें प्रार्थना करनेके बाद निश्चयकेलिए भगवान्से प्रश्न करते हैं कि आपके वरके मिलनेके बाद यह वेद भूल तो न जाऊंगा।।२४।।

१.'रिष्' धातु हिंसा अर्थवाला है. उसकी धातुके इच्छार्थक अद्यतन भूतकालका रूप 'रीरिषीष्ट' बनता है. 'मा' शब्दका सम्बन्ध होनेसे अद्यतन भूतकालमे 'अ' नहीं रहता है अथवा 'ऋ' धातु 'गति' अर्थवाला है जिससे आशिर्लिङ्में 'ऋ'के बदलेमें 'री' करनेसे यह रूप बना है. इसमें थोड़े अंशोंमें अनियमितता है. (पाणि.सू.८।२।२६)के अनुसार 'रिष' धातुका रूप बनानेमें 'ष'का लोप हो जाता है.

इस श्लोकमें सन्तोष प्राप्ति और विषाद दूर करनेकी प्रार्थना करते हैं:

सोऽसावदभ्र–करुणो भगवान् विवृद्ध, प्रेमस्मितेन नयनाम्बुरुहं विजृम्भन्।
उत्थाय विश्वविजयाय च नो विषादं, माध्व्या गिराऽपनयतात् पुरुषः पुराणः।।२५।

वह यह अतिशय दयावान् पुराणपुरुष भगवान्, बढ़े हुए प्रेमसे नेत्र कमलको विकसाते हुए मधुर वाणीसे विश्वमें मेरी विजय हो, तथा सर्व प्रकारकी अनुकूलता प्राप्त हो, तदर्थ उठकर हम लोगोंके शोकको मिटा देवें।।२५।।

यह(भगवान्) उठकर(खड़े होकर) मेरे शोकको मधुर वाणीसे दूर करें, यों सम्बन्ध है. 'सः' पदसे यह सूचित किया है कि उस प्रभुमें(जिसका पूर्वमें निर्देश किया गया है) जिस प्रकारकी भी प्रार्थनाकी जाय. उस प्रार्थनानुकूल इच्छाओंके दान करने(पूर्ण करने)की सामर्थ्य है. प्रार्थित पदार्थका दान क्यों करते हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं. अतिशय दयालु हैं, अर्थात् दानमें आपकी दया ही कारण है. 'भगवान्' विशेषणसे बताया है कि वे प्रार्थना करनेके योग्य हैं. 'विवृद्ध प्रेमस्मितेन' पदसे यह सूचित किया है कि आपको जब भक्तोंके क्लेशका स्मरण होता है तब भक्तों पर आपका प्रेम बढ़ जाता है, जिससे मुस्कराते हैं. उस मुस्कानसे भक्तोंका क्लेश मिटाते हुए उनका शास्त्राग्रह भी छुडा देते हैं एवं अपने लिए उनमें मोह उत्पन्नकर देते है.

तब रूक्षता न रहे, इसलिए भगवान्की ज्ञानशक्ति(नेत्र) शीतलजलमें अर्थात् विषय सुखमें सम्बन्धित होती है, जिससे जीव भी विषयसुखसे स्पृष्ट होता (छुआ जाता) है. इसको समझानेकेलिए 'नयनाम्बुरुहं' पद दिया है. जिसका तात्पर्य है, नेत्र(ज्ञानशक्ति) ही कमल हैं. उसका विकास होनेसे(खिलनेसे) ज्ञानशक्ति बहुत विकासको प्राप्त सकल वस्तुओंका जैसा है वैसा सत्य स्वरूप

दिखा देती है. जिससे क्लेश सर्वथा ही दूर हो जाता है तथा उत्तम विकासकार्यमें (व्यक्तिसमूहमें) भी इसी तरह ज्ञान कराता है. 'उत्थाय' पदका आशय है कि उठकर कार्य करनेसे जगत्में उत्पन्न सकल सृष्टि आलस्यवाली न होगी 'विश्व विजयाय' पदका भावार्थ है कि स्वभावादिको अपने वशमें कर अपनी इच्छानुसार जगत् रचनाकर सकूं वह विश्वमें ही हो. 'च' पदसे यह आशा प्रकट की है कि विश्व अपने अनुकूल रहे. प्रथम वहां हुआ विषाद्(शोक) न रहे. 'नः' बहुवचन देनेसे यह आशा व्यक्त की है कि केवल मेरा शोक नहीं किन्तु अपने भीतर स्थित प्राणियोंका भी शोक दूर हो जावे. शोक कैसे दूर करो, इसलिए प्रार्थना करता है कि प्रायः ईश्वरकी आज्ञा कठिन होती है. बहुकाठिन्य न हो केवल स्नेह संयुक्त वचनोंसे उस(शोक)को दूर कीजिऐ आप 'पुराणपुरुष' होनेसे पितामहके समान हैं. नेत्ररूप कमलका विकास और मधुर वाणी विश्वविजयरूप इष्ट सिद्धिमें तथा विषाद(क्लेश) मिटानेमें कारण हैं, किन्तु एक(प्रथम)कारण ही कर्त्ता(ब्रह्मा)में प्रविष्ट हो अलौकिक प्रकारसे दोनों(इच्छितकी प्राप्ति और शोकनाश) कार्य करता है और दूसरा कारण(वाणी) लौकिक तरह कार्य करती है. यह सर्व वे भगवान् करेगें व नहीं? क्योंकि कार्यमें प्रविष्ट है. ऐसे उत्पन्न सन्देहको मिटाने केलिए कहते है कि भगवान् पुरुषोत्तम हैं, क्योंकि 'पुराणः' सबसे यह प्राचीन (सबकी आदि) है, अतः करेंगे ही।।२५।।

ब्रह्माने अपने लिए सर्व प्रकारकी प्रार्थना की. जैसे ब्रह्मकल्पमें भक्तिके कारण नम्र भावसे बहुत समय तक भोग भोगनेसे मध्यमें अपराध होनेके सम्भवसे तीन गुणों द्वारा हुई रुकावटको बताते हैं. भगवान्ने बहुत समयके बाद उत्तर दिया, यह तीन श्लोकोंमें कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

स्वसंभवं निशाम्यैवं तपोविद्यासमाधिभिः।
यावन्मनोवचः स्तुत्वा विरराम स खिन्नवत्।।२६।।

मैत्रेयजी कहते हैं कि तपस्या, विद्या और समाधिसे अपने पिताको यों बताकर जबतक मन और वाणीका बल चला तबतक स्तुतिकर वह ब्रह्मा खेद प्राप्तकी तरह अर्थात् उदास जैसे होकर शान्त चुप हो गया।।२६।।

तपस्यासे, उपासनासे और समाधि पर्यन्त योगसे ब्रह्माको भगवत्सबन्धी जितना ज्ञान हुआ, वह अपने पिताके पूर्व कहे हुए प्रकारसे जानकर अपने मनकी

जितनी सामर्थ्य थी, उतनी कल्पनाकर, जितनी वाणीसे कह सके उतनी स्तुतिकर भगवान्के भी मौन धारण करनेसे मनमें शंकित हुए कि अब विशेष कहनेका अवसर नहीं हैं. अतः स्वयं(ब्रह्मा) भी खिन्नकी तरह शांत चुप हो गये. खिन्नकी तरह इसलिए कहाकि एक तरफ भगवान्को प्रसन्न वदन देखा, दूसरी तरफ पूर्व खेदकी विस्मृति होनेसे खिन्न नहीं हुआ, किन्तु उसके सदृश दीखने लगा. जैसे-जैसे स्तुति की वैसे-वैसे भगवान्का ज्ञान हुआ, यों अन्तमें ज्ञान भी कहा।।२६।।

मध्यमें भगवान्का विचार भी कालके विलम्बमें कारण हुआ. यह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

अथाऽभिप्रेतम् अन्वीक्ष्य ब्रह्मणो मधुसूदनः।
विषण्णचेतसं तेन कल्पव्यतिकराम्भसा।।२७।।

फिर ब्रह्माके अभिप्रायको जानकर उस कल्पका नाश करनेवाले जलसे खेद युक्त चित्तवाले ब्रह्माको मधुसूदन(भगवान्)ने देख(देखा)।।२७।।

काल बिलम्बसे अनन्तरता बताई है. ब्रह्मा अपने समान ज्ञान तथा ऐश्वर्य प्राप्तिकी प्रार्थना करता है. 'अन्वीक्षण' पदका आशय है कि प्रार्थनानुसार देनेका भगवान्ने निश्चय किया है. जिससे उसके देनेमें विलम्ब होने पर भी अपकार(बुराई) न होगा. 'ब्रह्मणः' पदसे बताया है कि इनके लेनेका यह अधिकारी है. इससे ऐसी प्रार्थना करने पर भी कोई अपराध नहीं होता है. 'मधुसूदन' नाम देनेका भाव यह है कि उसका हित करना भगवान्का स्वाभाविक धर्म है. जैसे-जैसे भगवान् अनिष्ट निवृत्त करते जाते हैं वैसे-वैसे इष्ट सम्पादन करते रहते हैं. 'विषण्णचेतसं' पदसे दयाका पात्र है और सूचित किया है कि अधिकारी होनेसे उसको साधनोपदेश देना शक्य है. 'तेन' पदसे जलका भगवद्रहितपन बताया है. यदि जल भगवदीय होता तो उसको उद्वेग न होता और भगवत्सम्बन्धी कार्यमें सलंग्न हो जाता. 'कल्पव्यतिकराम्भसा' पदसे सूचित किया है कि कल्पके नाश करनेका साधक यह जल है. अतः यह भगवदीय नहीं है. इसलिए ब्रह्मका चित्त खिन्न सा हुआ. इससे आगेका भगवच्चरित्र इस (ब्रह्मा)का दुःख निवारण कब होगा यों कहा है।।२७।।

ब्रह्माको जो यह दुःख था अपने दोषकेलिए था. भगवान्के कार्यकेलिए जो दुःख है वह भगवान् स्वयं दूर करेंगे. इस श्लोकमें यह वर्णन करते हैं :

लोकसंस्थान-विज्ञान आत्मनः परिखिद्यतः।

तमाहाऽगाधया वाचा कश्मलं शमयन्निव।।२८।।

ब्रह्मा इसलिए खेद पा रहा था कि लोकोंकी यथोचित देहमें स्थिति कैसे होगी? इसका ज्ञान मुझे कैसे होगा? ऐसी स्थितिवाले ब्रह्माका मानों खेद शान्त करते हुए भगवान् अगाधवाणीसे उसे कहने लगे।।२८।।

लोकोंकी देहमें यथोचित स्थिति हो उस विषयकी ज्ञान प्राप्तिकेलिए ब्रह्माको यह खेद अपने दोषकेलिए हुआ है, क्योंकि यह विदित है कि कोई भी साध्य(कार्य) साधनसे ही सिद्ध होता है. अतः जो साधन न कर साध्य(कार्य)की सिद्धि चाहता है, वह दुःखी होता ही है. तपस्यासे भी शीघ्र निवृत्त हो गये, इसमें भगवान्ने बिलम्ब की किन्तु फिर भी दयालु होनेसे ऐसे ब्रह्माकेलिए सोये हुए ही भगवान् प्रकट हो गये. ब्रह्मा तो तपस्या न कर बिना विचारे ही शीघ्र उस समय स्तुति तथा प्रार्थनाकर चुप हो गये. ऐसे उस(ब्रह्मा)को भगवान् जिसके अभिप्रायका ज्ञान न हो ऐसी वाणीसे दोनों प्रकारके दुःखोंको शान्त करते हुए साधनका उपदेश देने लगे।।२८।।

ब्रह्माने प्रार्थनाकर भगवान्से चार पदार्थ मांगे थे. उनमेंसे ज्ञान और बुद्धिके संयोग सम्बन्धी पहली प्रार्थनाका उत्तर २९वें श्लोकसे लेकर ३९वें श्लोक तक में देते हैं. चौथी प्रार्थनाका उत्तर वाक्योंसे देते हैं, जिनसे शोक दूर होता है. दूसरी प्रार्थना चित्त भगवान्में पिरोया हुआ रहे इसका उत्तर वरदानसे ही मिल जाता है. तीसरी प्रार्थना वेदोंका विस्मरण न हो, इसमें बिल्कुल अल्प प्रयास है. इस प्रकरणसे पहले यदि परिकर सहित पहली प्रार्थनाका उत्तर देते हैं, अर्थात् वह प्राप्त कराते हैं:

आलस्याभावतपसी भगवज्ज्ञानसाधने।
सर्वत्राऽन्वीक्षणं चैव ज्ञानेनैव मलक्षतिः।।का. १।।

पहली इस कारिकामें–आलस्य न करना, यह २९वें श्लोकका आशय है और तपस्या करो यह ३०वें श्लोकका आश्य है. ये दो ही उपाय भगवान्का ज्ञान प्राप्त करानेवाले हैं. सर्वत्र भगवान्का पूर्णरीतिसे ईक्षण करना(देखना),यह ३१वें श्लोकका भाव बताया है, ये ही साधन हैं. भगवत्प्राप्तिमें रुकावट करनेवाले जो मल(दोष) हैं, उनका इस भगवत् ज्ञानसे नाश हो जाता है।।१।।

चरित्रपरता हेतुर्मलाभावे विचारितः।
स ज्ञानेनैव संसिद्धो ह्यतस्तत्फलमीर्यते।।का.२।।

मल(दोष) न रहे इसका साधन, भगवान्के चरित्रोंमें तत्पर रहना ही है, यों विचार हुआ है, वह(भगवच्चरित्रमें तत्परता) ज्ञानसे ही सिद्ध होती है.अतः ज्ञानका फल इसको कहा है इस कारिकामें जो वर्णन किया है वह ३३वें श्लोकका आशय है।।२।।

सुखे हेतुश्च तज्ज्ञानं स्वसम्बन्धविशेषणात्।
गर्वाभावे वरदानाद् नाऽन्यथेति निरूपितम्।।का.३।।

वरदानसे अभिमानका नाश हुआ है. वरदान व्यर्थ नहीं गया है. इससे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह ज्ञान भगवत्सम्बन्ध बतानेवाला होनेसे सुखका कारण है. इस कारिकामें ३४वें श्लोकका भाव बताया है. भगवान्ने ब्रह्मकल्पमें ब्रह्माको वर दिया था. वह निष्फल नहीं हुआ है, यह भगवान्की विशेष कृपाका ही फल है।।३।।

स्वाभाविकस्य दोषस्य निवृत्तिश्चाप्यनुग्रहात।
मत्स्वरूपस्य विज्ञानं जातमेव तदेव तत्।।का. ४।।

भगवत्कृपासे स्वाभाविक(रजोगुण) दोषकी भी निवृत्ति हो गई. मेरे(भगवान्के) स्वरूपका ज्ञान हुआ ही है. वह ज्ञान नहीं है, अर्थात् बुद्धि सम्बन्ध करानेकेलिये जिस ज्ञानकी प्रार्थना की थी, मैंने उस ज्ञानका बुद्धिके साथ सम्बन्ध करा दिया है. इस कारिकामें ३५वें श्लोकका आशय प्रकट किया है।।४।।

मया तथैव च कृतमाविष्कारः स्तुतौ कृतः।
ममैवाऽनुग्रहात्सर्वमित्येषा ह्युपसंहृतिः।।का. ५।।

मैंने(भगवान्ने) वही किया, जो तुमने स्तुतिमें कहा था. अर्थात् मैं प्रकट हुआ. मेरी कृपासे सब कुछ होता है. इस प्रकार यह उपसंहार किया है. जो कुछ ३६वें श्लोकमें कहा है उसको सिद्ध करने वाला विषय ३९वें श्लोकमें है. वह इस कारिकाके पूर्वार्द्धमें कहा. उत्तरार्द्धमें ३८वें श्लोकका भाव बताया है कि ज्ञानके साथ बुद्धि सम्बन्ध विषयका यहां उपसंहार किया है।।५।।

द्वितीयस्योत्तरं वेदैश्चतुर्थोऽप्युक्त एव हि।
भवेदिति कृतं स्तोत्रं चरित्रं भक्तिहेतुकम्।।का. ६।।

दूसरी प्रार्थनाका उत्तर चार(३९से४२) श्लोकोंमें दिया है. चौथी प्रार्थनाका उत्तर तो कहा ही है जिसकेलिये भक्तिकी उत्पत्तिका कारण स्तोत्र कहा है–इस कारिकामें (३९से४२) श्लोकोंका भावार्थ दिया है।।६।।

नाऽन्यत्र विनियोक्तव्यं भक्तिर्नित्या न साधनम्।

वेदाविस्मरणे हेतुर्देह एव कृतः पुरा।

तदाहैकेन तेनैते कला श्लोका निरूपिताः।।का. ७।।

भक्ति साधन नहीं है, किन्तु फलरूप होनेसे नित्य कर्त्तव्य है, अतः इस(भक्ति)का दूसरे किसीकेलिये विनियोग नहीं करना चाहिये. वेदोंका विस्मरण न हो तदर्थ ही पहले ही देह बनाई है. वह अर्थ एक श्लोकसे कहा है, इसलिये ये १५ श्लोक कहे हैं।।७।।

पहले इस श्लोकमें आलस्य नहीं करना चाहिये. श्रीभगवान् यों कहते हैं:

श्रीभगवानुवाच

मा वेदगर्भ! गास्तन्द्रीं सर्गे चोद्यममावह।

तन् मयाऽऽपादितं ह्यग्रे यन्मां प्रार्थयते भवान्।।२९।।

हे वेद गर्भ(ब्रह्मा)! तू आलस्य न कर सृष्टि रचनेमें उद्यमकर, क्योंकि जिसकेलिए तु मेरी प्रार्थना करता है वह मैंने पहले ही तैयारकर दिये हैं।।२९।।

हे ब्रह्मन्! आलस्यका त्यागकर, सृष्टिकी रचनाकेलिए उद्यमकर. 'च' पदसे यह उपदेश दिया है कि साधनमें बुद्धिको लगाइये. यदि कहो कि साधन ही नहीं जानता हूं तो उसमें बुद्धि कैसे लगा सकूंगा? इस पर भगवान् कहते हैं कि वे साधन मैने पहलेसे ही तैयार कर रखे हैं. जिनकेलिए तू अब प्रार्थना करता है. 'हि' पदसे कहते हैं कि यह अर्थ योग्य ही है. यदि यह उचित न होवे तो इतने समय तक, अर्थात् जबतक मैंने प्रकट हो दर्शन दिए, साधन परम्परा स्थिर न रहे, अतः साधन सिद्ध ही है, यों समझ; आलस्य त्याग देना चाहिये।।२९।।

ज्ञान प्राप्तिकेलिए 'तप' कर यों कहते हैं:

भूयस्त्वं तप आतिष्ठ विद्यां चैव मदाश्रयाम्।

ताभ्यामन्तर्हृदि ब्रह्मन्! लोकान् द्रक्ष्यस्यपावृतान्।।३०।।

तू फिर तपस्या करके मत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्तकर. हे ब्रह्मन्! इन दोनोंसे आवरणरहित लोकोंको हृदयके भीतर देखोगे।।३०।।

जैसे पहले तप किया, वैसे ही उससे भी विशेष तप करना चाहिए. पुनः न कहकर 'भूयः' यह कहनेसे दो भावार्थ हैं. एक तो तपस्यामें श्रद्धा रखनी चाहिए. तथा मेरी उपासनाकर सको इसलिए ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, यह उपासना मेरे सम्बधवाली ही हो. यों करनेसे(उपासना और तप करनेसे) हृदयके मध्यमें ही आवरणरहित लोकोंको तू देखेगा. हे ब्रह्मन्! सम्बोधन देकर यह प्रकट किया है

कि तुम इसके अधिकारी हो. ब्रह्मभावसे रहित कोई भी अन्य हृदयोंमें लोकोंको नहीं देख सकता हैं. आवरणरहित कहनेका आशय है कि यह लोक मेरे हैं. दूसरे जीव तो तीन प्रकारके हैं जो कालादिसे आवृत नहीं रहते हैं. कितनेक कहते है कि यदि सर्व जीव आवरणयुक्त हों तो उनका त्रैविध्य हो नहीं सकता है, अथवा वास्तविकता तो यह है कि सर्व जीव आवरणरहित ही हैं।।३०।।

तत आत्मनि लोके च भक्तियुक्तः समाहितः।
द्रष्टाऽसि मां ततं ब्रह्मन्! मयि लोकांस्त्वमात्मनः।।३१।।

हे ब्रह्मा! अनन्तर(बादमें) आत्मामें(अपनेमें) और लोकमें भक्तिवाला तू सावधान होकर देखेगा कि मैं सर्वमें व्याप्त हूं और आत्माके सम्बन्धवाले मुझमें लोकोंको देखेगा।।३१।।

पश्चात् तू अपनेको तथा भीतर रहे हुए लोकोंको प्रजाके समान देखेगा तो आत्मपनके ज्ञान होनेसे, अपनेमें और लोकमें भक्ति होगी, स्नेहका अंश तो है ही और माहात्म्य भी देखा जिससे स्नेह और माहात्म्य दोनोंके मेलसे ही भक्ति होती है. लोकमें बिना आवरणके सर्व पदार्थोंके दर्शनसे भगवान्के माहात्म्यका ज्ञान होता है. लोक अपने अन्दर(भीतर) है. जिससे उनमें स्नेह तो है ही इस प्रकार दोनों(अपनेमें और लोकों)में भक्तिवाला तू होगा. यों होने पर एक दोष होनेका सम्भव है. वह दोष है भगवान्से समानता यह दोष न होवे इसकेलिए तू सावधान रहना. ये दोनों आत्मरूप हैं ऐसा ज्ञान और भक्ति स्वतन्त्र(अर्थात् अपनेलिए) नहीं हैं. किन्तु भगवान्का ज्ञान होनेकेलिए है, वह ज्ञान कब होगा तदर्थ सावधान रहना चाहिए. जब इस प्रकार सावधान रहेगा अर्थात् अपनेको भगवान्के तुल्य(समान) न समझोगे तब मेरे दर्शन होंगे, किस प्रकार होंगे, वह बताते हैं कि अपने भीतर लोकोंको और लोकोंके भीतर मेरे दर्शन होंगे. जहां ही भक्ति है अर्थात् जिसमें भक्ति है उसके भीतर ही लोक स्थित हो प्रकाशित होते हैं, अतः वह तू है इस वाक्यका ज्ञान भी ब्रह्मस्वरूपमें भक्ति होनेकेलिए है, ऐसी भक्ति होनेके बाद अपनेमें ही भगवान् स्थित हैं. यों दर्शन करोगे अपनेमें और लोकमें भक्त होने पर भगवान्का साक्षात्कार(दर्शन) कैसे होगा? इस शंकाके निवारणकेलिए कहते हैं कि 'ततं' मैं सर्वत्र व्याप्त हूं. सर्वमें फैला हुआ हूं. फिर 'ब्रह्मन्!' सम्बोधन देनेका आशय यह है कि प्राकृत विषयमें(चालू प्रसंगमें) भी आपका अधिकार है. इसकी सूचना देनेकेलिए है. तब मुझमें भक्ति है ही यह

सिद्ध हो जायेगा उस वक्त मेरेमें गये(रहे) हुए भी उनको ही देखोगे, इसलिए कहा है ''आत्मसम्बन्धवाले मेरे भीतर लोकोंको देखोगे''।।३१।।

इस प्रकारके ज्ञान प्राप्त करनेसे कौनसा प्रयोजन सिद्ध होगा ? इस शंकाको मिटानेकेलिए निम्न श्लोकोंमें क्रमशः ज्ञानका प्रयोजन बताते हैं इसमें पहले बताते हैं कि लोकमें सर्वत्र व्याप्त भगवत् स्वरूपका ज्ञान सर्व दोषोंको मिटा देता है. सर्व पदार्थोंका अधिष्ठान भगवान् ही हैं. ऐसा ज्ञान हो जाने पर फिर आगे कोई भी दोष हो, ऐसा सम्भव नहीं रहता है. ''**यो माम् अजम् अनादिं च**'' इस भगवद्गीताके वाक्यानुसार भगवज्ज्ञान होने पर सकल पापोंका नाश हो जाता है. अतः इस प्रकारके व्याप्त ज्ञानकी अज्ञान निवृतिमें जिस रूपकी अपेक्षा है वह रूप कहते हैं:

यदा तु सर्वभूतेषु दारुष्वग्निमिव स्थितम्।
प्रतिचक्षीत मां लोको जह्यात् तर्ह्येव कश्मलम्।।३२।।

जैसे काष्ठोंमें अग्नि व्याप्त है वैसे मैं सर्वभूतोंमें स्थित हूं यों जब लोक मुझे देखते हैं तब पापों(अज्ञान)से छूट जाते हैं।।३२।।

जैसे काष्ठ(लकड़ी)में अग्नि व्याप्त है वैसे भगवान् सर्वभूतोंमें व्याप्त हैं यों जब लोक भगवान्को देखते हैं तब पापोंसे छूट जाते है अर्थात् उनके पाप स्वतः नाश हो जाते हैं किन्तु यदि भगवान्को आकाशकी तरह व्याप्त देखते हैं तो पापोंसे छूटते नहीं हैं अर्थात् उनका अज्ञान नष्ट नहीं होता है कारण कि आकाश लोकोंसे आच्छादित है वह लोकोंके दूर हो जानेसे दीखता है, परन्तु अग्नि जैसे मन्थन करनेसे प्रकट हो दर्शन देती है वैसे आकाश नहीं, किन्तु प्रभु भी काष्ठमें अग्निकी तरह सर्वत्र व्याप्त होनेसे योग एवं भक्ति द्वारा नित्य मनसे चिन्तन करनेसे बाहरकी आर्द्रता(गीलापन) तप द्वारा निवृत करने आदि मन्थनसे प्रभु प्रकट हो दर्शन देते हैं, स्थित तो पहले ही हैं.

जो अग्नि सर्व काष्ठमें व्याप्त है वह एक काष्ठके मन्थन करनेसे उसके सर्व अवयवोंसे जो अग्नि प्रकट होती है वह अग्नि सर्वत्र व्याप्त अग्निका ही रूप है, क्योंकि अग्नि एक ही है, वह प्रकट अग्नि दूसरी है इसकेलिये कोई प्रमाण नहीं है. इसी प्रकार विचारकर योग द्वारा भगवान्को सर्वत्र देख सकता है, वह देखना भी परीक्षापूर्वक होता है. तब सर्व लोकोंका सर्व कश्मल(पाप और अज्ञान) नष्ट होता है अतः लोकमें भी जब यह अर्थ सिद्ध ही है तो तुम्हारे कश्मल नाश होनेमें कौनसा संदेह है? कोई नहीं है. तब ही कहा है कि जबतक भगवद्दर्शन नहीं हुआ है

तबतक साधन और साध्य प्राप्तिके बीच वाले कश्मल नाश होनेमें रुकावट रहती है।।३२।।

दूसरे जो, दो ज्ञान हैं : १.मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान. २.अपने भीतर प्रजा है ऐसा ज्ञान. भगवान्में प्रजाएं हैं ऐसा ज्ञान सर्वको है, इसलिए उस ज्ञानका यहां निर्देश नहीं किया दूसरे दोनोंका फल स्वाराज्य है, यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

यदा रहितम् आत्मानं भूतेन्द्रिय गुणाशयैः।
स्वरूपेण मयोपेतं पश्यन् स्वाराज्यमृच्छति।।३३।।

जब भूत, इन्द्रियां, गुण और अन्तःकरणरहित केवल स्वरूपमात्र आत्माको मेरे अन्दर देखता है तब स्वाराज्य प्राप्त करता है।।३३।।

यह कथन औडुलौमिके मतानुसार है. महाभूत, इन्द्रियां, गुण एवं अन्तःकरण बिनावाले आत्माको चेतनरूप स्वरूपसे, मेरे अन्दर रहे हुवे आत्माको देखता है तब स्वाराज्य(भगवत्स्वरूपके आनन्द)का अनुभव करता है अथवा अपनेमें विद्यमान जीवों पर अधिपत्य प्राप्त करता है।।३३।।

अपने भीतर विद्यमान् जीवोंको जब सन्ततिकी तरह उत्पन्न करोगे तब तुम्हारे हृदयमें आलस्यादि कोई दोष उत्पन्न न होगा यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

नानाकर्मवितानेन प्रजा वह्वीः सिसृक्षतः।
नात्माऽवसीदत्यस्मिन् ते वर्षीयान् मदनुग्रहः।।३४।।

तुझ पर मेरी विशेष कृपा है, जिस कारणसे, अनेक कर्मोंका विस्तार करते हुए जो विविध प्रजाएं उत्पन्न करोगे तो भी तेरा अन्तःकरण अप्रसन्न न होगा अर्थात् खेदको प्राप्त न होगा।।३४।।

जैसे बहुत कार्य करनेवाला बहुत काष्ठादि उपकरणको पहले प्रसारता (इकठ्ठा करता) है फिर उन सबका यथोचित उपयोग करता है उसी तरह तू भी देव, तिर्यक्, मनुष्यादिकी उत्पत्ति करनेवाले कर्म(उपकरण)को इकट्ठाकर जो यदि यथायोग्य प्रजाओंको रचोगे तो कर्मानुसार करनेसे तेरी आत्मा अर्थात् अन्तःकरण खिन्न न होगा. यह केवल ज्ञानसे न होगा. दूसरे सहकारीको भी इसमें आवश्यकता होती है. वह सहकारी क्या है? उसको 'ते वर्षीयान् मदनुग्रहः' पदसे कहता है इस कार्य करनेमें तुझ पर मेरी अनुग्रह वर्षा हुई ही है. ब्रह्मकल्पमें दिया हुआ वर अबतक स्थिर है अर्थात् चालू है।।३४।।

उस कृपाका स्वरूप तथा उसके कार्यका भी निम्न श्लोकमें स्पष्टीकरण

करते हैं:

ऋषिम् आद्यं न बध्नाति पापीयान् त्वां रजोगुणः।
यन् मनो मयि निर्बद्धं प्रजाः संसृजतोऽपि ते।।३५।।

पापी रजोगुण, तुम आद्यऋषिका बन्धनकर्ता नहीं होगा प्रजाओंको उत्पन्न करते हुए भी तुम्हारा जो मन है वह मुझमें ही लगा हुआ होगा इस कारणसे पापी रजोगुणका प्रभाव तुम पर नहीं चल सकेगा।।३५।।

अत्यन्त पापी रजोगुण जो गर्व उत्पन्न करनेवाला है और प्रजा उत्पन्न करने आदिमें विक्षेप(उद्वेग) करनेवाला है वह आद्यऋषि जो तुम ब्रह्मा हो उसका बन्धनकर्ता नहीं हो सकेगा, इस प्रकार मेरा अनुग्रह तुम पर है. क्योंकि तुम्हारा मन सतत् मेरे परायण है. भगवान्में लगा हुआ मन अथवा गुणातीत शुद्ध सत्त्वरूपमें तत्पर मन, उस मन पर रजोगुण अपना प्रभाव नहीं डाल सकता है. पूर्ण अभिप्राय पूर्वक प्रजाओंकी रचना करनेवालेका मन रजोगुणसे प्रभावित होता ही है, क्योंकि कर्मका वैसा ही स्वभाव है जो मनुष्य कूपसे बाहर स्थिर खड़ा है तो उसका पैर कूपमें लटकता हुवा होने पर भी वह मनुष्य कूपमें कभी भी नहीं गिरता है. वैसे ही मुझमें जिसका मन स्थिर-स्थित है उसका रजोगुणसे व्याप्त(प्रभावित) कदापि नहीं होता है।।३५।।

इस प्रकार ज्ञान होने पर रजोगुणसे मुक्त आपका दर्शन होता है. मुझे जो आपके सम्बन्धका ज्ञान होने पर दर्शन हुआ है वह साक्षात् स्वरूपका दर्शन हुवा है या प्रतीककी प्रतीति हुई है? ऐसा ब्रह्मको यदि संशय हो तो उसका निराकरण करनेकेलिए निम्न श्लोक भगवान् कहते हैं:

ज्ञातोऽहं भवता त्वद्य दुर्विज्ञेयोऽपि देहिनाम्।
यन् मां त्वं मन्यसे युक्तं भूतेन्द्रियगुणात्मभिः।।३६।।

यद्यपि देहधारियोंको मेरा ज्ञान होना कठिन है, तो भी तूने मुझसे ज्ञान लिया है. पहले तो तू मुझे महाभूत, इन्द्रियां और गुणोसे युक्त जानता था।।३६।।

'तु', पदसे यह सूचित किया है कि तुम मुझे जैसा मानते थे वैसा मानना सत्य नहीं था. 'अद्य' पदका भी यही आशय है, तुम्हारा पूर्वका ज्ञान सत्य नहीं था. पहले भगवान्को बाहर स्थित जानकर, समझता था कि यह क्रिया(साधन)से प्राप्त करने योग्य हैं. आज तो उससे विपरीत जानने लगे हो कि भगवान् तो सर्वमें भीतर व्याप्त हैं. तपसे भक्तिसे प्रकट हुए उस भगवान्को देखकर, विचारपूर्वक जो अब

समझे हो वही सत्यज्ञान है. इसलिये कहा है कि 'ज्ञातोऽहम्' मैंने जाना इसमें कौनसा आश्चर्य है. क्योंकि बहुत ही ब्रह्मवेत्ता आपको जानते हैं, इस पर कहते हैं कि देहधारियोंको मैं 'दुर्विज्ञेय' ही हूं. देहके अभिमानी जैसे अपनी देहको देखते हैं वैसे ही मेरी देहको पांचभौतिकका समर्थक समझते हैं न कि मुझे अर्थात् मेरी देह(स्वरूप)को ब्रह्मरूप(व्यापक व अलौकिक दिव्यस्वरूप) समझते हैं.

जैसे जिस पुरुषके भीतर काम वासना नहीं है जो कामिनीके स्पर्श होते हुए भी उसमें काम जाग्रत नहीं होता है. कामके अभावमें नारी भी पुरुष जैसी ही मालूम होती है. इसी तरह सच्चिदानन्द स्वरूपवाले भगवान् प्राकृत देहके अभिभानीको आत्मस्वरूपसे देखनेमें नहीं आते हैं, क्योंकि उसका लौकिक विषयोंके सुखोंमें ही विनियोग होता रहता है. अपना इसी तरह विनियोग होनेसे भगवान्की भी अपने समान देह ही मानते हैं. अत: प्रभुका ज्ञान देहाभिमानियोंको होना कठिन है. किञ्च जिस कारणसे तुम भी पहले मुझे [१]महाभूत, [२]इन्द्रियां, [३]गुण और [४]अन्तःकरण चतुष्टय युक्त समझते थे. यदि यों नहीं समझते तो बाहर नहीं ढूंढता।।३६।।

१.पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश पांचतत्त्व जो देहको बनानेवाले हैं. २-दोनों तरहकी कर्म और ज्ञान इन्द्रियां. ३-विषय. ४-मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार.

इसलिये ही मैंने अपने स्वरूपका उस समय दर्शन नहीं कराया था. यों कहते हैं:

तुभ्यं मद्विचिकित्सायां नात्मा मे दर्शितो बहिः।
नालेन सलिले मूलं पुष्करस्य विचिन्वतः।।३७।।

मेरे जाननेकी इच्छासे तुम जलमें कमलकी नालकी मूलमें मुझे ढूंढ़ रहे थे, इस कारणसे मैंने तुम्हें बाहर अपना स्वरूप नहीं दिखाया।।३७।।

तुम्हें मेरे स्वरूपके जाननेकी चित्तमें इच्छा थी. इसी कारणसे मैंने अपने स्वरूप का दर्शन तुम्हें बाहर नहीं कराया. यदि दर्शन कराता तो तुम्हें उस समय जो असत् ज्ञान था वह तुम्हारी बुद्धिमें स्थिर हो(ठस) जाता, जिससे मेरे स्वरूपका सत्यज्ञान नहीं हो सकता था. इसलिये यद्यपि मैं तुम्हारे अन्दर और बाहर स्थित था तो भी तुम्हें वैसा असत् ज्ञान न हो, इसलिये अपना आत्मस्वरूप बाहर न दिखाया. मैंने जो इस प्रकार लीला की वह भ्रान्त होकर की थी. यों तुम नहीं कह सकोगे. क्योंकि यदि मैं दर्शन देता तो तुम जलमें कमलनालमें भीतर ढूंढने न जाते. तुम भीतर भी मुझे समझकर ढूंढने जाओ इसलिये बाहर दर्शन नहीं दिया।।३७।।

तो अब मैने जान लिया इसमें क्या प्रमाण है ? इस पर कहते हैं:

यच्चकर्थाऽङ्ग! मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम्।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः।।३८।।

हे अङ्ग!(हे पुत्र) तुमने मेरी कथा(स्तोत्र) मेरे अभ्युदयके लक्षण युक्त कहीं, अर्थात् इस स्तोत्रसे अपना ज्ञान प्रकटकर दिखाया, एवं तपस्यामें निष्ठा सिद्धकर दिखाई यह सर्व मेरा अनुग्रह ही है, जिससे कहते हैं।।३८।।

हे अङ्ग! तुमने मेरा स्तोत्र(स्तुति) किया है. यदि कहो कि केवल स्तोत्रसे स्वरूप ज्ञान कैसे होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि वह स्तोत्र, मेरी कथा(गुणानुवाद) तथा सर्वसे उत्कर्ष दिखानेवाला था, जिसके द्वारा तुमने मुझ सम्बन्धी सर्वज्ञान प्रकटकर दिखाया है. उस स्तोत्रमें मेरी ही कथा(गुणानुवाद) है. इसके सिवाय दूसरा अन्य किसीका उसमें सम्बन्ध मात्र नहीं है, जो कुछ उसने कहा वह मुझ सम्बन्धी ही था. इस स्तोत्रसे यह भी समझनेमें आ गया कि तुमको मेरा विशेष ज्ञान है. जिससे इसमें मेरा सर्वोत्तम स्वरूप, और चरित्र कहा हुआ है. ऐसा ज्ञान मुझे पहले क्यों न हुआ ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि तुम्हारे तपमें निष्ठा भी हुई, तब ज्ञान पूर्णतः सिद्ध हुआ. 'यद्वा' पदसे यह सूचित किया है कि पूर्वार्द्धका तात्पर्य फिर उत्तरार्द्धमें प्रकाशित करते हैं.

जो तुमने इस प्रकारका स्तोत्र किया और तपस्यामें तुम पूर्ण निष्ठावान् हुए. यह सर्व मेरा ही अनुग्रह है. इससे पहले मेरा अनुग्रह नहीं था. जिससे दर्शन नहीं हुए पीछे अब अनुग्रह हुआ तब दर्शन हुए.

तपस्यासे दर्शन नहीं हुए हैं. तपस्या तो केवल अनुग्रह सूचक है दर्शन तो वास्तवमें अनुग्रहसे ही हुए हैं।।३८।।

ब्रह्माको ज्ञान और बुद्धिका संयोग पहले हुआ ही है. यों कहकर उसका प्रतिपादन किया है. अब भगवच्चरित्र परायणताकेलिए जो प्रार्थना की है. उस प्रार्थनाकी सिद्धिको कारण 'प्रीतोऽहमिति' श्लोकसे ४ श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

प्रीतोऽहम् अस्तु भद्रं ते लोकानां विजयेच्छया।
यदस्तौषीर्गुणमयं निर्गुणं माऽनुवर्णयन्।।३९।।

जिस प्रकार मैं प्रसन्न हुआ हूं, वैसे ही तथा तुम्हारा कल्याण हो, क्योंकि लोकों पर विजय प्राप्त हो, ऐसी इच्छासे निर्गुण एवं सगुण प्रकारसे मेरा वर्णन करते हुए तुमने मेरी स्तुति की है।।३६।।

जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब ही चित्त भगवान्के चरित्रोंमें तत्पर हो जाता है. भगवान् कैसे प्रसन्न हों? इसकेलिए निश्चय नहीं है. इस पर भगवान् स्वयं कहते हैं कि जब मैं शुभ होने की इच्छा करता हूं, तब समझना चाहिए कि मैं प्रसन्न हूआ हूं. जो परमप्रिय हैं वह शुभकी इच्छा प्रकट करता है. अतः सर्व प्रकारसे आराधन किये हुए प्रभु जब परमप्रिय होते हैं, तब कृतिसे प्रीति अनुसार कार्य करते हुए भी उसका कालादि वश होनेसे किसी भी अंशसे कार्य अनुकूल नहीं होता हो तो भी फिर भजन करने पर भी भगवान्को प्रसन्न करना अशक्य समझता है, तो भी सत्यवादी एवं सत्यसंकल्पवाले प्रभु उसको इच्छित ही चाहते हैं तो भगवान्के सत्यवादीपन सर्व प्रतिबन्धोंको निवृति होनेसे भगवान्को प्रसन्न करनेमें वह उपयोगी हो जानेसे उसके सर्व कार्य सिद्ध हो जाते हैं, जिससे उनको प्रसन्नता प्रकट होती है. इस प्रकार होनेसे अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता हैं. ''ते भद्रम् अस्तु'' इस पदकी योजनासे भी यह ही अर्थ अपेक्षित होता हैं. अर्थात् प्रभु शुभेच्छा प्रकट करें, यह अपेक्षा ही रहती है.

अनुवादमें 'अस्तु' यह प्रार्थना उत्पन्न नहीं होती है, जो प्रार्थित देनेका समय होने पर भी 'अस्तु' यह लोहलकीर(निश्चित) अनुवाद ही है. अतः तेरा कल्याण ही है. अर्थात् तेरी बुद्धि भगवान्के चरित्र परायण होगी. लोकोंको अपने आधीन करना यह तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी. यदि कहो कि मुझे तो चरित्र परायणता ही इच्छित हैं, न कि लोक मेरे आधीन हो, यह अभीष्ट है. इस पर उत्तर्राद्ध कहते हैं. 'यदस्तौषीरिति' यदि लोक पर विजय करनेकी इच्छा न होती तो इस प्रकारका अनन्त गुणोंसे पूर्ण निर्गुण स्तोत्र(स्तुति) न करते निर्दोषपूर्णगुणविग्रह कहकर जो मेरा वर्णनकर स्तुति की है जिससे जाना जाता है कि ऐसे गुणोंकी तुमको अभिलाषा है।।३९।।

तो केवल स्तोत्रसे कैसे इतना फल प्राप्त होगा, अपने अभिलषितके कीर्त्तन मात्रसे ही अपना अभिलषित प्राप्त नहीं होता है. इस पर कहा है:

य एतेन पुमान् नित्यं स्तुत्वा स्तोत्रेण मां भजेत्।
तस्याऽऽशु संप्रसीदेयं सर्वकामवरेश्वरः।।४०।।

जो पुरुष इस स्तोत्रसे नित्य मेरी स्तुतिकर मेरा भजन करे तो सर्वकामेश्वर, मैं उस पर भी शीघ्र प्रसन्न हो जाता हूं।।४०।।

यदि इस स्तोत्रसे दूसरा कोई भी स्तुति करे तो उस पर भी जब मैं प्रसन्न

होता हूं तो कौनसी बड़ी बात है. इस स्तोत्रसे स्वतन्त्र पुरुष नित्य मेरा भजन करें भगवत्सेवा व पूजामें यह स्तोत्र अर्थके अनुसन्धानपूर्वक मानों स्वयं बताता हुआ तुम्हारे समान स्तुति करे और स्तुतिकर सेवा करता रहे तो उस पर मैं शीघ्र प्रसन्न होता हूं. परिचर्या सेवाका अंग स्तुति नहीं है, किन्तु प्रसाद(अनुग्रह) सेवाका फल है. स्तुतिका फल शीघ्रता है, अर्थात् स्तोत्रसे मैं जल्दी प्रसन्न होता हूं.

शीघ्रताका आशय है कि स्तोत्रसे कालकृत दोष जिससे देरी होती है, वह निवृत हो जाता है, उससे क्या हो? इस शंका पर कहते हैं कि 'सर्व कामेश्वरः' जितनी भी लोकमें कामनाओंकी सिद्धियां हैं, उनका ईश्वर मैं हूं. इसलिए मैं जिस पर प्रसन्न हुआ उसकी कामनाएं स्वतः(अपने आप) सिद्ध हो जाती हैं यह ही कहनेका अर्थ(तात्पर्य है)।।४०।।

स्तोत्रसे कामनाओं की सिद्धि होती है यों क्यों नहीं कहते हो? परम्परा कहनेकी क्या आवश्यकता है? इस शंका पर यह श्लोक कहा है:

पूर्तेन तपसा यज्ञैः दानैर्योगैः समाधिना।
राद्धुं निःश्रेयसं पुंसां मत्प्रीतिस्तत्त्वविन्मतम्।।४१।।

कूपादि खुदवानेसे तपसे, यज्ञोंसे, दान देनेसे, योगोंसे और समाधिसे पुरुषोंका मोक्ष होता है. यह ही मेरी प्रीति(प्रसन्नता)है. इस प्रकार तत्त्व जाननेवालोंका मत है।।४१।।

'पूर्त' पदसे जीवोंको जल प्राप्तिकेलिए कूप(कूए) आदि खुदवाना कहा है. 'तप' शब्द कष्ट आदि देकर शरीर शोषण कहा है. 'यज्ञ' पदसे अग्निष्टोमादिको साधन समझकर करना कहा है. 'दान' पदसे तुला पुरुषादि दान करना कहा है. 'योग' शब्दसे आत्मसंयम कहा है, 'समाधि' पदसे चित्तकी एकाग्रता बताई है इसी तरह बाहरके धर्मोंसे तथा केवल विषयभोगके न करनेसे और कार्यके अभाव रूप(कर्म न करना) शरीरके धर्मसे, और काया-वाणी और मनसे किये हुए वैदिक कर्मोंसे लोकोपकारक कर्मोंके करनेसे, इन्द्रियां एवं अन्तःकरणके विरोधसे, तथा इसी तरह सर्व प्रकारके धर्म करनेसे भी फल सिद्ध होता है और नितरां श्रेयोरूप मोक्षका भी फल मिलता है, इन सब फलोंका विचार किया जाय तो वास्तविक फल कौनसा है, उसको ही फल कहा जा सकता है, जो साधन न होवें, किन्तु फलस्वरूप हो, एवं अफल भी जो न हो वही वास्तवमें फल है. मोक्ष भी सकल पुरुष नहीं चाहते हैं क्योंकि मोक्ष, केवल सर्व विषयोंकी निवृत्ति करना मात्र है

अतः वह भी फल ही नहीं है जैसे वैषयिकोंकी एक कथा है.

''अपि वृन्दावने शून्ये शृगालत्वं स इच्छति,
न तु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम!''

हे गौतम! जनरहित वृदावनमें वह शृगाल बनना पसन्द करता है किन्तु विषयरहित मोक्ष पसन्द नहीं करता है. अतः सर्वसाधारणको एक ही ऐसा निर्णय करना चाहिए जो सर्वको उपयोगी होवे, अर्थात् सबकेलिए फलरूप हो. इस विषयमें सत्पुरुषोंका निर्णय यह है कि मेरी प्रसन्नता ही फल है. वे सत्पुरुष सर्व वस्तुओंका वास्तविकस्वरूप जाननेवाले हैं. अतः उनकी यही सम्मति है कि भगवत्प्रसन्नता ही फल है।।४१।।

आपने अपनेमें प्रीति होनेके बहुत कारण(साधन) बताये हैं. उनमेंसे आपको प्रसन्न करनेवाला मुख्य साधन कौनसा है? इस प्रकारकी आकांक्षा होने पर भगवान् स्वयं हेतु सहित अपनी प्रसन्नताका साधन जीव सम्मत्यर्थ(अर्थात् जो जीवको भी योग्य लगे वह) इस श्लोकमें कहते हैं:

अहमात्मात्मनां धातः! प्रेष्ठ सन् प्रेयसामपि।
अतो मयि रतिं कुर्याद् देहादिर्यत्कृते प्रियः।।४२।।

हे धाता! लोकमें जो भी प्रिय हैं, उनसे भी अधिक प्रिय मैं हूं, क्योंकि आत्माओंका भी आत्मा मैं हूं. इसलिए जिस(आत्मा)केलिए देह आदि प्रिय होते हैं, उन आत्माओंके आत्मा, मुझमें प्रेम करना चाहिए।।४२।।

समस्त आत्माओंका आत्मा मैं हूं. जैसे सकल गंगाजलकी आत्मा गंगा है, जैसे सर्व मृतिकाओंकी आत्मा स्थूल पृथ्वी है और जैसे पत्रशाखादिकी आत्मा वृक्ष हैं. इसी तरह मैं सर्व आत्माओंकी आत्मा हूं. इन तीन दृष्टान्तोंसे यह सूचित किया गया है कि जीव एवं परमात्माका अंशांशी सम्बन्ध ही है, न कि कोई अन्य सम्बन्ध है. 'धात!' सम्बोधन ब्रह्मको सावधान करनेकेलिए है. अपनेको सर्वकी आत्मा कहनेसे क्या फल है? आपको उनका आत्मा बननेसे हानि ही है कारण कि आप पूर्ण हैं. वे क्लिष्टक्लेश संयुक्त(दुःखी) हैं, यों(आत्मा) कहनेसे उनका भी उपकार नहीं, क्योंकि वे स्वतः दुःखी हैं जो वास्तवमें हितकर्ता नहीं होता है, स्वयं चेतनरूप नहीं और न स्वतन्त्र पुरुषार्थरूप हैं. एवं न सत् है, उसके ज्ञानसे क्या लाभ? जैसे लोकमें जो पुरुष स्वतः स्वयं दानी नहीं है, उसको जान लेनेसे वह दानी बन जायेगा क्या? नहीं बनेगा. इसलिए यह भगवान्का कथन केवल

अनुवादरूप ही है. ऐसी शंका होने पर कहते हैं ''प्रेष्ठः सन् प्रेयसामिति'' लोकमें जो भी प्रिय पदार्थ हैं, उनमें सबसे प्रिय मैं हूं. अतः प्रेमका विषय 'मैं' होनेसे मुझमें ही 'इति' प्रेम करना चाहिए. देह आदिमें रति(प्रीति) नहीं करनी चाहिए. देह आदि तो आत्माके सम्बन्धी होनेसे प्रिय है. सर्वका सर्व हित मैं ही करता हूं, किन्तु जीवोंका मुझमें स्नेह न होनेसे वे उस सुखको ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः यदि मुझमें रति(प्रेम) करें, तो स्नेहसे वह सुख ग्रहणकर कृतार्थ हो सकें. ज्ञान भी इसलिए है कि मेरा किया हुआ ग्रहण करें. यदि भिन्नतासे भी भजन हो तो भी भजनके फलरूपमें सुखको ग्रहणकर सकते हैं. भिन्नता समझ जो पूजन होता है, वह पूजन अज्ञानके कारण होता हैं. यह अज्ञानकृत पूजन, उस कर्ताके विचारसे इष्ट(प्रिय) है, किन्तु मेरे विचारानुसार वह श्रेष्ट(इष्ट) नहीं हैं. इसलिए नहीं कहा. ज्ञानकी अपेक्षा भी प्रीतिसे शीघ्र मेरा कहना मान लेता है, जिससे प्रीति ही कही गई है. प्रेमियोंको अपना सब कुछ ही दिया जाता है. विशेष क्या कहा जाय, स्वतन्त्रता भी उनको दे दी इसलिए कहा गया है कि 'कुर्यात्' प्रेम करना चाहिए. प्रीति आदि करनेको जो कहा है वह भी उनको प्रसन्न करनेकेलिए जिससे वे प्रेम करे. वास्तवमें तो मेरे किये हुएको ग्रहणार्थ मुझमें प्रेम ही करना चाहिए. मैं सर्वज्ञ स्वभावसे प्रसन्न ही हूं. मेरा कहा ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिए मैं अप्रसन्न ही होता हूं. जैसे कोई अपनी स्वयं ही अपकीर्ति कराते अप्रसन्न होता है वैसे मेरे कहे हुएका ग्रहण न होनसे अप्रसन्न होता हूं. मैं अप्रसन्न न हो जाऊ अर्थात् प्रसन्न होऊ इसीलिए मुझसे प्रेम न कर सके, ऐसी शिक्षा देता हूं कि नित्य प्रेम करना चाहिए. इसी तरह प्रेम करनेसे ही चित्त भगवान्में सदैव लगा रहता है जो कुछ भगवान् करे वह भगवच्चरित्र ही है।।४२।।

इसी तरह दूसरे प्रश्नका उपपादानकर(समझाकर) अब वेद विस्मरणरूप तृतीय प्रश्न को समझाते हैं:

सर्ववेदमयेनेदम् आत्मनात्मात्मयोनिना।
प्रजाः सृज यथापूर्वं याश्च मय्यनुशेरते।।४३।।

आत्मामेंसे उत्पन्न तू वेदमय इस देहसे जैसे पहले प्रजाओंको रचि थी, वैसे अब भी मुझसे जो प्रजा सम्बन्धित हो रही है, उन सबको प्रकट कर।।४३।।

यह तेरी देह वेदमय ही है. अतः रचनेमें वह तेरी(देह) विरोधी नहीं होगी. इसलिए इस करणरूप देहसे सब पैदा कर. तबतक ही वेद रहेंगे, अर्थात् वेद

विस्मरण नहीं होगा. यदि कहो कि वेदरूप करण(साधन) कैसे होंगे? इसका उत्तर देते हैं कि देह मात्र करण(साधन) नहीं है किन्तु जिस देहके साथ प्रयत्न भी जुड़ा हुआ है, ऐसी देह करण है. जैसे अपने प्रयत्नका दूसरेमें उपयोग कराकर चक्र दण्डे आदिको घड़ेकी रचनामें साधन कहा जाता है, किन्तु वास्तवमें मुख्य साधन अपनी देह ही है. वैसे वास्तवमें आत्मा ही कारण है. इसलिए 'आत्मना' पदसे कहा है कि आत्मासहित देहसे यों कहकर आत्मा एवं देहका एकीभाव बताया है. तू आत्मा है, इससे मेरेमें रही हुई सामर्थ्य तुझमें रखी है. इससे तू सबकुछ कर सकता है जीव जैसे आत्माएं हैं वैसे मैं भी हूं, तो फिर मुझमें सामर्थ्य कैसी होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'आत्मयोनिना' तू आत्मासे उत्पन्न हुआ है, मुझसे उत्पन्न होनेसे तुझमें सर्व सामर्थ्य सिद्ध ही है. अतः जैसे पहले सृष्टि की थी, वैसे अब भी कर और जो प्रजा मुझसे सम्बन्धवाली अर्थात् भगवदीय है उनकी भी सृष्टिकर, ऐसी आज्ञा की है–इस प्रकार चारोंप्रकारके जीवोंकी सृष्टि तुझे करनी चाहिए।।४३।।

इतना उपदेश ब्रह्माको देकर भगवान् अन्तर्हित हो गये. यों कहते हैं:

मैत्रेय उवाच

तस्मा एवं जगत्स्रष्ट्रे प्रधानपुरुषेश्वरः।
व्यज्येदं स्वेन रूपेण कञ्जनाभस्तिरोदधे।।४४।।

मैत्रेयजी कहने लगे कि कमलनाभि भगवान् जो प्रकृति तथा पुरुष दोनोंके ईश्वर हैं, वे प्रभु जगत्की रचना करनेवाले उस ब्रह्माको अपने स्वरूपसे जगत् प्रकटकर दिखानेके अनन्तर अन्तर्हित हो गये(छिप गये)।।४४।।

जगत्का ही सृष्टा होनेसे उस(ब्रह्मा)को विशेष कुछ देनेकी आवश्यकता नहीं थी. जगत् रचनेके साधन यदि उसके अनुकूल न बने, तो फिर ब्रह्मा कैसे जगत् रच सकेगा? इस पर कहते हैं कि 'प्रधानपुरुषेश्वरः' आज्ञा देनेवाले कमलनाभ भगवान् प्रकृति तथा पुरुषके ईश्वर हैं. जिससे प्रकृति और पुरुष दोनों सामग्री सहित ब्रह्माकी सहायता करेंगे. यों होने पर यदि ब्रह्माको जगत् रचनेका ज्ञान न आवे तो दयालु प्रभुने एकबार समग्र ही जगत् जो आपके स्वरूपमें ही स्थित था, उसको अपने स्वरूपसे प्रकटकर ब्रह्माको दिखा दिया कि इस प्रकारका जगत् बना दें. यों जगत् प्रकटकर दिखानेके अनन्तर दूसरे उत्पत्ति आदि अन्य हेतुओंकी अपेक्षा नहीं रही. 'स्वेन रूपेण' इस पदका आगे भी सम्बन्ध है.

वह(कमलनाभ) स्वरूप यहां धरकर नहीं अन्तर्हित हुए, किन्तु उस स्वरूपको अन्तर्हितकर दिया, क्योंकि यदि आप बिराजते तो ब्रह्मा जगत् रच नहीं सकते थे कोई भी भगवदीय भगवान्के सामने जगत् रचनेका साहस नहीं कर सकता है. इसलिए सर्वज्ञ प्रभु अन्तर्हित हो गये. इस अध्यायमें यह सिद्ध किया है कि जीव भगवान्के समान नहीं है. अतः मुख्यतः ईश्वर ही साधन(जगत्कर्त्ता) है।।४४।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके ९ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १०

दस प्रकारकी सृष्टिका वर्णन

जगतो भूतसर्गस्तु ब्रह्मा सोऽत्र निरूपितः।

भगवत्कृपया युक्तः तादृशाऽस्य निदानता।।का.१।।

जगत्के महाभूतोंकी सृष्टिका रूप ब्रह्मा है, यों यहां निरूपण किया है. वह स्वरूप भगवत्कृपासे युक्त होनेके कारण जगत्का कारण है।।१।।

मात्राणि सर्वरूपाणि दश सृज्यान्यतोऽत्र वै।

दशमे विनिरूप्यन्ते मात्रात्वं चापि कालतः।।का.२।।

इस दसवें अध्यायमें निश्चयसे केवल सकल रूपोंवाली दश मात्राएं ही यहां सृज्य हैं जिनका निरूपण हुआ है, मात्रात्व भी कालसे होता है. अर्थात् कालके कारण हुआ है।।२।।

कालेनैव गृहीतास्ते भोग्याः भोक्ताऽन्यथा तु सः।

भूतानाम् अत्र सम्बन्धो रूपणार्थं कृतिः पुरा।।

ब्रह्मणा निर्मिता प्राह द्वयं मात्रेति रूप्यते।।का.३।।

कालने ही जब मात्राओंको ग्रहण किया तब वे भोग्य बनी कालसे गृहीत नहीं होती तो भोक्ता ही रहती, इनका यहां भूतोंके साथ सम्बन्ध है. यह सम्बन्ध बतानेकेलिए, ब्रह्माने जो प्रथम कार्य किया वह यहां कहा है. मात्रा दो रूपोंसे हैं यह मैत्रेयजीने कहा है।।३।।

पहले ब्रह्माके निर्मित मात्राओंके निरूपणकेलिए भगवदाज्ञासे ब्रह्माने जगत् किस प्रकार रचा, यह भगवत्सेवकके धर्मका ज्ञान जाननेकेलिए विदुरजी स्वयं उल्लाससे निम्न श्लोक द्वारा पूछते हैं:

विदुरः उवाच

अन्तर्हिते भगवति ब्रह्मा लोकपितामहः।

प्रजाः ससर्ज कतिधा दैहिकीर्मानसीर्विभुः।।१।।

विदुरजी कहने लगे(पूछने लगे) भगवान्के अन्तर्हित हो जानेके बाद लोकोंके पितामह समर्थ ब्रह्माने कितने प्रकारकी दैहिकी एवं मानसी प्रजा उत्पन्न की।।१।।

जब भगवान्ने धर्मी स्वरूपको अन्तर्हितकर लिया तो उसके धर्म भी

अवश्य अन्तर्हित हो गये होंगे ऐसी दशामें ब्रह्मा जगत् कैसे बना सके होंगे? जिसका उत्तर देते हैं कि लोकका पितामह होनेसे अर्थात् जनकका भी जनक होनेसे रच सके किन्तु फिर सन्देह होता है कि भगवान्ने स्वस्वरूप ले जगत् प्रकटकर दिखाया था जिससे जगत् तो पैदा हो ही गया था तब क्यों कहा जाता है कि ब्रह्माके जगत् उत्पन्न करनेमें ही साधन है. पहला देह दूसरा मन, वाणीका उपयोग तो वैदिकसृष्टि रचनेमें हो जाता है. अतः शेष दो(देह और मन) करने रहते हैं.

कितने प्रकारकी सृष्टि बनाई? यह प्रश्न रहता है. प्रकारोंके भेदकेलिये भगवान्के ज्ञानकी अपेक्षा(आवश्यकता) रहती है. इसलिये यों कहा है. देहसे ही बनानेका कार्य करना उचित है. तो फिर 'मानसी' मनसे उत्पन्न करनेका प्रश्न क्यों किया? इस पर कहते हैं कि ब्रह्मा(विभु) सर्वसमर्थ हैं, इसलिये विदुरजीने मानसी सृष्टिका भी प्रश्न किया है।।१।।

(**प्रकाशकारका सार:** गो. श्रीपुरुषोत्तमचरणोंके विवेचन पूर्वाध्यायमें प्रथम ब्रह्माकृत स्तुति तथा भगवान्की प्रसन्नताको 'भूत' कहा अनन्तर ब्रह्मज्ञानको 'भूत' कहा फिर ब्रह्माको पुरुषकी बुद्धिका रूप कहा, अब फिर ब्रह्माको भूतरूप कहा है यह सर्व परस्पर विरुद्ध हैं, इनकी सङ्गति कैसे होगी? इस विरोधको मिटाकर इनकी सङ्गति बतानेकेलिये कहते हैं कि 'भगवत्कृपा युक्तः' पद कह कर सिद्ध करते हैं कि यह सर्व भगवत्कृपाके ही पृथक्-पृथक् रूप हैं इसलिये विरोध नहीं है.

'काल' कहनेका तात्पर्य है कि यदि मात्राओंको काल ग्रहण न करता तो वे भोक्ता ही रहती. कालके ग्रहणसे वे भोग्य बनी हैं. मात्राऐं द्रव्यरूप शक्ति उत्पन्न करनेवाली है. वैसी शक्ति तब धर सकती है जब उनमें भोक्तापनकी शक्ति भी होवे, अतः मैत्रयजी कहते हैं कि दोनों शक्तियां जिनमें हैं वे मात्राएं हैं. 'प्रकाश')

अनन्तर जिस जगत्का निरूपण करना है उसका भगवदीयत्व बताने केलिए पहले कहे हुवे प्रश्नोंका स्मरण कराते हैं:

ये च मे भगवन्! पृष्टाः त्वय्यर्था बहुवित्तम!।
तान् वदस्वाऽऽनुपूर्व्येण छिन्धि नः सर्वसंशयान्।।२।।

हे बहुत जाननेवालोंमें भी श्रेष्ठ भगवन्! मैंने जो भी अर्थ आपसे पूछे हैं, उनका क्रमशः उत्तर देकर मेरे सर्व संशय दूर करो(मिटा दो)।।२।।

हे भगवन्! यह सम्बोधन देनेसे सूचित किया है आपको वे प्रश्न विस्मृत नहीं हुए होंगे, 'त्वपि' पदसे यह स्पष्टता की है कि वे अर्थ(प्रश्न) प्रयोजनवाले हैं. यों आप सर्वथा जानते ही हैं, 'बाहुवित्तम!' सम्बोधनसे जताया है कि आप उत्तर

देनेमें समर्थ हैं. उन प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः पहलेसे ही दे देनेकी प्रार्थना इसलिए की है कि आप उनको अपने ज्ञानसे उत्तर दोगे तो मैं भी समझ सकूंगा क्योंकि वे उत्तर जैसे सन्देहरहित हों वैसे आपको कहने चाहिए. इसलिए कहा है कि ''छिन्धि नः सर्वसंशयान्'' हमारे सर्व संशयोंको मिटा दो–यह प्रश्न पृथक् नहीं है।।२।।

पूछे हुए दो प्रश्नोंका उत्तर आदरसे कहा है यों सूतजी कहते हैं:

सूत उवाच

एवं सञ्चोदितस्तेन क्षत्त्रा कौषारवो मुनिः।

प्रीतः प्रत्याह तान् प्रश्नान् हृदिस्थानथ भार्गव!।।३।।

सूतजीने कहा 'हे भार्गव!' उस संयमी(विदुर)ने इस तरह उत्तर देनेकेलिए कौषारव मुनिको जब प्रेरणा की तब वह प्रसन्न होकर, उन प्रश्नोंका तथा जो हृदयमें स्थित थे उनका सादर उत्तर देने लगा।।३।।

मैत्रयजी(कौषाख मुनि)ने प्रसन्न होकर आदरसे पहले प्रश्नोंका जो भूले हुए नहीं थे हृदयमें स्थित थे अर्थात् स्मरण ही थे उनके उत्तर दिये; 'अथ' पदसे यह सूचित किया है कि इनका उत्तर भिन्न प्रकारसे दिया जावेगा न कि पहले प्रश्नोंके शेषपनसे, 'भार्गव' यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो सर्व निरूपण किया है वह सर्व भगवच्छेषतया(अङ्गरूप) है. इसका ज्ञान करानेकेलिए बहुत प्रकारसे जिन पदोंकी व्याख्या की गई है उनकी फिर व्याख्या नहीं की जानी है. कारण कि यों करनेमें कोई विशेष अर्थ नहीं है।।३।।

यद्यपि प्रथम प्रश्न होनेका सम्बन्ध होते भगवान् अन्तर्हित हो गये तो भी अपने षड्गुण(ऐश्वर्यादि) ब्रह्मामें स्थापित करनेके अनन्तर अन्तर्हित हुए.

ब्रह्माने जो कार्य किये वे निम्न छः श्लोकोंसे कहे हैं. उनमें भी जो कार्य करना है वह निर्दोष हो. फिर करता है. अतः प्रथम निर्दोष होनेकेलिए तीन श्लोक कहे हैं:

तपो ज्ञानं कृतिश्चैव दोषाभावश्च वर्ण्यते।

आलोचनं कृतिश्चैतदुपपादनमेव च।।का.१।।

१.तपस्या, २.ज्ञान, ३.कार्य तथा दोषाभाव वर्णन किया है अनन्तर, ४.आलोचना, ५.क्रिया एवं जगत्का उत्पादन कहा है।।१।।

पहले ब्रह्माने भगवदाज्ञानुसार कार्य किया, यों इस श्लोकमें मैत्रेयजी 'धर्म'को कहते हैं:

मैत्रय उवाच

विरञ्चोऽपि तथा चक्रे दिव्यं वर्षशतं तपः।

आत्मन्यात्मानमावेश्य यद् आह भगवान् अजः।।४।।

मैत्रयजी कहने लगे ब्रह्माने भी जैसे अजन्मा भगवान्ने आज्ञा दी थी वैसे ही भगवान्को अन्तःकरणमें धारणकर देवोंके दिव्य शतवर्ष तपस्या की।।४।।

भगवान्के अन्तर्हित होनेके बाद ब्रह्मा भी वहां ही अन्तर्हित हो गये और जैसे भगवान्ने आज्ञा दी थी वैसा ही किया यदि भीतर वैसी अवस्थाका तिरोधान न होवे तो बाहर जगत्की रचना न हो सके, इसलिए भगवान्ने जैसा कहा वैसा ही ब्रह्मा करने लगे दिव्य शतवर्ष कहकर बताया है कि वह समय सन्ध्यांशमें कृतयुगका चतुर्थभाग था. यह चतुर्थभाग तो पहले तपस्या एवं भगवान्को ढूढनेसे समाप्त हो गया शेष चौथे भागमें सर्वपदार्थोंकी रचना होगी. अनन्तर सर्वपदार्थ जब उत्पन्न हो जायेंगे तब युग प्रारम्भ होगा. इन सबकी सूचना देनेकेलिए दिव्य शतवर्ष कहे हैं. केवल तप किया जावे तो वह भगवत्सम्बन्धी(भगवदीय) नहीं होता है, अतः तपस्यामें भी विशेष कर्तव्य करना पड़ता है. तब तपस्या भगवदीय होती है. वह है भगवान्को अन्तःकरणमें धारण कर 'तप' करना, भगवदाज्ञा भी ऐसी थी इसलिए भगवदाज्ञानुसार यों तप किया।।४।।

उसके बाद जो कुछ हुआ वह निम्न श्लोकोंमें कहा है:

तद्विलोक्याब्जसम्भूतो वायुना यद् अधिष्ठितः।

पद्मम् अम्भश्च तत्कालकृतवीर्येण कम्पितम्।।५।।

ब्रह्मा, जिस कमल पर बैठा था वह कमल और जल दोनों प्रलयके समयकी तेजवायुसे कम्पायमान हो रहे थे यह देखकर ६ श्लोकसे अन्वय (सम्बन्ध) है.

ब्रह्माने तपस्या की जिसमे उसको यह ज्ञान हुआ कि मैं जिससे उत्पन्न हुआ हूं उसी ही कमल पर बैठा हूं. यों वह कमल देखा, वह देखना भी साधारण नहीं था किन्तु विशेष प्रकारका था जिससे उसके भीतर जो कुछ था उस सबका ज्ञान ब्रह्माको हो गया यह भी समझ गया कि यह कमल और जल जो वायुसे कम्पित हो रहे हैं वह इसलिए हो रहे हैं कि प्रलयकालने इस(वायु)को ऐसी शक्ति दी है क्योंकि यह वायु दैत्यांशवाली है, यह सर्वज्ञान होनेसे ब्रह्माने निश्चित किया कि इसका जब तक उपसंहार न किया जायेगा तबतक कार्य तथा कारण स्वस्थ न

होंगे क्योंकि काल भी दैत्योंको बल दे रहा है।।५।।

बादमें धर्मज्ञानसे जो किया वह निम्न श्लोकमें कहा है:

तपसा ह्येधमानेन विद्यया चाऽऽत्मसंस्थया।
विवृद्धविज्ञानबलो न्यपाद् वायुं सहाऽम्भसा।।६।।

बढ़ी हुई तपस्यासे, अन्तःकरणमें स्थित विद्या(उपासना)से ब्रह्माका ज्ञान विशेष बढ़ गया जिससे सर्व समझ गये, अतः अपने कार्य–कारणको स्वस्थ रखनेकेलिए जलसहित वायुको पान कर गये।।६।।

बढ़ी हुई तपस्या और विद्यासे विशेष विज्ञानका बल प्राप्त करनेसे ब्रह्मा जलसहित वायुका पान कर गये उपासना(विद्या) तो पहले निवृत(बन्द) हो गई थी तो उसने ज्ञानबलको कैसे पैदा किया(बढ़ाया)? इस पर कहते हैं कि 'आत्मसंस्थया' वह उपासना भीतर अन्तःकरणमें स्थित होनेसे नित्य स्थित है अतः ब्रह्मा नित्य मनसे भगवत्परिचर्या(भगवान्की सेवा) करते रहते हैं।।६।।

यों जब ब्रह्मा निर्दोष हुए एवं भय और कम्पके कारणरूप वायु तथा जलकी भी समाप्तिकर दी बादमें जो कुछ ब्रह्माने किया वह तीन श्लोकों द्वारा वर्णन करते हैं. उनमेंसे पहले ७वें श्लोकमें कहते हैं कि ब्रह्माको पूर्वज्ञानकी स्फूर्ति(जागृति) हो आई

तद् विलोक्य वियद्व्यापि पुष्करं यद् अधिष्ठितम्।
अनेन लोकान् प्राग्लीनान् कल्पितास्मीत्यचिन्तयत्।।७।।

ब्रह्माने जिस कमलको अपना आसन बनाया था उसको आकाशमें व्याप्त (अथवा आकाशवत् व्यापि) देखकर विचार किया कि मैंने आगे भी पूर्व कल्प(अपने दिन)में लीन हुए लोकोंको इस कमलसे उत्पन्न किया था अब भी यों ही(इससे) उत्पन्न करूंगा।।७।।

जिस कमल पर आप(ब्रह्मा) बैठे थे उसको आकाश व्यापी(फैला हुआ) देखकर विचारा कि पूर्वकल्पमें भी इस(कमल)से ही इस प्रकारसे लोकोंको उत्पन्न किया था; चिन्तन पदका तात्पर्य यहां विचार करना है, ब्रह्माके सौ वर्षमें सौ कल्प होते हैं हरएक वर्षमें वृक्षकी तरह कल्प होते हैं, वृक्षकी समानता दिखानेसे उसका दूसरे वर्षमें अन्य प्रकार हो जाना स्पष्ट ही है. इससे प्रत्येक कल्प वर्षके अहोरात्रका होता है रात्रि एवं दिनके मध्यमें जो स्वल्प(थोड़ा) समयका अतिसूक्ष्म भेद होता है वह समझमें नहीं आनेसे गिना नहीं जाता है इसलिए उस

सूक्ष्मभेदको दूसरा नाम नहीं दिया है यों होनेसे पद्ममें कल्प भी तीन सौ साठ होते हैं. तब पूर्वकल्पमें भी पद्मसे ही जगत्का निर्माण किया था इससे 'लोकान् प्राग्लीनान्'में जो कहा है कि पहले कल्पमें लीन हुए थे उनको ही फिर जैसे प्रकट किया था वैसे अब भी करूंगा।।७।।

यों विचार करके ब्रह्माने पहलेकी तरह जगत् रचा यों कहा है:

पद्मकोशं तदाऽऽविश्य भगवत्कर्मचोदितः।
एकं व्यभाङ्क्षीदुरुधा त्रिधा भाव्यं द्विसप्तधा।।८।।

अनन्तर भगवान्के कर्मोंसे प्रेरित ब्रह्मा, कमलकली(कोश)में प्रविष्ट हो गया उस एकके बहुत विभाग किये फिर उनको तीन और चौदह भागोंमें बांटा।।८।।

इस प्रकारके ज्ञान होनेके अनन्तर ब्रह्माने उस ही कमलकोशमें प्रविष्ट हो (घुसकर) एक पद्मकोशके बहुत भाग किये, इस पर शंका होती है कि भगवान्के नाभि कमलको इस तरह टुकड़े-टुकड़े करनेके योग्य ब्रह्मा कैसे हुए? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'भगवत्कर्मचोदित' अर्थात् भगवदीय सृष्टिमें भगवान्का ही कर्म प्रविष्ट हुआ है जिससे प्रेरित होकर ब्रह्माने यों किया है या करनेमें समर्थ हुआ है इसलिए यह सृष्टि भगवान्का ही कार्य है उसको करनेकेलिए भगवत्कर्मसे ही ब्रह्मा प्रेरित हो, यों करने लगे हैं अतः ब्रह्मा अपराधी नहीं है.

उस(कमलकोश)के खण्डोंका वर्णन करते हैं कि ''एक कमलकोशके ही बहुत विभाग किये'' अवान्तरलोकोंके भेदसे सहस्रशः(हजारों) खण्ड किये, उनके जब जातिभेदसे विभाग गिने जाते तो सत्वादि भेदमें तीन तरहके होते हैं, प्रसिद्ध लोक व्यवहार देखा जावें तो चौदह लोक भेदसे विभाग किये हैं।।८।।

सर्वलोकोंको जीवोंके रहनेका वही स्थान किया गया तो कोटिश (क्रोड़वां) जीवसङ्घ उनमें कैसे रह सकेंगे? इस शंकाका निवारण निम्न श्लोकसे करते हैं:

एतावाञ्जीवलोकस्य संस्थाभेदः समाहितः।
धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ।।९।।

जीवलोकका मर्यादानुरूप भेद इतना ही स्थापित किया है निष्काम धर्मका फल ही यह ब्रह्माका स्वरूप है।।९।।

जीवोंके रहनेका जो स्थानरूप लोक है उसकी अच्छी प्रकारकी मर्यादासे

इतना ही विभाग(चौदहलोक) हैं. सर्व जीव तीन तरहके हैं. अहङ्कार तीन प्रकारका होनेसे तीन प्रकारके राजस(जीव) मध्यमें रहते हैं. पंचमहाभूत, मात्रा और कार्य यों तामस जीव सात प्रकारके हैं. अन्तःकरण चार तरहका होनेसे सात्विक जीव चार प्रकारके हैं. अतः इस प्रकार इन चौदह लोकोंमें जीव पूरे हो जाते हैं स्थानके भेदके कारण भेद भी सम्यक तरह किया गया है ब्रह्माको ऐसी सामर्थ्य कैसे प्राप्त हुई? यदि कहो कि भगवदाज्ञासे हुई तो, भगवदाज्ञा होने पर भी अपनी सामर्थ्य आवश्यक है, इस पर कहते हैं कि ''शतजन्मोंमें जो एक हजार अश्वमेध निष्काम किये उनका फलरूप यह ब्रह्माका स्वरूप है'' जिससे वह इस प्रकार करनेमें समर्थ हुआ है तथा उसका यों करना उचित भी है, इसी तरह लोकोंका आधारभूत जगत्का मात्रात्वसे निरूपण किया।९।।

जो स्वयं, आधेय, जगत् है अर्थात् जिसका आधार दूसरा है जिससे वह लोक मात्रात्व नहीं हो सकता है? इस शंकाको मिटानेकेलिए, कालके वश होनेसे जीवका भी विषयत्व होता है अर्थात् जीव भी भोगका विषय बन जाता है. यों कालकी प्रस्तावना होती है कालके भेदके कारण ही भगवान् जगत्की उत्पत्ति आदि सर्व करते हैं काल ही सबका कारण माना गया है इसलिए विदुरजीको कालके स्वरूपका 'ज्ञान' प्राप्त करनेकी इच्छा हुई जो इस श्लोकमें पूछते हैं:

विदुर उवाच

यदात्थ बहुरूपस्य हरेरद्भुतकर्मणः।
कालाख्यं लक्षणं ब्रह्मन्! यथा वर्णय नः प्रभो!।।१०।।

विदुरजीने कहा कि हे ब्रह्मन्! हे प्रभु! अनेक रूपवाले अद्भुतकर्म करनेवाले हरिका जो 'काल' नामवाला लक्षण कहा वह लक्षण हमको जैसे पूर्णरीतिसे समझमें आवे वैसे स्पष्ट प्रकारसे वर्णन करो।।१०।।

अनेक रूपवाले, अद्भुतकर्मा हरिका जो लक्षण कहा वह सम्पूर्णरीतिसे वर्णन करो यों सम्बन्ध(अनुवाद) है भगवान्का असाधारण धर्म(गुण)रूप लक्षण ही निश्चयसे काल है, जगत् कर्तृत्वका आशय है कि जगत्की उत्पति होनेका काल उस लक्षणवाली जो आत्मा है. वह भगवान् हैं इस कारणसे भगवान् बाहर भी गरुड़की ध्वजा धारण करते हैं, भगवान् स्वयं अतिसूक्ष्म हैं इसलिए उनका लक्षण भी अतिसूक्ष्म होनेसे दुर्ज्ञेय अर्थात् नहीं जाना जा सकता है.

जो सर्व वस्तुओंकी गणनाकर सकता है और ग्रहण भी कर लेता है

उसको काल कहते हैं यह भगवान्का ही धर्म(लक्षण) है, अतएव इनका गणना करना भी असाधारण है क्योंकि प्रभु अद्भुतकर्मा हैं. जैसे आकलन करनेसे भगवान् अद्भुतकर्म करते हैं अथवा आकलन करनेसे एक होकर भी अनेक प्रकारके बन जाते हैं एवं जैसे आकलन कर(ग्रसनकर)[१] सबोंका दुःख स्वयं हर लेते हैं. तथा तीनमार्गोंका(कर्म-ज्ञान एवं भक्तिका) प्रकाश करते हैं ऐसे लक्षणवाले काल(भगवान्)का रूप अवश्य जानना चाहिए, अतः हमको यह ज्ञान प्राप्त हो इसलिए इसका आप विशेष वर्णन करें क्योंकि आप वर्णन करनेकेलिए समर्थ हैं कारण कि 'प्रभु' हैं।।१०।।

१. जैसे अग्निका ग्रसन(पान)कर गोपोंके दुःख दूर किये.-अनुवादक.

काल असाधारण गुणवाला होनेसे अवश्य निरूपण करना है अतः कालके लक्षण कहते हैं:

मैत्रेय उवाच

गुणव्यतिकराकारो निर्विशेषोऽप्रतिष्ठितः।
पुरुषस्तदुपादानम् आत्मानं लीलयाऽसृजत्।।११।।

मैत्रयजी कहने लगे कि कालका कोई प्रकार नहीं है, वह प्रकृतिके गुणोंके परस्पर मिले हुए रूपवाला कहा जाता है, सर्व विशेषरहित एवं अन्तवाला भी नहीं है पुरुषने जब लीलासे अपनेको जगत्रूपका उपादान बनाया, तब उस(पुरुष)की काल संज्ञा हुई।।११।।

काल भगवान्का बिना आकार(रूप)वाला धर्म(गुण) है इसलिए प्रत्यक्ष नहीं है अर्थात देखनेमें नहीं आता है, किन्तु केवल कार्यसे ही अनुमान किया जाता है कि अब इस प्रकारका काल है. इसलिए कालका यही(ऐसा ही) लक्षण है. यों कहा नहीं जा सकता है कालका तब ही लक्षण हो सके जब वह धर्मी, धर्मों और कार्यसे विलक्षण होवे तब ही उसमें असाधारणता आ सकती है वहां तीनोंसे विलक्षणता दिखानेकेलिए लक्षणके तीन विशेषण दिये है. उनमें पहला विशेषण 'गुणव्यतिकराकार' काल गुणोंका परस्पर मिलाप ही जिसका आकार है अतः निराकार है केवल 'कार्य' द्वारा ही उसकी प्रतीति होती है यही उसका लक्षण (पहचाने जानेका है.)'कार्य'को समझाते हैं कि प्रकृतिके गुणोंकी साम्यावस्था ही कार्य है, जिस भगवद्गुणसे गुणोंका मेल होता है पहले सत्त्वादिरूप जुदे-जुदे होते हैं अतः क्षुब्ध हो परस्पर मिल जाते है. वह गुण जिससे मिल जाते हैं काल है. यह

ही भगवान्का आकलन आर्थात् क्रियाशक्तिरूप पहला मुख्य गुण है जो आगे प्रकट हुआ, उसमें क्रियाशक्तिके अन्य भी भेद हैं. उनके विशेष नाम हैं जैसे 'स ऐक्षत' इससे इच्छाशक्ति बताई है. 'सोऽकायमत' इस रूपसे कामशक्ति दिखाई है जैसे मनके धर्म इच्छा काम आदि वैसे कालका कोई धर्म नहीं है वैसे उसके लोक प्रसिद्ध कार्य धर्मवाले होनेसे कार्यका आधेय होनेसे विशेषण भी सिद्ध नहीं होते हैं किन्तु 'इह' यहां 'इदानीम्'(अब) इत्यादि शब्दोंसे सर्वका आधारपनसे ही प्रतीत होता है अतः यह निर्विशेष कहा जाता है, यदि काल किसीका धर्म(गुण) होता तो घड़ेमें काल, भूमि(मिट्टी)में काल, यों कहा जाता परन्तु यों नहीं कहकर, कहा जाता है कि यहां घड़ा प्रतीत(मालूम) हो रहा है यों कहा जाता है इस कारणसे सर्व विशेषों(गुणों)से रहित गुणोंके क्षोभका कारण ही काल है यही उसका लक्षण है, 'किञ्च' बहुत ही धर्म(गुण) आकाशादिके निवारक खास गुण स्वतः विशेषरहित भगवद्धर्म हैं. यों नहीं हो अर्थात् भगवद्धर्म नहीं होते तो इन्द्रियोंसे अतीत नित्य परमाणुओंको व्यावृति न होवे उस(व्यावृति)की सत्यता सिद्ध करनेकेलिए कहते हैं कि 'अप्रतिष्ठिता' समाप्तिरहित है, विशेष(गुण) तो प्रतिष्ठित है. अन्तवाले हैं नहीं तो परमाणुओंका परिच्छेद न होता किन्तु काल अन्तवाला नहीं है, सर्वपदार्थ नाश होते हैं. किन्तु काल नाश नहीं होता है. इस प्रकार कालका लक्षण कहके वह गुण भगवान्ने क्यों ग्रहण किया इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि उसका गुणक्षोभरूप प्रासङ्गिक कार्य अथवा जगदाधारत्व ये उसके मुख्य प्रयोजन नहीं है, इसलिए मुख्य प्रयोजन कहते हैं 'पुरुषस्तदुपादानम्' पुरुष अर्थात् जो कारणरूप भगवान् हैं वह गुणोंको ही कर्त्तापनके भावोंको प्राप्त कराके जगत् बनाते हैं उसमें कर्त्तापन स्वरूप धर्म ही बन जाता है, उसका निर्वाह करनेवाली क्रियाशक्ति होती है वह क्रियाशक्ति तो अविकृत है तब वह समवायि कारण कैसे बनेगी? अतः शंका होती है कि समवायिकारण क्या होगा? जिसका उत्तर देते हैं कि सर्वत्र कार्योंमें समवायिकारण तो अविकृत ही होती है जैसे घड़ेमें अविकृत मृत्तिका ही समवायिकारण है. वह मृत्तिका खोदने आदि क्रियासे परिच्छिन्न हो कर्ताकी क्रियासे व्याप्त हो उपादान बनती है वैसे ही भगवान् भी कालको उपादान बनाकर अपनेको जगत्रूपसे उत्पन्न करते हैं.

कुम्भार, चक्र, चीथड़े, दण्ड और मृत्तिकारूप एक ही पृथ्वी अपने धर्मों द्वारा ही स्वयं घटरूपा बनती है उसमें दूसरे सर्व कुम्भार आदि धर्म जीवके

सम्बन्धको प्राप्तकर ही कर्तापनके भावको प्राप्त होते हैं जैसे कि कुम्हारके शरीरमें देवदत्त नामवाला जीव है, दण्डमें स्थावर जीव है, चीथड़ेमें स्थावर कपास जीव है, चक्रमें भी पर्वत जीव है विकारमें विकार ही है. यों सर्वत्र होता ही है. इसी कारणसे जिस अंशमें कुछ भी विकार प्रवेश नहीं कर सकता है वह कर्तृधर्मरहित भगवद्धर्म(गुण)'काल' है ''स आत्मानं स्वयमकुरुत इति श्रुतेः'' ''उस(ब्रह्मने) आप ही अपनेको इस प्रकार–'जगद्रूप' बनाया'' इस श्रुत्यनुसार लीलासे किया अतः जगत् बनानेमें लीलाके सिवाय कोई विशेष प्रयोजन नहीं है वह उपादान बहुत सुन्दर श्रेष्ठ है क्योंकि उस उपादानसे कर्ताको किसी प्रकारका प्रयास(कष्ट) उत्पन्न नहीं हुआ(होता है)।।११।।

इस कालकी भगवान्को कौनसी अपेक्षा थी? जगत्का उपादान 'स्वरूप' वा 'प्रकृति' हो सकती है, इस पर यह श्लोक कहते हैं :

विश्वं वै ब्रह्मतन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया।
ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाऽव्यक्तमूर्तिना।।१२।।

पहले यह विश्व भगवान्की मायासे(इच्छासे) लीन होकर भगवान्में ब्रह्मरूपसे स्थित था. उसीको अपने अव्यक्त काल द्वारा भगवान्ने फिर इस हृदयरूपसे पृथक्कर प्रकट किया।।१२।।

विश्व(जगत्) कार्यरूप है जिसका ब्रह्म तन्मात्रा(सूक्ष्मरूप कारण) है, जैसे महाभूतोंका शब्दादि तन्मात्रा हैं. क्योंकि वह उनके सूक्ष्मरूप कारणरूप हैं. इसी तरह विश्व(जगत्)का भी ब्रह्म ही सूक्ष्मावस्थारूप है. पूर्वावस्था ब्रह्म, उत्तरावस्था जगत् है.

विष्णु भगवान्की मायासे तिरोभाव होने पर विश्वका उपसंहार होता है. विष्णु जगत्का रक्षक है. किन्तु उसकी ही माया विश्वका उपसंहार(लोप) करनेवाली है. और विष्णुकी मायासे ही सम्यक् प्रकारसे ही स्थित भी है. यह विश्व, भगवान्की मायासे अर्थात् अलौकिक सामर्थ्यसे स्थित और लोप दोनों प्रकारका होता है.

इस भगवद्रूप जगत्का कोई परिछेदक होना चाहिए, नहीं तो एक ही कार्यमें ''**कृत्स्नप्रसक्तिः निरवयवत्वशब्दकोपो वा भवेत्**'' सम्पूर्ण ब्रह्म जगत् हो जावे और ब्रह्म निरवयव है, ये शब्द असत्य हो जायेंगे, इसी कारणसे भगवान्का ही कोई असाधरणरूप कोई धर्म(गुण) है. जिससे उत्पन्न यह कार्यरूप विश्व

परिच्छिन्न दिखता अर्थात् प्रतीत होता है. वह भी एक प्रकारसे भगवान्का रूप है, इसलिए कहा कि 'ईश्वरेण परिच्छिन्नम्' ऐश्वर्य भी गुण हैं भगवान्ने उस कालमें ही उसको स्थापित किया है. किसीमें भी बदलनेकी शक्ति उसमें है, अतएव इसीलिए ही ''कलयति इति कालः'' जो कलन(गिनती वा ग्रसन) करता है वह 'काल' कहा जाता है उसका रूप अप्रकट ही रहता है. इस कारणसे परिच्छेद करनेकेलिये कालकी आवश्यकता है यों तात्पर्य है।।१२।।

उसका(कालका) उपादानकार्यमें सम्बन्धसे दिखलाते हैं. जिसको सामझानेकेलिए निम्न श्लोक कहा है:

यथेदानीं तथाऽग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्।
विश्वमेतदसंक्षिप्त मायया दृश्यतेऽन्यथा।।१३।।

यह विश्व जैसा अब है आगे भी ऐसा होगा. भूतकालमें ऐसा ही था. यह बिम्ब केवल मायासे असंक्षिप्त(बिना संकोचवाला) होनेके कारण अन्यथा प्रतीत हो रहा है।।१३।।

काल नित्य है, वह (नित्य काल) जगत्का उपादानकारण होनेसे जगत् भी नित्य है, परन्तु उपादानकी तरह ही वह नित्य कहा जाता है. भूत आदि संज्ञाए भी कालकृत हैं. काल निरन्तर(सदैव) जल प्रवाहकी तरह चलता रहता है. अर्थात् जैसे जल प्रवाह, जो बादमें बहता है वह पहले प्रवाहको बांध(लोप) करता है तब उसके आधारसे जो विकार उत्पन्न हो जगत् रूप बनता है. वह 'भूत' नामसे कहा जाता है. अब जो वर्तमान है वह भी काल ही है. कालको देशकी अपेक्षा नहीं है. वर्तमानको भी अपेक्षा नहीं है जलादिको देशकी अपेक्षा विद्यमान है वह वर्तमानता अपेक्षावाली है. अतः जैसा काल वैसा जगत् यह व्यवस्था कालके ही आधीन है.

अवान्तरकालोंका मूलभूत जो काल है वह नियामककाल है. जैसे जीवोंकी आत्मा भगवान् नियामक हैं. अतः स्वभावकी समानतासे अवान्तर भेद, अंश–अंशीकी कहनेकी इच्छासे कहा जाता है अब जैसा जगत् है, आगे भी वैसा ही होगा भूतकालमें भी ऐसा ही था इस कारणसे जगत्का नियामक सत्यरूप काल भगवान् है जिससे जगत् सत्य है न कि मायिक(असत्य) है. इससे समझना चाहिये कि अभिव्यक्त स्वरूप सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मरूप ही है।।१३।।

इसी तरह जगत्का उपादानकारण कालका निरूपणकर तथा कालका

आधिदैविक स्वरूप कहके अब 'सर्गो नवविधः' श्लोकसे अध्यायकी समाप्ति होने तक कालके आधिभौतिक स्वरूपका वर्णन करते हैं. आध्यात्मिक भेद आगे अध्यायमें कहेंगे. 'तावता' (इससे) साधारण जीवोंकी मात्रा तथा इन्द्रियोंका काल ही नियामक है. उनकी अर्थात् जगत्में उत्पन्न जीवोंकी, बुद्धि तो वेद और ब्रह्मा आदिकोंसे प्राप्त होती है अतः वे भगवान्के अधीन हैं जिससे वे भगवदाज्ञासे संसार प्रवृत्त हुए हैं वा होते हैं. उन जीवोंकी मूल(जड़) भगवान् और भगवदाज्ञा है. जैसे महाभूतोंकी जड़ भगवान् व भगवदाज्ञा है जैसे ये वैसी ही प्रवृत्ति करते हैं. विषय और इन्द्रियां तो कालके आधीन ही हैं अतः कालरूप हैं. वे मात्राएं तीन प्रकारकी हैं. उनमेंसे आध्यात्मिक और आधिभौतिकोंका निरूपण करते हैं:

सर्गो नवविधस्तस्य प्राकृतो वैकृतस्तु यः।
कालद्रव्यगुणैरस्य त्रिविधः प्रतिसङ्क्रमः।।१४।।

उस जगत्की जो प्राकृत एवं वैकृत सृष्टि है वह नव प्रकारकी है. ऐसे सर्गका काल, द्रव्य और गुणोंसे तीन तरह लय होता है।।१४।।

प्राकृत सृष्टि अर्थात् आधिभौतिक सृष्टि जो है वह छः प्रकारकी है. वैकृत सृष्टि अर्थात् आध्यात्मिक सृष्टि जो है वह तीन तरहकी है दोनों मिलाकर नव प्रकारकी कही जाती है.'तु' शब्द देनेका आशय है कि वैकृत(आध्यात्मिक) सृष्टिमें अन्य भेद भी हैं. आधिदैविक सृष्टि भी वैकृत है किन्तु वह आध्यात्मिक वैकृतसे भिन्न प्रकारकी है.

अतएव जो सृष्टि प्रसिद्ध है वह नव प्रकारकी है क्योंकि तीन तरहके गुणोंकी उत्पादक है. प्रलय तो तीन प्रकारकी ही है. कारण कि प्रलयके अधिष्ठाता तामस ही होते हैं. उसमें(के) अधिकारी काल, द्रव्य और गुण ये तीन हैं. काल पदार्थोंको प्रकृतिकी प्राप्ति कराता है. तब वायु दण्ड आदि द्रव्योंसे, विरोधी गुणों द्वारा विरुद्ध गुण प्रकट होते हैं.

शास्त्रोंमें कहे हुए कर्मोंसे जीव जब देव आदि भाव प्राप्त करते हैं तब मानुष आदि भाव निवृत्त हो जाते हैं.

सत्त्वादि गुणोंसे ही पहले जो गुण उनमें होते हैं वे लीन हो जाते हैं कालकृत प्रलय तो नियमित है. दूसरी दो नियमित नहीं है।।१४।।

सर्ग नव प्रकारके हैं उनका नव प्रकार सिद्ध करते हैं :

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैशम्यमात्मनः।

द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः।।१५।।

आत्मासे प्रथम सृष्टि तो गुणोंकी विषमतारूप महत्तत्त्वकी हुई है. दूसरी सृष्टि अहंकारकी हुई, जिसमें द्रव्य, ज्ञान तथा क्रियाका उदय हुआ।।१५।।

सर्गा अत्र विभेदेन कालतः क्रियया तथा।

अतस्तत्त्वेऽपि षड्भेदाः पारम्पर्यं न दूषणम्।।का.१।।

प्राकृत सर्ग छः प्रकारके कैसे हैं इस अपेक्षाके कारण कारिकामें समझाते हैं. यहां(प्राकृतसृष्टिमें) काल तथा क्रियासे पदार्थोंमें विभेद(पृथक्त्व) होनेसे सृष्टियां होती हैं. इसी कारणसे प्राकृत सर्ग(सृष्टि)में भी छः भेद हैं. इसमें परम्परा होना दूषण नहीं है. काल एवं क्रियाके होते हुए भी साथमें ही छः भेद कैसे हुए? इस शंकाको मिटानेकेलिए ही कहा है परम्परा होना दूषण नहीं है. क्योंकि वेदमें भी सर्वसमर्थ ब्रह्मकी की हुई साक्षात् सृष्टिकी तरह क्रम सृष्टि भी कही है इसमें ब्रह्मकी इच्छा विशेष है नियामक है इसलिये यों होनेमें कोई दूषण नहीं है.

भले यों होवे तो भी महत्तत्त्वसे ही पहले सृष्टि क्यों हुई? इस शंकाको मिटानेकेलिए दूसरी कारिका कही है:

महत्त्वेन प्रकारेण जगत् सर्वं तथोद्गतम्।

अतो जगत् एवाऽत्र सर्गो हेतुर्महान् पुनः।।का.२।।

समग्र जगत् वैसे प्रकट हुवा जैसे महत्तत्त्व प्रकटा, अतः यहां जगत्का ही सर्ग(सृष्टि) हुआ है. महत्तत्त्व तो कारण है. उत्पत्ति आदि शब्द न कहनेका बीज तीसरी कारिकामें कहते हैं।।२।।

भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग उदाहृतः।

तच्चतुष्ट्यमत्राऽस्ति तेन सर्गत्वमस्य हि।।का.३।।

भूत, मात्रा, इन्द्रियों और बुद्धिका जन्म ही सर्ग है. वे चार ही यहां हैं इसलिए इसको ही सर्गत्व है अर्थात् यही सृष्टि है।।३।।

'तु' शब्द देनेका आशय(तात्पर्य) यह है कि वह 'मत' अपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि केवल महत्तत्त्वका जन्म है वह सृष्टि नहीं है. वास्तविक सिद्धान्त यह है कि महत्तत्त्वका केवल जन्म नहीं है, किन्तु महत्तत्त्वका जन्म सृष्टि है. अन्य सृष्टियोंकी अपेक्षा इसकी सृष्टि प्रथमा है एवं यह सृष्टि परोपकारी है. महान होनेसे इसको बुद्धि कहा है उस महत्तत्त्वकी उत्पत्ति योनिसे उद्गमके समान उत्पत्ति यहां(इस कल्पमें) इच्छित नहीं है पूर्वकल्पमें वीर्यका आधार किया तब उसने

प्रकृतिमें हिरण्यमय महत्तत्त्वको उत्पन्न किया किन्तु भगवान् जिसका कारण है, ऐसा गुणोंका विषमभाव होना ही सर्ग है. उसमें बुद्धि उत्पन्न होनेका कारण सतोगुण है. जब भगवान् बुद्धिके निमित्त होते हैं तब सतोगुण मन(इन्द्रियादि)का कारण बनता है. विषय राजस है, भूत तामस है.

जब गुणोंमें विषमता नहीं होती हैं तब वे स्थिति आदिके कारण होते हैं. आत्मासे गुणोंका वैषम्य(विषमता) होना ही महत्तत्वकी सृष्टि है.

दूसरी सृष्टिमें केवल जन्म नहीं कहा है किन्तु अहङ्कारकी उत्पत्ति दूसरी सृष्टि हैं. इस सृष्टिमें चार प्रकार हैं. जैसे सृष्टिमें गुणोंको विषमताकी आवश्यकता है, इसी तरह द्रव्य, ज्ञान और क्रियाओंके उदय होनेकी भी आवश्यकता है. द्रव्य अधिभूत है, ज्ञान अधिदेव है, क्रिया आध्यात्मिकी है, आद्य भाव विषमता है, द्वितीय भाव तीन प्रकारका है. 'यत्र' पदसे अधिकरण(स्थान) अर्थात् कारणरूप महत्तत्त्वको 'बुद्धि' कहा है।।१५।।

इस निम्न श्लोकमें तीसरी तथा चौथी सृष्टि कहते हैं:

भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान्।
चतुर्थः ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः।।१६।।

तीसरी सृष्टि तन्मात्रा रूप, द्रव्योंकी शक्तिवाली महाभूतोंकी है. चौथी इन्द्रियोंकी जो सृष्टि है वह ज्ञान तथा क्रियारूप है।।१६।।

इस श्लोकमें भी 'तु' शब्द आगेकी तरह है अर्थात् केवल जन्म है इसके निराकरणकेलिए है वस्तुतः सृष्टि है. जैसे सृष्टिमें गुणोके क्षोभकी आवश्यकता है और ज्ञान, क्रिया और विषयोंकी भी आवश्यकता है, तैसे परिणामको हेतुरूपकी भी आवश्यकता है. वह रूपभोक्ता तथा भोग्यभावको प्राप्त हुआ हो ऐसा कहना चाहिए, इसलिए भोग्य तन्मात्रापनसे कहा गया है और भोक्ता शरीरोंको सिद्ध करने(बनाने)वाले भूत तरीके कहे हैं. उन दोनोंको स्पष्टकर समझाते हैं. पांच मात्रारूप तन्मात्रा हैं वह द्रव्य शक्तिमान् है. अर्थात् द्रव्यका विकासक है. द्रव्यशक्ति अर्थात् परिणाम उस सहित तीसरी सृष्टि है. इसी तरह तीन प्रकारकी सृष्टि द्वारा कार्य निष्पक्ष होता है.

तीनसे ही कार्यका ज्ञान होता है उनमें ज्ञान करानेवाली जो चौथी, पांचवी और छठी सृष्टियां हैं उनमें प्रथम चौथा इन्द्रियोंका सर्ग हैं. इन्द्रियोंके स्वरूपोंकी उत्पत्ति सर्ग(सृष्टि) नहीं है, परन्तु कार्य उपयोगीपनसे सृष्टि कही जाती

है. इसलिए अनुवाद में 'तु' शब्द दिया गया है. कार्यमें पृथकपनसे उत्पत्ति होती है इसलिए 'सर्ग' शब्द पहले ही लगा लिया है 'यः तु' यह शब्द सृष्टिका अनुवादक स्वरूप एवं कार्यका भेद दिखानेकेलिए कहा है कि यह सृष्टि ज्ञानरूप और क्रियारूप है, कारणकि ज्ञान तथा क्रिया दोनों इन्द्रियोंके कार्य हैं. क्रियारूपसे महाभूत और इन्द्रियां कही हैं और ज्ञानरूपसे तन्मात्रा और बुद्धि कही है।।१६।।

निम्न श्लोकमें पांचवीं व षष्टि सृष्टि कहा है:

वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः।

षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतो विभोः।।१७।।

जिससे मन भरपूर है वैसी पांचवी देवी सर्गत्वकी सृष्टि है. छठी तामसी सृष्टि है. वह समर्थ भगवान्ने अज्ञानसे तमो द्वारा की है।।१७।।

देवोंकी सृष्टि वैकारिक सात्त्विक है, यहां देवोंकी सर्गमें स्वरूपसे उत्पत्ति कही है. इन्द्रियोंसे ज्ञान तथा व्यवहार नहीं हो सकता है ऐसे प्रकारका होनेसे, दो प्रकारके न होनेमें कोई मत असत् पक्ष नहीं है. जैसे ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान प्राप्त करनेमें अपेक्षित होती हैं तथा क्रियामें अपेक्षा होती है वैसे ही देवताकी प्रेरणा होती है. कारणकि देवताकी प्रेरणा बिना पदार्थ ग्रहण नहीं हो सकता है, सात्त्विक होनेसे तीन रूपवाली(अर्थात् महाभूत, तन्मात्रा तथा इन्द्रियोंके रूपवाली) होती है. देवपन होनेसे बुद्धिरूपत्व होता है. इन देवताओंका कौनसा कार्य है? प्रेरणा तो अन्तर्यामी और जीवनसे भी बन सकती है. यों शंकाकर कहते हैं, 'यन्मयं मनः' जिससे मन परिपूर्ण होता है यों कहा है कि वह मन पांचवीं सृष्टिसे परिपूर्ण है जैसे इन्द्रियोंके होते हुए भी मनके सिवाय ज्ञान तथा क्रियाका उद्भव नहीं होता है, जैसा कि कहा है 'नाश्रौषभमनाः' मेरा मन अन्यत्र होनेसे मैंने आपका कहा हुआ कुछ सुना नहीं. बिना सजातीय नियमनके, केवल चेतन राजाकी तरह सर्वथा नियमन नहीं किया जा सकता है. अतः सामान्यरीतिसे मन जैसे नियामक है वैसे इन्द्रिय देवता भी नियामक है. वैकारिक(सात्विकत्व) होनेके कारण दोनोंमें ऐक्य है. वैकारिक पूर्वरूप है प्रेरकपन उत्तररूप है.

छठा सर्ग कहते हैं, भगवान् इन्द्रयोंसे ग्रहण किया जाता है. यह सम्भव नहीं इसलिए बीचवाली अन्तरासृष्टि अविधाकृत मानी जाती है, वह केवल तामसी सृष्टि है. अविद्या, प्रकृति और मायामेंसे पहली(अविद्या)का विषय प्राकृत होनेके कारण प्राकृतोंसे वह(प्राकृत) या उस(प्राकृत)का कार्य ग्रहण किया जाता

है. अतः छठा सर्गग्रहण तामसका विषय है केवल तामसत्व विषय होनेसे भूतसर्ग भी वैसा(तामस) बना हुवा होना चाहिए. अतः उसकी व्यावृति उत्सर्ग इसका भूत सर्गका समावेश नहीं करनेकेलिए 'यः' पदसे तामसत्व कह अनुवाद कहकर फिर 'तु' शब्द कहा है. जिसका आशय है कि यह सर्व अज्ञानकृत कार्य हैं.

अज्ञानसे शक्तिमें रजत(चांदी)की तरह मिथ्याभूत ही कुछ पैदा होता है उसको सर्गत्व कैसे होगा? अर्थात् वह सृष्टि कैसे कही जायेगी? क्योंकि उसमें सृज्य(रचना)का अभाव है. इस शंकाको मिटानेकेलिए 'विभोः' विशेषण दिया है. अर्थात् वह सर्वकरण समर्थ हैं. जिससे वह अज्ञानके प्रकारसे भी सतके समान अभिव्यक्तिकर सकते हैं. यद्यपि इसको अविधासे भी ग्रहण किया जा सकता है तो भी यह सृष्टि है।।१७।।

इसी तरह आधिभौतिक प्रकारमें निरूपण किये हुए छः सर्गोंका उपसंहार करते हैं:

षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपिमे शृणु।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः।।१८।।

ये जो अबतक सुनाये वे छः प्राकृतसर्ग थे. इसके बाद जो अब कह रहा हूं वे वैकृतसर्ग हैं उनको भी मुझसे सुनो, सर्वदुःखहर्त्ता रजोगुण बुद्धिवाले भगवान्की यह लीला है।।१८।।

ये कहे हुए छः सर्ग प्राकृत हैं यदि यों भेद न किया जाता तो सातवीं आदि कहते हुए भी सब एक प्रकारकी हो जावे. इस प्रकार प्राकृत सर्गोका उपसंहार कर वैकृत सर्गोमें जो भेद कह रहा हूं वे सावधान 'शृणु' होकर जानना चाहिए इसलिये कहते हैं कि 'वैकृतानपि मे' प्राकृतकार्य(सर्ग) भी वैकृत(विकारवाले) हैं. अतः यों समझा जायेगा कि प्राकृतसर्गके निरूपणसे वैकृतका भी निरूपण हो गया. यों मान लेनेसे वैकृतसर्गोके भेद तथा स्वरूप सिद्ध न होंगे अर्थात् समझमें नहीं आवेगें. इसी कारणसे यह भेद व स्वरूप भी मुझसे सुनो, क्योंकि इन भेदों आदिको दूसरा कोई नहीं जानता है. अतः दोनोंके समझनेमें भेलसेल न होवे इसीलिए सुनो. ये प्राकृत वैकृत सर्ग लौकिक है, उनको भगवद्भक्त क्यों सुने? इस पर कहा है कि ''जब भगवान् उत्पत्तिकेलिए रजोगुण धारण करते हैं वा कामार्थ क्षेत्र रज(स्त्रीकी रज)को काममें लाते हैं तब इस प्रकारकी लीला करते हैं'', ये सर्ग भगवान्की लीलाएं है अतः सुननी चाहिए. भगवान्की लीलाएं भी ''**यावान् अर्थ**

उदपाने'' इस न्यायानुसार अपने उपयोगमें आनेवाली ही लीलाएं सेवा(श्रवणीय तथा माननीय) हैं? इस शङ्का पर कहते हैं कि भगवान्की सब लीलाएं श्रवणीय सेवा हैं क्योंकि 'हरिमेधसः' कह इस शङ्काको मिटा दिया है. जिस प्रभुको मेधा(मति वा बुद्धि) सबके दुःखोंको मिटानेवाली है. भगवत्सम्बन्धी जो भी मति है वह ही सर्व दुःखहर्त्री है. इसलिए कोई भी भगवान्की लीला हो वह श्रवण करने योग्य है. किञ्च यहां जो भी नियम विषय हैं वे सब भगवत्सम्बन्धवाले ही हैं. अतः अन्य लीलाओंकी अपेक्षा मात्रारूप लीलाएं काल सम्बन्धी होनेसे दुःखोंका सहजमें नाश करनेवाली हैं. उनसे उत्पन्न दोषोंको नाश करनेकेलिए ये लीलाएं भगवत्सम्बन्धी होनेसे अवश्य सुननी चाहिए यह ही ध्यानमें लाकर 'मेधा' पद दिया है. जैसे 'मेधा' शब्द बुद्धि वाचक है वैसे 'मेधस्' शब्द 'अस्' प्रत्ययान्त होते हुए भी बुद्धि वाचक है।।१८।।

इसलिए सुनना चाहिए यों प्रतिपादनकर वैकृतामें जो पहला सर्ग है उसका इस श्लोकमें प्रतिपादन करते हैं:

सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः।
वनस्पत्योषधिलतास्त्वक्सारा वीरुधो द्रमाः।।१९।।

वनस्पति, औषधि, लता और त्वक् जिनके सार हैं वे लताएं और वृक्ष यह छः प्रकारका जो सर्ग(सृष्टि) है वह सातवां मुख्य सर्ग है।।१९।।

अन्नं प्रथमतः सृज्यम् अन्नादास्तदनन्तरम्।
अन्यथा बाधकं त्वग्रे वक्ष्यते प्रक्रियान्तरे।।का.१।।

प्रथम अन्न(खाद्य पदार्थ) बनाना चाहिए उसके बादमें खानेवाले नहीं होवे तो बाध(विघ्न) होगा, वह बाधक दूसरी प्रक्रियामें आगे कहा जायेगा.

वैकृतोंमें वह मुख्य है जो मुखमें अर्थात् प्रारम्भमें उत्पन्न होता है(होना चाहिए) क्योंकि वह प्रथम उत्पन्न, भक्ष्यपनकेलिए ही बनाया है या बना है, कारण कि सर्वके जीवनकेलिए उपयोगी(लाभदायक) है. मनके साथ कर्मेन्द्रियां छः प्रकारकी हैं. अतः पहले उत्पन्न खाद्य भी ६ प्रकारके हैं वे भक्षण करने पर भी मिट नहीं जाते हैं. इसलिए उनको स्थावर(अचल) नाम दिया है यहां ६ प्रकारका सर्ग(सृष्टि) स्थावरोंका ही किया है यह 'यत्' शब्दसे समझ लेना चाहिए न कि जङ्गमपनसे उत्पन्न हो स्थावरताको प्राप्त हुआ है क्योंकि ऐसी भगवल्लीला नहीं है.'च' पदसे शास्त्रसे दुग्धादि ग्रहण किये हैं. एवं 'च'से जंगम(चल) भी स्थावर

(अचल) हो जाते हैं. यों शास्त्रसे ज्ञान होता है. यज्ञादिमें हिंसा आदिसे स्थावरता होती है. वनस्पति शब्दसे अश्वत्थ(पीपल) ग्रहण किया है. उसको प्रथम लेनेका कारण यह है कि शास्त्रमें "**वैष्णवा वै वनस्पतयः**" कहकर इनका वैष्णवत्व सिद्ध किया है. पालन कार्य विष्णु करते हैं. वह प्रधानतासे वैष्णवपनके कारण ही करते हैं. वनस्पतियां पुष्परहित एवं फलवाली होती हैं. रजोगुण रहित ही फल सहित वैष्णव वनस्पतियां भी होती हैं. ओषधियां व्रीही(चावल), जौ(यव) आदिको कहते हैं. वे(ओषधियां) उनके दाम(फल) पके तहां तक रहती हैं वे ही(व्रीही आदि) मुख्य अन्न होते हैं. लताएं कुष्माण्ड(कोल्हा या कद्दु) आदिको कहा जाता है और व्यञ्जन(मसाले) आदि रसमें भेद करानेवाले होते हैं. जिनमें त्वक्(छाल) सार है. ऐसे वेणु(बांस) अन्न स्थितिवाले हैं. वेणु और यव(जौ) अन्न हैं वेणु बहुत उपयोगी है 'वीरुध'का सोम आदि घास एवं तृण आदि कहा जाता है इनके भी दोनों ही रूप हैं.'द्रुम' शब्दसे फलवाले(आम्रादि) वृक्ष समझने इन छः प्रकारके खानेके पदार्थोंमें खानेवाले प्रतिष्ठित(स्थिर) होते हैं।।१९।।

इन छः प्रकारके सर्गोंका कौनसे धर्म(गुण)के कारण एक सर्गत्व कहते हो? इस आशङ्काके होने पर वे धर्म सुनाते हैं:

उत्स्रोतसस्तमः प्राया अन्तःस्पर्शाविशेषिणः।।२०।।

वे सर्ग, आहारको ऊंचे ले जाते हैं और प्रायः अज्ञानी हैं और भीतरसे स्पर्शको जान लेते हैं, विशेषरहित हैं।।२०।।

इन वैकृत(स्थावर) छः सर्गोंको भी भूतादिभाववाले कहने चाहिए वे भी चार विशेषणोंमे निरूपित किये जाते हैं. इनके आहार ग्रहण करनेकी परिपाटी जंगमोंसे पृथक् है. जंगम आहारको नीचे ले जाते हैं वे ऊपर ले जाते हैं. किन्तु स्थावर(वैकृत) ऊपर ले जाते हैं. उनका ग्रहण किया(खाया) हुआ जल आदि खाद्य(पेय) ऊपर ही जाता है इस कारणसे इनको भूतत्व प्राप्त हुआ है. वा विपरीत तत्त्व प्राप्त हुआ है. क्रियासे ही बुद्धिके उच्चनीचत्वका ज्ञान होता है ये पादोंसे पीते हैं इससे इनकी बुद्धि कैसी है पता पड़ता है कि इनकी बुद्धि नीच है. क्योंकि ये प्रायः तमोगुणी हैं. जिससे अज्ञानने इनमें ही आकर निवास किया है प्रायः पदके भावके व्यावृत्तिकेलिए विषयत्व कहते हुए निरूपण करते हैं कि 'अन्तः स्पर्शाः' केवल छूनेसे ही भीतर जान लेते हैं. किन्तु अन्य विषयक ज्ञान नहीं है यह जो भारतमें सर्व वृक्ष इन्द्रियवाले हैं यों सिद्ध किया है. और उनमें सर्व

ज्ञान भी सिद्ध किया है वह कैसे? जिसका उत्तर देते हैं कि वह कहना इनकेलिए नहीं है किन्तु इनके अधिष्ठाता देवताओंके परायण हैं, अभिमानियोंको तो केवल स्पर्श ज्ञान होता है. विशेष रहित हैं. इसका आशय यह है कि इनके हस्त आदि प्राकृतकी तरह नियमित नहीं हैं वा विशेष संज्ञा(नाम)से रहित हैं।।२०।।

इस प्रकार सातवें सर्गका निरूपणकर अब निम्न श्लोकमें आठवे सर्गका वर्णन करते हैं:

तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः।
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः।।२१।।

साधारण प्राणियोंकी आठवीं सृष्टि अठ्ठावीस प्रकारकी है. वे अज्ञानी तथा विशेष तमोगुणवाले हैं उनका पदार्थज्ञान सूंघनेसे होता है. वे स्मृतिहीन होते हैं।।२१।।

इस आठवे सर्गका आहार करनेका तरीका सीधा नहीं है. टेड़ा ही निगलनेका स्वभाव होनेसे 'तिर्यञ्चः' कहे जाते हैं. जैसेकि गौ आदि जो खाती है वह टेड़े भागसे ही जाता है. ऐसे उद्धवको आठवां सर्ग कहा जाता है. यह सर्ग अन्तभक्षकोंकेलिए उपयोगी है. एवं अट्ठावीस प्रकारका है क्योंकि तत्व भी २८ प्रकारके हैं. इन २८ तत्वोंने ही भोज्यकेलिए प्रार्थना की थी. तदनुसार यह सर्ग २८ प्रकारका हुआ.

यद्यपि इस सर्गके भेद बहुत हैं तो भी जो इनमें पृथक् करनेवाले मुख्य भेद हैं उनकी गणनासे अठ्ठावीस भेद कहे हैं. ओरोंका इनमें ही समावेश किया गया है. अथवा वैकृतपनका निराकरण करेंगे.

अविदः–'विद' पदका अर्थ है 'ज्ञान' अर्थात् अपनेको क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए इसकी समझ होना ज्ञान है. वह इनमें नहीं होता है. इसलिए अज्ञानी माने जाते हैं अथवा इनको पारलौकिकका पता नहीं इसलिए भी अज्ञानी कहे जाते हैं.

इनमें इतना अधिक तमोगुण भरा हुआ है जो सत्संगमें जाने पर भी ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते हैं. जो देवसम पशु हैं और वैकुण्ठ आदिमें वृक्ष हैं उन पर कालका प्रभाव नहीं पड़ता है. जिससे उनमें यह लक्षण घटित नहीं होता है. यद्यपि उनको सर्वेन्द्रियां हैं तो भी प्रायः घ्राणेंद्रियां(नाकसे सूंघनेके) द्वारा ही पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करते हैं. कारण कि इनमें तमोगुण अधिक मात्रामें है. हृदयमें किसी

प्रकार स्मृति न रहनेसे इनको किसी विषयकी चिन्ता भी नहीं रहती है और ज्ञान(समझ)नहीं है. जिससे कि खेद(दुःख) हो. इनमें महाभूतोंके स्थान पर अज्ञान है. मोह विषय है, इन्द्रियोंमें केवल घ्राणेन्द्रियां कार्य करती हैं बुद्धि तो अनुभवरूप ही है।।२१।।

सात्त्विका द्विशफाः प्रोक्ता राजसास्तु चतुःशफाः।
तामसा इतरे प्रोक्ता गुणानां हीनता परा।।का.१।।

इन २८ प्रकारके सर्गमें तीन प्रकारके फिर भेद हैं–जिनके दो खुर हैं वे सात्त्विक हैं, जिनके चार खुर हैं वे रजोगुणी हैं, शेष दूसरे तामस हैं इनके गुणोंमें हीनता विशेष है।।१।।

गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम।।२२।।

हे श्रेष्ठपुरुष! १.गाय २.बकरी ३.भैंस ४.कृष्णमृग ५.शूकर ६.रोज (वनगाय) और ७.बहुत सींगवाले हरिण, भेड़ और ऊंट ये सर्व दो खुरवाले हैं।।२२।।

गाय आदि नौ दो खुरवाले हैं. काला हिरन, रोज(जंगली गाय), बहुत सींगोंवाले हरिन, ये दो खुरवाले यज्ञके भी पशु कहे जाते हैं एवं ये तिर्यक् नामसे पुकारे जाते हैं. दो खुरवाले पशु और भी 'अविः' अर्थात् भेड़ और ऊंट हैं. जहां पशु शब्दका निर्देश हो वहां ये ही समझने चाहिये. 'सत्तम' सम्बोधन, भगवान्की सृष्टिमें अन्यथाज्ञान नहीं करनेकेलिए दिया है।।२२।।

खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा।
एते चैकशफाः क्षतः! शृणु पञ्चनखान् पशून्।।२३।।

गर्धभ(गदहा), घोड़ा, खच्चर, सफेद हरिण, शरभ तथा चमरी ये एक खुरवाले हैं. हे क्षत! अब पांच नखवाले पशुओंका वर्णन सुनो।।२३।।

एक खुरवाले गर्दभसे लेकर छः पशु हैं, 'गौरः' सफेद रंगवाला जंगली हरिण, शरभ आठ पैरवाला, चमरी(गौके समान हरिण), 'च' पदसे अन्य भी अप्रसिद्ध(जो मशहूर नहीं है) ऐसे जंगली पशु समझ लेने. गांवकी चमरीके दो खुर होते हैं, वे भगवान्ने ही रचे हैं. क्षत्त! यह सम्बोधन विदुरको देकर उसकी निपुणता प्रकटकी है. ये ही अनेक प्रकारके पशु विश्वामित्र आदि ऋषियोंने योगबलसे बनाये हैं.

उन पशुओंकी भगवत् तत्सृष्ट पशुओंमें गणना नहीं की जाय तदर्थ मैत्रयने आज्ञाकी कि अब भगवन्के बनाये हुए पांच नखवाले पशुओंको सुनो. इन पांच नखवालोंमें बहुत सन्देह है क्योंकि पांच नखवाले मनुष्य भी है, मनुष्य न समझे जावे इसलिए 'पशून्' शब्द स्पष्ट दे दिया है. यद्यपि मनुष्योंका पशुत्व भी श्रुति सिद्ध है तो भी यहां उसके कहनेकी इच्छा नहीं है मनुष्योंकी गणना पशुओंमें नहीं की गई है।।२३।।

श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः।।२४।।

कुत्ते, शियाल, वृक(भेड़िया), व्याघ्र, मार्जार(बिल्ली), खरगोश, शलड़ी, शेर, बन्दर, हस्ती(हाथी), कछुआ, गौधा(गोह), मगर आदि पांच नखवाले है.।।२४।।

कुत्तेसे लेकर तेरह(१३) पांच नखवाले हैं. उनमें मगर आदि सब पृथ्वी पर नहीं चलते हैं. अण्डोंसे उत्पन्न होनेसे एक प्रकारके हैं. कूर्म(कछुवा) जलचर है तो भी अण्डोंसे उत्पन्न न होनेके कारण पृथक् गिना गया है. मगरके साथ आदि शब्द देनेसे सांप आदि भी ग्रहण किये हैं. क्योंकि अण्डेसे उत्पन्न होनेसे दोनोंमें साम्यता है।।२४।।

उनमें भी जो मुख्य है उनको निम्न श्लोकमें बताते हैं:

कङ्क–गृध्र–बक–श्येन–भास–भल्लूक–बर्हिणः।
हंस–सारस–चक्राह्व–काकोलूकादयः खगाः।।२५।।

कङ्क, गीध, वट, बाज, भास, भल्लूक, मोर, हंस, सारस, चक्रवाक, कौआ, उलूक(उल्लू) आदि पक्षी हैं।।२५।।

भल्लूक भी विशेष प्रकारका पक्षी है न कि रीछ है. कितनेक कहते हैं कि इसको विश्वामित्रने रचा(बनाया) है. पद्मकल्पमें रीछ नहीं था. 'आदि' शब्दसे जो सूक्ष्म(स्वल्प) पक्षी हैं. उनका भी समावेश किया है।।२५।।

इस प्रकार भोग्य(भोग करने योग्य) और भोक्ताओं(भोग करनेवालों)का वर्णनकर, इस निम्न श्लोकमें उन(दोनों)के नियामकोंका वर्णन करते है:

अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम्।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः।।२६।।

हे क्षत!(संयमी) जो नीचे आहारका संचार करनेवाली एक मनुष्योंकी

जो सृष्टि है वह मनुष्योंकी एकप्रकार सी हैं. उनमें रजोगुण अधिक है एवं वे कर्मके परायण ही रहते हैं दुःखमें सुख मानते हैं।।२६।।

'तु' शब्द यह सूचित करता है कि इनकी उत्पत्ति पहलेकी तरह नहीं हुई. जिनके आहारका सञ्चार कण्ठसे सीधा होता है. मनुष्योंकी ये सृष्टि एक प्रकारकी ही है. सर्व जो पांच नखवाले तथा जलचर है वे भी ऐसी ही है वा एक पादवाले जलचर उस कल्पमें नहीं थे. उनके पूर्वकी तरहके लक्षण कहते हैं कि उनमें रजोगुण अधिक है. उनमें न सतोगुण है और न तमोगुण है. जो भगवदीय हैं वे गुणातीत होनेसे देव है न कि मनुष्य हैं, अथवा ब्रह्माके बनाये हुए भी नहीं है, अथवा कल्पमें उनका अभाव था उनमें रजोगुण होनेसे उस स्थान पर महाभूत नहीं है. सदैव कर्मके परायण होनेसे कर्म करते रहते हैं. उनकी ज्ञानेन्द्रियां गौण हैं, यों कहनेसे उनके विषयेन्द्रियोंका निरूपण कहा है. वे दुःखमें सुख मानते हैं. इसीसे इनकी बुद्धिका माप हो जाता है कि इनमें कितनी बुद्धि है. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि सुखमें तो सुख समझते हैं किन्तु दुःखके साधनमें भी सुख मानते हैं, इसी तरह आधिभौतिकादि भेदसे स्थावर जंगम और मनुष्यसृष्टिके प्रकार कहे हैं वे तीन ही हैं।।२६।।

अन्य स्थान और रूपके कारण पृथक् होते हुए भी उत्पन्न नहीं होते हैं उनका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं:

वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम!।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः।।२७।।

हे श्रेष्ठपुरुष! ये तीन प्रकारकी सृष्टियां वैकृत हैं और देवसर्ग वैकारिक हैं. वैकारिक देवसर्ग तो कहा है कुमारोंकी सृष्टि दोनोंरूप(देव एवं मनुष्यरूप) है।।२७।।

ये तीन देवसर्ग वैकृत हैं. हे श्रेष्ठा! यों सम्बोधन देनेका आशय यह है कि देव सर्ग फलरूप है. देव सर्ग वैकारिक कहा है वह दो प्रकारका है एक वैकारिक सात्त्विक है और दूसरा वैकारिक विकारसे उत्पन्न हुआ है वह दसवां है, वहां प्रथममें निर्णय बताते हैं कि 'वैकारिक', वैकारिक(सात्त्विक) है.'तु' शब्द देकर इस वैकारिकसे भेद कहते हैं. जो सात्त्विक वैकारिक कहा है, वह पांचवा कहा है. कौमारसर्ग उभयरूप होनेसे देव भी है तथा मनुष्य भी है अतः वह पृथकतासे नहीं कहने योग्य है इसलिये 'तु' शब्द दिया है. कितने ही कहते हैं कि पुण्योंके परियाक

हो जाने पर मनुष्य ही देव हो जाते हैं. अतः देवोंके नव(नौ) ही सर्ग है क्योंकि गुणोंके अन्य विशेष भेद नहीं होते हैं. उत्पत्तिसे नौ प्रकारके होते हुए भी उत्पत्ति एवं उपसंहारसे दश प्रकारके हैं. इसलिए 'च' शब्द कहा है।।२७।।

यद्यपि देव सर्ग एक प्रकारका है तो भी अवान्तर भेदसे आठ प्रकारके हैं. वे प्रकार निम्न श्लोकमें कहते हैं:

देवसर्गश्चाऽष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः।
गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः।।२८।।

देव सृष्टि आठ प्रकारकी है–देव, पितर, असुर, गन्धर्व, अप्सराएं, सिद्ध, यक्ष, राक्षस तथा चारण।।२८।।

विबुधपदसे इन्द्रादि देवोंका एक प्रकार, पितर और असुर एक प्रकार, गन्धर्व और अप्सराएं एक प्रकार, सिद्ध एक ही प्रकार, यक्ष राक्षस एक प्रकार चारण भी यक्षोंमें ही है. यों कितने ही कहते हैं।।२८।।

भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः।।२९।।

भूत, प्रेत, पिशाच, विद्याधर और किन्नर आदि, हे विदुर! ये दस प्रकारके सर्ग विश्व रचनेवाले बनाये हैं।।२९।।

भूत, प्रेत और पिशाच ये एक प्रकार विद्याधर पृथक् है यों कितने ही कहते हैं किन्नर, किम्पुरुष आदि यों सबका प्रतिपादनकर उपसंहार करते हैं. हे विदुर! इस प्रकारसे दश कहे हैं. विदुर! यह संबोधन स्नेहसूचक है. स्नेहसूचक सम्बोधन देनेसे बताया है कि मैंने जो सुनाया है वह सत्य है ये सर्ग ब्रह्माने ही किये हैं।।२९।।

इतना कहकर मैत्रेयजी पहलेकी तरह मौन हो गये परन्तु फिर यह समझ कर कि(ये) पूछेगे. इसलिये स्वयं जो दूसरा कहना चाहिए वह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

अतः परं प्रवक्ष्यामि वंशान् मन्वन्तराणि च।
एवं रजः प्लुतः स्रष्टा कल्पादिष्वात्मभूर्हरिः।।
सृजत्यमोघसंकल्प आत्मैवात्मानमात्मना।।३०।।

इसके बाद तुमको वंश और मन्वन्तर कहूंगा, इसी प्रकार कल्पोंकी आदि(आरम्भ)में सत्यसङ्कल्प, रजोव्याप्त होकर आत्मभूने ब्रह्मा बनकर

अपनेसे अपनेको रचा।।३०।।

''अतः परं प्रवक्ष्यामि'' इस पंक्तिमें 'परं' पदसे यह सूचित किया है कि इसके बाद साथमें ही कहूंगा यों नहीं है, किन्तु शेष निरूपणके अनन्तर किसी समय कहूंगा. शेष दो रूप बचे हैं. इन्द्रियां और बुद्धि उन दोनोंका निर्देश करते हैं– वंशों और मन्वन्तरसे उनका वर्णन बताऊंगा क्योंकि 'वंश' इन्द्रियरूप हैं और 'च' शब्दसे उनके संबन्धी भी तत्त्वसे कहना चाहिए यों प्रतिज्ञा की है. इसी तरह भगवान् अनेक प्रकारोंकी(सृष्टि) किसलिए वा कब करेंगे? इस शङ्का पर कहते हैं, 'रजः प्लुतः' भगवान् रजोगुणसे व्याप्त होकर सृष्टि रचनेमें प्रवृत्त हुए. सर्व कल्पोंमे अपनेमेंसे ही स्वयं ही आविर्भूत(प्रकट) हुवे हैं सबके दुःख निवारण करनेकेलिए केवल सत्यसङ्कल्पसे ही कर्ता, कर्म एवं करणरूप स्वयं ही बनकर रचना करते हैं ब्रह्मा भी रजोगुणसे व्याप्त भगवान् ही कल्पादिषु वचन देकर यह सूचित किया है कि तत्त्वों सहित ब्रह्माण्ड बहुत प्रकारसे रचते हैं. रजोगुण भी स्वयं(आप भगवान् ही) हैं. इसलिये आपको ही करणत्व है तथा कर्म, काल आदि भी आप ही हैं. जगत् भी स्वयं ही हैं इसलिये कर्मत्त्व भी आपको ही है. पुरुष आदि भी आप ही हैं. इस प्रकार अपनको ही कर्तापन है. इस कारणसे सब हरि हैं, यों सिद्ध हुआ।।३०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके १० वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ११

मन्वन्तरादि काल विभागका वर्णन

एकादशे तु कालस्य सर्वेषाम् इन्द्रियाणि यत्।
आध्यात्मिकं तु यद् रूपं त्रेधा तद् विनिरूप्यते।।का.१।।

इस एकादश अध्यायमें[१] 'तु' जो सबकी इन्द्रियां हैं और जो आध्यात्मिक रूप हैं, उस कालका तीन प्रकारका निरूपण किया जाता है।।१।।

१.'तु' पद इस अध्यायकी संगति बतानेकेलिये कहा है.

मनुष्यसे लेकर ब्रह्मा पर्यन्तकी इन्द्रियोंको अपनी देहमें आसक्ति पैदा कराके जो नाश होता है वह 'आयु' शब्दसे पहचाना जाना कालरूप है और ब्रह्माकी आयुकी सीमा बांधनेवाला जो आध्यात्मिकरूप है, वह तीन प्रकारका है जैसे कि १.'पद' २.'परार्ध' ३.'कल्प' नामोंसे निरूपण किया गया है. इससे शास्त्रके विचारमें अवसर संगति है. परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे 'कल्प' सम्बन्धी प्रश्न किया है जिसका उत्तर ब्रह्मकल्पके अनन्तर देनेको कहा था एवं मैत्रेयजी कालके अवयवोंकी स्थिति सृष्टि शेषत्वमें कहेंगे यह प्रसङ्ग आया है अतः सङ्गति है.

सर्वो हि भगवान् कालः तदर्थम् उपचर्यते।
धर्मप्रयुक्तो यः कालः स हि ब्रह्माणमेयिवान्।।का.२।।

सर्व 'काल' भगवद्रूप है व उसकेलिये अर्थात् उस प्रयोजनकेलिये 'काल' गिना जाता है, [१]कारणकि वह धर्मकेलिये योग्य काल ब्रह्माके पास गया[२] है।।२।।

१.आयुष्यरूप कालको इन्द्रियां कैसे कहा जाता है? इस शङ्काका यह उत्तर है कि यह सर्वकाल ब्रह्माका आयुष्यरूप होनेसे उपचार(लक्षण)से इन्द्रियां कहा गया है, वह काल अक्षरकी सीमा नहीं बांधता है किन्तु उसका निमिष मात्र है, यों तो स्वरूपसे काल भगवद्रूप है.

२.काल गतिरूप धर्मवाला होनेसे ब्रह्माके आयुकी सीमा बांधता है. 'प्रकाश'

सूर्यात्मकस्तु यः कालः सर्वेषां सोऽपि च त्रिधा।
कार्ये प्रवेशाप्रवेशाद् दर्शनादर्शनात् तथा।।का.३।।
भचक्रस्थानभागाभ्याम् अत्राप्युच्चावचं सदा।।का.४।।

सूर्यरूप जो सबका (देव-मनुष्य और पितरोंका आयुष्यरूप) काल हैं, वह भी कार्य(जल)में प्रवेश करनेके अनन्तर वा प्रविष्ट तभी होकर, एवं दर्शन दे या नहीं दे और ज्योतिश्चक्रके स्थानोंके विभागोंके कारण तीन प्रकारका है

क्योंकि इसमें भी ऊंचे–नीचे स्थान हैं।।३।।४।।

इसी तरह पूर्वाध्यायमें कालका स्वरूप एवं कार्य कहकर उसके अवान्तर भेदोंका निरूपण करते हैं:

सूर्यगत्या तु तद् भेदाः सूर्यस्तस्याधिदैविकम्।
आध्यात्मिकं तु तद् भेदाः क्वचिद् इच्छाऽपि भेदिका।।का.१।।
पृथिवी च जलं तेजो देवास्तु पितृमानुषाः।
उपाधित्रितयं प्राहुः ततः कालस्त्रिधा मतः।।का.२।।

सूर्यके(आध्यात्मिक कालके) विभाग तो सूर्यकी गतिसे होते हैं सूर्य उसका आधिदैविकरूप है, उसके विभागोंको आध्यात्मिक कहते हैं किसी प्रसङ्ग पर(परलोकमें वा प्रलयके समय) भगवान्की इच्छा भी विभाग करती है. पृथ्वी, जल और तेज, तथा देव, पितर एवं मनुष्य ये तीन उपाधियां हैं. इस कारणसे काल तीन प्रकारका माना गया है।।२।।

आरम्भमें मनुष्योंके दिन और रात्रिका निर्णय करनेकेलिये पृथ्वीके ऊपरके लोकमें पृथ्वीके बीचमें आनेसे अथवा बीचमें न आनेसे सूर्यके दर्शन नहीं होते हैं जिससे कालके रूप दिन और रात्रि होते हैं यह बतानेकेलिये पृथ्वीके ही परमाणुके (हुवे) कालके विभागोंको कहते हैं. उसमें सीमारूप हुए परमाणुका लक्षण नीचेके श्लोकमें कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

चरमः सद् विशेषाणाम् अनेकोऽसंयुतः सदा।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणाम् ऐक्यभ्रमो यतः।।१।।

मैत्रेयजी ने कहा कि कार्यके अवयवोंसे अन्तिम एकके सम्बन्धमें भी जो नहीं आ सकता है ऐसे अवयवको (परमाणु) कहते हैं, जिससे मनुष्योंको ऐक्य भ्रम होता है।।१।।

सत्कार्य(घटादि)के अवयवोंमें जों अन्तिम अवयव है जिसका फिर अवयव नहीं बन सकता है, अतिसूक्ष्म होनेसे पृथक् हो नहीं सकता है उसको 'चरम'(अन्तिम) कहा जाता है वह भी यदि सजातियोंके साथ समुदायकी अवस्थाको प्राप्त न हुआ हो, वह कहते हैं. 'अनेके' अकेले नहीं अर्थात् कार्यरूपमें न आया हो, इसका सारांश है कि मिले हुवे न हों सदा कभी कार्यावस्थामें संयोगको प्राप्त होंगे ही, यह लक्षण संभव नहीं, अनेकत्व, एक

संख्याका अभाव नहीं है वहां सजातीय बहुत ही रहते हैं, इसलिये 'अनेकत्व' है. भौतिक होने पर नित्य गतिवाला होवे तो वह परमाणु जब स्वरूप कार्योत्पत्तिकर सके जब इस प्रकारका सिद्धान्त बने, तब तो सिद्धान्तमें स्थूलसे ही सूक्ष्मकी उत्पत्ति हो, अपने समान अवयवोंके स्थूल अंश ही कार्य उत्पन्न करनेवाले होंवे वस्त्रादिमें जो अनेक अवयवोंको जोड़ा जाता है, वह कपासादिके स्थूलरूपकी ही दीर्घ बनी हुई खास आकृति है. और समुदायका ही उपादानत्व है, इसी प्रकार कुण्डल प्रतिमादि भी तो समुदायका उपादानत्व है, यों नहीं हों(न माना जाय) तो कार्य अनेक हो जावें एकका एक ही उपादान होना चाहिये यह निश्चय सिद्धान्त है, कार्य पंचभौतिक होनेसे जलादि उसमें मिले हुवे हैं, वे भी वहांसे पृथक् होने पर परमाणु बन जाते हैं.

वस्तुतः भगवान् सर्वत्र उपादान है जिससे उसको चरमत्व है इसलिये वह ही चरमत्व युक्त बनता है, उसके व्यावृत्तिकेलिये 'अनेके' कहा है वह तो एक ही है, असम्भवकी व्यावृतिकेलिये 'सदा' कहा हैं, परमाणुका स्वरूप अच्छे प्रकारसे जानना चाहिये सत् युक्तियोंसे हो उसका ज्ञान प्राप्त करना, न कि कुयुक्तियोंसे उसका स्वरूप विपरीत न समझ लेना, इस प्रकार परमाणु स्वरूप समझाकर अब उसका कार्य स्वरूप कहते हैं ''नृणाम् ऐक्य भ्रमो यतः'' मनुष्यों(जीवों)को जिन परमाणुओंके कारण ही आत्मस्वरूपके साथ देहकी एकताका भ्रम होता है. उन ऐक्यभ्रमके कारण परमाणु ही हैं, क्योंकि वे अतिसूक्ष्म हैं, धर्म और अधर्मसे संस्कृत ही जीवसे सम्बन्धवाले होते हैं, तब देहभावको प्राप्त होते हैं, अतएव (इस कारणसे ही) वे दुष्ट हैं, कालकी उपाधिरूप हैं, उसके सम्बन्धसे जीवका नाश ही होता है. इस कारणसे ही वे भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं. पुञ्जसे पुञ्जकी उत्पत्ति होती है इस पक्षको ले भ्रमसे कितने यों कहते हैं, वह सह लेना चाहिये.

इसलिये ही काल व अवयवपनसे निरूपण जो है उसकेलिये 'भ्रम' पद दिया है, मन तो परमाणु परिमाण ही है, न कि परमाणु है. 'परमाणु' चार प्रकारके हैं, अन्यथा(नहीं तो) परमाणु पांच प्रकारके हों, कार्य उनसे होवें परमाणुत्वसे अतः नित्य गतिमत्व लक्षण नहीं है. ''**तद् एजति तद् न एजति**'' इस श्रुत्यनुसार नित्य भगवान् परमाणु है भौतिकत्व तो उनका सिद्ध करना है, स्मृतिशास्त्र श्रुतिसे बाधके योग्य है, इसलिये वैशेषिकोंका दिया लक्षण यथार्थ नहीं हो और प्रकृत प्रसङ्गमें उसका उपयोग नहीं है।।१।।

इसी तरह परमाणुके लक्षण कहकर अब इस निम्न श्लोकमें परम् महान्का लक्षण कहते हैं:

सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्।
कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः।।२।।

स्वरूपमें लीन सत्(कार्यरूप पदार्थ)का जो ऐक्य, जिस ऐक्यमें फिर किसी पदार्थका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता है कि यह पृथ्वी आदि है उस समय किसी प्रकारका भेद भी नहीं दिखता है, वह स्वरूप (परम-महान्) है।।२।।

कार्यमात्र सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, जो स्वरूपमें स्थित है, न कि प्रकटरूपमें स्थित है वह 'कैवल्यं' एकता है, उस(कैवल्यको) 'परम-महान्' कहा जाता है यों लक्ष्य है, केवल पृथ्वी महान् है, इस पक्षका निषेध करते हैं कि 'अविशेष' इति इस प्रकार विशेषणसे असत् सिद्ध करते हैं, अर्थात् यह न पृथ्वी है और न जल है यों विशेष बुद्धिका विषय नहीं है, सदैव भेदशून्य है. 'सत एव' इस पदसे स्वाप्निक पदार्थका परिहार किया है अर्थात् स्वाप्निक पदार्थ नहीं है, 'पदार्थस्य' इससे वेदका परिहार किया है (वेदकी शङ्का मिटाई है), 'स्वरूपावस्थितः' स्वरूपमें ही स्थित हैं यों कहकर कार्यका परिहार किया है, जिससे ब्रह्माण्डमें स्थित भगवान् परम-महान् है यों सिद्ध किया है सकल पदार्थ सर्वत्र एक बुद्धिसे आरूढ़ नहीं है और न विशेष कल्पनाशून्य है तथा सर्वरूप एवं एक होते हुए भी समस्त सत् होते हुए भी स्वरूपस्थ होनेके कारण यह एक है जो भी ऐसी बुद्धिसे इसका ज्ञान नहीं होता है, कारणकि वह कल्पनातीत है, तथा प्रमाणोंकी अपेक्षा भेदरहित होनेसे वह सूर्य प्रकाशवत् महान् हैं अर्थात् जितना सूर्यसे प्रकाशित होता है वह सर्व मिलने पर परम् महान् होता है।।२।।

इस तरह पूर्व और उत्तरकी अवधि(सीमा) बताकर उसमें जो काल सम्बन्धवाला है उस कालका निरूपण इस श्लोकमें करते है:

एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम!।
संस्थानभुक्त्या भगवान् अव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः।।३।।

हे श्रेष्ठपुरुष! व्यक्त जो प्रकट हैं उसका भोगकर्ता किन्तु स्वयं अप्रकट ऐसे समर्थ भगवान् हैं कालका भी इसी तरह सूक्ष्म तथा स्थूलत्वसे स्थानके योगसे अनुमान करना चाहिए।।३।।

जैसे कार्यके अन्तिम अवयवसे और कार्यके समुदायसे परमाणु तथा

परममहान्का अनुमान किया, इसी तरह सूक्ष्मत्व और स्थूलत्वमें उसका भोग करनेवाले इसी प्रकारकी सीमा बांधनेवाले कालका भी अनुमान करना चाहिये हे सत्तम! यह सम्बोधन अनुमान ज्ञानकेलिये दिया है.

कालका भी भगवान्की तरह असङ्ग है उसका पदार्थके साथ सम्बन्ध कैसे होगा? और कैसे अनुमान किया जायेगा? यदि इसका अनुमान होगा तो भगवान्का अनुमान भी होगा? इसका उत्तर देते हैं कि 'संस्थान भुक्त्या' अर्थात् परमाणुत्व और परममहत्व जो अवस्था विशेष है वह भगवान्के वस्तु स्वरूपत्वसे समान होते हुए भी उसको केवल अवस्था विशेष कहा जाता है, उसका जो भोग, वह कालकृत ही है, सारांश यह है कि कार्यकी सूक्ष्मता एवं स्थूलताके कारण ही कालकी सूक्ष्मता और स्थूलता मानी(कही) जाती है. यों कैसे करते हैं यों करनेसे स्वरूप अन्य प्रकारका हो जायेगा? उसका फिर भोग होगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'भगवान्' होनेसे ऐसी सामर्थ्यवाले हैं. जैसे कितने ही ऐसी शक्तिको माया अथवा विद्या कहते हैं इस शास्त्रमें वह 'काल' है यदि यों काल सर्व भोक्ता है तो अब उसको क्यों नहीं देखते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि वह 'अव्यक्त' है, स्वयं अव्यक्त(अप्रकट) होते हुए भी भोजन प्रकट(सबके देखते हुए) करता है, आप अव्यक्त, भोजन व्यक्त कैसे करता है? क्योंकि आप काल 'विभुः' सर्वसमर्थ होनेसे सर्व प्रकार भोजनकर सकते हैं यों अर्थ है।।३।।

अनुमान किये हुए कालको शब्दसे इस श्लोकमें कहते हैं:

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्।
सतो विशेषभुग्यस्तु स कालः परमो महान्।।४।।

जो परमाणुत्वका भोग करता है वह काल निश्चय परमाणु है जो काल सत् पदार्थकी जातिका विशेष भोग करता है वह काल परम महान् है।।४।।

जो काल परमाणुत्वका भोग करता है परमाणुमें व्याप्त होकर रहता है. इससे आपको भी परमाणुरूप समझता है वह काल 'परमाणु' है इसी तरह सत् पदार्थोंकी जातिका जो भोक्ता है उस भोगसे स्वयं भी उस जातिको प्राप्त करता है वह परम महान् काल है. 'तु' शब्द कहनेका आशय है कि 'महत्तत्व'की भी आयु है।।४।।

इसी तरह आरम्भ और अन्तकालका वर्णनकर अब मध्यकालका निरूपण करते हैं:

अणुर् द्वौ परमाणु स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्क रश्म्यवगतः खमेवाऽनुपतन्न गाम्।।५।।

दो अणु परमाणु होते हैं, तीन अणु त्रसरेणु कहे जाते हैं. वह गवाक्षमार्गसे आनेवाले सूर्यकी रश्मिओं 'किरणों'में अनुभव किया जाता है, वह आकाशकी तरफ ही जाता हुआ दीखता है न कि पृथ्वीकी तरफ आता दीखता है।।५।।

दो अणु परमाणु होते हैं. परमाणु और अणुकालकी व्याख्याकर समझाते हैं कि जिस मार्गसे सूर्यका चक्र जाता है, उस मार्गमें परमाणु देश जितने समयमें उल्लंघन करता है वह काल परमाणुकाल है और जितने समयमें दो परमाणुदेशका उल्लंघन करता है वह काल अणुकाल है, यों आगे भी समझना चाहिये.

जितने समयमें मेषादि द्वादश(बारह) राशियोंवाला समग्र आकाशमण्डल उल्लंघन करता है वह परममहान् काल 'संवत्सर' कहा जाता है. तीन अणुओंसे त्रसरेणु बनता है, इसमें प्रमाण महत्पुरुषोंकी सम्मति है वह जो प्रत्यक्ष है यह 'जालार्करश्म्यवगतः' घरके भीतर जालियोंसे सूर्यकी रश्मियों(किरणों)से भीतर आते दीखते हैं किन्तु उसी ही रश्मिमें आकाशकी तरफ ही जाते हैं न कि पृथ्वीकी तरफ आते हैं, रश्मिके एकवचन देनेका भावार्थ है कि इसका अन्य भेद नहीं है।।५।।

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यःकालः स त्रुटिः स्मृतः।
शतभागस्तु वेधः स्यत् तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः।।६।।
निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघुता दश पञ्च च।।७।।
लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम्।।८।।

जो काल तीन त्रसरेणुका है उसको 'त्रुटि' कहा जाता है वह त्रुटि वेधका शतवां(सौवां) भाग है 'तु' शब्द देनेका भाव यह है कि यहां 'शत' पद एकसौका ही वाचक है कि विशेषका अतः एकसौ त्रुटिका एक वैध माना जाता है, तीन वेधोंका लव होता है।।६।।

तीन लवोको 'निमेष' कहा जाता है तीन निमेषोंको 'क्षण' कहा जाता है, पांच क्षणोंको 'काष्ठा' कहते हैं, १५काष्ठाको 'लघु' माना जाता है।।७।।

१५लघुको 'नाडिका' कहा है, दो नाडिका 'मुहूर्त', छः या सात नाडिकाओंका एक प्रहर होता है–यह मनुष्योंके कालकी गणना है।।८।।

तीन त्रसरेणुके कालको 'त्रुटि' कहा जाता है, सौ त्रुटिका 'एक वेध' होता है, 'तु' पद इसलिये दिया है कि यहां 'शत' पद एक सौकी संख्या बताता है, तीन वेधका एक लव होता है, तीन लवको 'निमेष' कहते हैं तीन 'निमेष'को 'क्षण' मानते हैं, पांच क्षणको काष्ठा कहते हैं, १५काष्ठाको'लघु' कहते हैं, १५ लघुओंको 'नाडिका' कहते हैं, दो नाडिकाको 'मुहूर्त्त' गिना जाता है, ६ व ७ नाड़िकाको 'प्रहर' माना जाता है यह मानवकी काल गणना है. कारणकि 'नाडिका' घड़ीसे स्थूल है इससे कैसे भी रात और दिन बड़े हैं उसका चौथा भाग सात नाड़ियोंका है जब कम होता है तब छः नाड़ियोंका होता है इसी प्रकार दिन रात्रिमें ५२नाड़िकाएं होती हैं. इसी तरह यहां ६०नाड़ियां गिनी गई हैं.

अन्य मतका विवेचन करते हैं जो दोनों सन्ध्याओंको छोड़ना कहते हैं उनको ''यामाः चत्वारः श्चत्त्वारः'' इस वाक्यको ध्यानमें लाना चाहिए.

यदि यों कहा जाय कि प्रातः सन्ध्याकी गणना दिनमें और सायं सन्ध्याकी गणना रात्रिमें कर दोनोंको ४ घड़ी न गिनी जाय, यों मान लो, यों गणना करनेसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है.

सन्ध्या और सन्ध्यांशके सिवाय मध्यमें धर्मकेलिये है, यदि यों कहो तो, यों भी आयु निरूपकपनसे उनका त्याग करने पर किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं, यदि कहो उस कालमें धर्म करनेसे आयुकी वृद्धि होती है अन्यथा दूसरे समयमें (सन्ध्या समयमें) धर्म करने पर आयुका ह्रास होता है 'उद्यन्नस्तमयन्नसौ' इस वाक्यका विरोध आता है और (नच नृणाम्) मनुष्योंका इस वाक्यानुसार ''**पूर्व–संध्याकालो देवानाम् पश्चात्तनो असुराणाम्**'' यों होने पर भी आयुके परिमाणकेलिए नहीं गिनना चाहिए इस प्रकारका कहना केवल धर्मकेलिये ही है यों कहना अनुचित है किञ्च वक्ष्यमाण प्रमाण यदि साम्प्रत नाड़ी प्रमाण ही बने, तब इस प्रकार कल्पना करना उचित भी बन सके यह नाप घड़ीसे बढ़ता है।।६–८।।

उसको(नाडिकाको) जाननेके लिये निम्न श्लोक कहा है:

द्वादशार्ध पलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम्।।९।।

छ पलकी चार अंगुलके सुवर्णके माषकी बनी चार शलाकाओंसे छिद्र किया हुआ पात्र जितने समयमें एक प्रस्थ (६४ तोला) जलसे भरकर डूब जाय उस कालको 'नाडिका' कहा जाता है।।९।।

'नाडिका'का माप समझाते हैं बारह पलोंका आधा भाग ६ पल, जिनसे बनाया हुआ पात्र हो, उसमें चार तोलोंके चार शलाकाओंको मिलाकर मध्यमें छेद किया जाना चाहिये तीन पल गुञ्जा हैं, पांच गुञ्जा परिमितमाष चतुर्गुण हो चौंतीस तिलोंकी चतुराङ्गल होवे उसमें धरे जावे अनन्तर वह पात्र जलमें रखा जाय उस पात्रमें ६४ तोला(प्रस्थ) जितना जल जितने समयमें भर जाय उस समयको 'नाडिका' कहते हैं, यदि द्वादशार्ध लिखकर पूरी ६ संख्या न बताई जाती तो समान ज्ञान न होता अतः ज्ञानकेलिए द्वादशका आधा लिखा है।।९।।

इसी तरह नाडिकाका माप बताकर उससे उपरके कालका परिमाण इस श्लोकमें कहते हैं:

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद।।१०।।

हे मानद! दिनमें चार प्रहर हैं और रात्रि भी चार प्रहरकी होती है, इसी तरह समग्र एक दिन आठ प्रहरका होता है, ऐसे पन्द्रह दिनको पक्ष कहा जाता है वे पक्ष दो हैं एक शुक्ल और एक कृष्ण।।१०।।

चार प्रहर दिन फिर चार प्रहर रात्रियोंको जतानेकेलिये 'प्रहर' शब्द दो बार कहा है. 'अहनी' पदका आशय हैं दिन-रात्रि. 'उभे' पद देनेका तात्पर्य यह है कि फिर कहनेकी आवश्यकता न रहे, यों दोनों(दिन-रात्रि) मिलकर एकदिन कहलाता है ऐसे पन्द्रह दिनोंका एक पक्ष कहलाता है वह पक्ष दो प्रकारका है, एक शुक्लपक्ष और एक कृष्णपक्ष. जिस रात्रिके प्रारम्भमें चन्द्रमाका दर्शन होता है वह शुक्लपक्ष है जिस रात्रिके प्रारम्भमें इस द्वीपमें चन्द्रदर्शन नहीं होता है, वह कृष्णपक्ष समझा जाता है. 'मानद!' यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि गुरुके वचन सुनते ही समझ जाते हैं इसलिये गुरुको परिश्रम न कराते हुए मान देते हैं, पन्द्रह दिवस कहनेका तात्पर्य कला ज्ञानार्थ है।।१०।।

तयोः समुच्चयो मासः पितृणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि।।११।।
अयने चाऽहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः।
संवत्सर शतं नृणां परमायुनिरूपितम्।।१२।।

दोनों पक्ष(शुक्ल और कृष्ण) मिलकर मास बनता है अर्थात् दोनों पक्षोंके मिले हुए दिनोंको महीना कहा जाता है. दो मास ऋतु कही जाती है. छ

मासका अयन होता है. वे दो होते हैं एक दक्षिणायन और एक उत्तरायन स्वर्गमें दोनों अयनोंको दिन रात्रि माना है, द्वादश मासको वर्ष माना है. सौ वर्ष मनुष्यकी परमायु कही गई है।।११-१२।।

इन दोनों पक्षोंके मिलनेसे एक मास कहलाता है वह दो प्रकारका होता है, यों दोनों प्रकार इसका अभिप्राय है, वह मनुष्यमास पितरोंका दिन-रात्रि है अर्थात् एक दिवस है. वह इस प्रकार होता है-सूर्य जब चन्द्रमाकी १५ कलाओंमें प्रवेश करता है तब चन्द्रके बीचमें आजानेसे रात्रि होती है और जब उसमें निकल आता है तब दिन होता है, पितृगण जलकृत रुकावट ही सूर्यकी मानते हैं न कि पृथ्वीकी रुकावट मानते हैं.

जैसे चन्द्रके होते हुवे वा न होते हुवे सूर्यके उदय और अस्तसे रात्रि-दिनकी व्यवस्था होती है वैसे ही उनके(पितरोंके)लिये सूर्य स्थिति प्रयोजक नहीं है. सूर्य, चन्द्रकलाओंमें प्रवेश करे वा निकले इतना ही उनकेलिये आवश्यक है, सूर्य प्रवेश ही कलाओंकी उत्पत्ति है निकलना ही कलाओंका क्षय है. निकलना ही दिन है इसलिये अमावस्या उन(पितरों)का दिन है उसमें वे भोजन करते हैं, पूर्णमासीको तृप्त हो नींद लेते हैं यों उनके दिन-रात्रिकी व्यवस्था है, इसी प्रकार दो मासकी ऋतु होती है तथा ६ महीनोंका अयन होता है, दो अयनों अर्थात् बारह महीनोंका संवत्सर (वर्ष) होता है. दोनों अयनोंका नाम दक्षिणायन और उत्तरायण है वे दो अयन स्वर्गमें रात्रि-दिन है. दक्षिणायन रात्रि है उत्तरायण दिन है स्वर्गमें रहनेवाले तेजकेलिये सूर्यके आवरणको मानते हैं, न कि पृथ्वी या चन्द्रकृत आवरणको मानते हैं, वहां तेज शब्दसे नक्षत्र कहे जाते हैं, वहां उत्तराषाढा नक्षत्रमें जब सूर्य होवे तब उत्तरायणके दिनका अरुणोदय होता है, उस नक्षत्रका चौथा भाग जब भोगता है तब सूर्यास्त है जब मकर राशिमें सूर्य स्थित होता है तब मकर संक्रांति होती है. पुनर्वसु नक्षत्रके तीन पाद तक दिन रहता है, ये नक्षत्र मालाकी तरह एक दूसरेके सन्मुख रहते हैं, उन नक्षत्रोंमें परभाग या पूर्वभागमें स्थित नक्षत्र आधे नक्षत्रोंको देखते हैं आधेको नहीं देखते हैं, जैसे द्विगुण वस्त्र होवे तो चित्रके आधेको ही एकतरफ स्थित देख सकते हैं. वैसे ही पुनर्वसुके चौथे भागसे लेकर उत्तराषाढ़ा नक्षत्रका सूर्यके देखनेमें रुकावट है, ये सब ऊपर मुखवाले मालाकी तरह आकाशमें देखनेमें आते हैं.

जब दक्षिणायन नक्षत्र सूर्य सहित होते हैं तब दोनों प्रकारके नक्षत्र

अधोमुख(नीचेमुख)वाले होते हैं इस कारणसे सूर्यको नहीं देख सकते हैं, 'प्राहु' यों बड़े कहते हैं यह प्रमाण है, १२ मासोंका वर्ष होता है यहां भी 'स्मृतः' पद प्रमाण है. सौ वर्ष मनुष्योंकी परमायु है, यदि उसमें बृद्धि या क्षय(कम ज्यादा) न होवे तो एक संवत्सरसे एक आयुका काल उपभोग करता है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'शतायुर्वैः पुरुषः' पुरुषकी आयु एकसौ वर्षकी है. धर्म करने पर जब काल आयुका भोग रोक लेता है तब सौ वर्षसे आयु बढ़ जाती है, यदि कोई पापी पाप करता है और वह पापकालके समान होता है तब पाप और काल साथमें मिलकर उसकी आयुका भक्षण कर डालते हैं. यदि पाप विशेष होवे तो आयुका शीघ्र क्षयकर डालता है, बहुत ज्यादा पाप यदि बहुत जन्म देनेवाले होंवे तो गर्भमें आनेके समयसे लेकर २५वर्ष पर्यन्त अनेक जन्म वह ले लेता है, यों होने पर यों नहीं समझना चाहिये कि वेदने मनुष्यकी जो सौ वर्षकी आयु कही है वह कहना असत्य है. आयु बढ़ाना एवं घटाना मनुष्यके हाथमें है, जैसे किसीको धन दिया जावे उसको वह कितने दिनोंमें खर्च करे यह उसके अपने हाथमें है, 'आयु' वर्ष मासोंमें नहीं मिलती है किन्तु 'श्वासों'में मिलती है जिनका खर्च हमको एक वर्षमें करना चाहिये अब यदि हम धीरे-धीरे खर्च करें तो आयु बढ़ेगी तथा जल्दी-जल्दी खर्च करें तो आयु कम हो जाती है।।११-१२।।*

*१०वें श्लोकमें दोनों पक्ष पन्द्रह-पन्द्रह दिनके कहे हैं, किन्तु गणित करने पर जब तिथि घटती है या बढ़ती है तब पक्षकी गिनतीमें बाधा आती है इस शङ्काको मिटानेकेलिये कहा गया है कि सूर्यको पृथ्वीकृत रुकावट(पर्दा)के आजानेसे गणित द्वारा तिथिकी वृद्धि वा ह्रास(बढ़ना या कम होना) होता है, किन्तु चन्द्रकी कलाओंके विचारसे घटना या बढ़ना नहीं होता है इसलिये पक्ष पन्द्रह दिनका कहा गया है.

११वें श्लोकमें 'तयोः समुच्चयः'-मास दो प्रकारका माना गया है जैसाकि भगवती श्रुति कहती है कि ''अमावस्या हि मासान् पश्यन्ती पौर्णमास्या हि मासान् पश्यन्ती'' अमावस्या मासोंको देखती है और पूर्णिमा मासोंको देखती है इस कारणसे मास दो प्रकारके माने गये हैं, किन्तु वे कृष्णपक्ष व शुक्लके कारण नहीं माने गये हैं, लेकिन छठे स्कन्धमें जैसे कहा है कि चन्द्रमा सूर्यकी परिक्रमाकर १२मासोंके संवत्सरके अवयवकी राशियोंको तथा दो पक्षके मास, दिन और रात्रिको भोगता है एवं सूर्य सपाद हो नक्षत्रोंको भोगता है इस तरह दो प्रकार माने गये हैं. इसी तरह मैत्रेयजीने दो पक्षोंका मास चन्द्रमाके मानसे कहा है, वे ही दो पक्ष पितरोंका दिन रात्रि हैं, सौर(सूर्य) विचारसे सवा दो नक्षत्रका मास गिना जाता है.

इसी तरह सूर्यकृत और चन्द्रकृत मास माननेसे मास दो तरहके कहे है. यह गिनती पन्द्रह दिनके पक्षके अङ्गीकारसे पितरोंकेलिये की है. अतः इसको 'पितृपक्ष' कहा जाता है–अमावस्या पितरोंका दिन है उस दिन वे भोजन करते हैं. पूर्णिमा रात्रि है उसमें शयन करते हैं. देवोंका रात्रि–दिन सूर्यके दो अयनोंसे गिना जाता है. दक्षिणायन रात्रि और उत्तरायण देवोंका दिन है. 'प्रकाश'

इस तरह कालका निरूपणकर अब निम्न श्लोकमें इस विषयका उपसंहार करते हैं:

ग्रहर्क्षताराचक्रस्थः परमाण्वादिना जगत्।
संवत्सरावसानेन पर्येत्यनिमिषो विभुः।।१३।।

ग्रह, नक्षत्र, तारोंके चक्रमें स्थित समर्थ सूर्य सावधान रहके वहांके परमाणुओंके देशसे लेकर समग्र चक्रका एक वर्ष तक भ्रमण करता है.

बुध आदि ग्रह, अश्विनी आदि नक्षत्र एवं अन्य तारे हैं इनको ज्योतिश्चक्र कहा जाता है. जिसमें स्थित सूर्य वहां रहे हुए परमाणु देशोंसे आरम्भकर वर्षके अन्त तक बार–बार मण्डलाकारसे सावधान होकर जैसे कोई ग्रस नहीं लेवे इसी तरह फिरता रहता है. स्वयं समर्थ है इसी तरह जगत्का भोग करता है।।१३।।

उस संवत्सरात्मकके किसी निमित्तसे पांच नाम हैं वे नाम उपासनार्थ कहते हैं:

संवत्सरः परिवत्सरः इडावत्सर एव च।
अनुवत्सरो वत्सरश्च विदुरैवं प्रभाष्यते।।१४।।

हे विदुर! १.संवत्सर २.परिवत्सर ३.इडावत्सर ४.अनुवत्सर और ५.वत्सर ये वर्षोंके पांच नाम हैं।।१४।।

संवत्सर(वर्ष) पांच हैं. उनकी समाप्तिकी सूचना देनेवाले मास भी पांच हैं. संवत्सर(वर्ष) १२ अथवा १३ मासका होता है, यों वेदके ब्राह्मण भागमें कहा है. संवत्सरमें १३ मास नक्षत्रमासमें नियत हैं. चन्द्रमासमें कभी १३ मासका वर्ष होता है. सौर पक्षमें १२ एक वर्षमें नियत हैं. चन्द्रमें कभी १२ मास एक वर्षमें होते हैं. बार्हस्पत्यमें जो प्रभवादि मास हैं वे नियत हैं. वैष्णवमास भी नियत हैं. सावन मास नियत नहीं है, क्योंकि वह प्रतिदिन उदय एवं अस्त होता है, इसलिए संवत्सरकी युक्तिसे प्रभव आदिके नाम सिद्धयर्थ बार्हस्पत्यके मानकी अपेक्षा रहती है. एकादश्यादि व्रतोंकी सिद्धिकेलिये वैष्णवमासकी भी आवश्यकता है

यदि वैष्णव मास न माना जायेगा तो भगवान्का शयन रात्रिको दो भागोंमें होगा. सावनमास तो व्यवहार सिद्ध है श्रुतिसे सिद्धिकी गणनामें नहीं आता है, अतः पांच ही संवत्सर हैं. उनमें चन्द्रसे जिसकी गिनती होती है वह 'संवत्सर' कहाता है. वैष्णवसे गिनतीवाला 'परिवत्सर', सौरसे गिनतीवाला 'इडावत्सर', नक्षत्रसे गिनतीवाला 'अनुवत्सर', दैवसे गिनती 'वत्सर' कहाता है. विदुर! यह सम्बोधन, स्नेहसे परिज्ञान करानेकेलिये दिया है, यद्यपि सबोंका काल एक ही है. संवत्सर भेदसे आवृति नहीं होती है तो भी नाम ही पांच कहे जाते हैं*.

* वर्षकी परिभाषा: जो एक नक्षत्र एकदिन पूर्वदिशामें उदय हुआ वह ही नक्षत्र दूसरे दिन पूर्वमें उसी समय उस स्थल पर उदय हो तो उसको 'नाक्षत्र' दिवस कहा जाता है. ऐसे ३६० दिनका नाक्षत्र वर्ष होता है.

सूर्य और चन्द्र जब फिर वहां ही आके मिलते हैं उस समयको चान्द्रमास कहते हैं, ऐसे १२मासका एक चान्द्रवर्ष होता है. सूर्य मेषराशिसे फिर मेषराशिमें प्रवेश करे उस समय ३६५ दिन, १५ घड़ी, ३१ पल, ३१ विपलको सौरवर्ष(सूर्यवर्ष) कहते हैं. बृहस्पति एक ही राशिमें जितने समय तक रहे उसको बार्हस्पत्य वर्ष कहते हैं. सूर्य एक दिन उदय होके फिर दूसरे दिन जिस समय उदय हो इतने समयको 'सावन' दिन कहते हैं. ऐसे ३० दिनका सावनमास होता है एवं ऐसे १२ मासका एक वर्ष 'सावनवर्ष' कहलाता है.

प्रभव आदि ६० वर्ष हैं, मास नहीं है. इनके पृथक्-पृथक् नाम हैं. इनमेंसे पहला 'प्रभव', बारहवां बहु 'धान्य' और तेरहवां 'प्रमाथी' नाम सुबोधिनीमें दिये हैं. चातुर्मास्य व्रतादि सिद्धिकेलिए, एकादशी आदि वाला वैष्णवमास लिया है, वह सावनमाससे अतिरिक्त है.

आषाढ शुक्ल ११को अनुराधा नक्षत्रके आरम्भमें भगवान् शयन करते हैं, फिर कार्तिक शुक्ला ११को रेवती नक्षत्रके अन्तिम पादमें जागते हैं, यह समय चातुर्मास कहा जाता है.

यदि नक्षत्र मास लिया जावे तो पांच मास और पांच दिन होते हैं जिससे मास संख्याका विरोध आता है, सौर और चान्द्रमास लेनेसे तिथियोंका विरोध आता है, बार्हस्पत्यका यहां सम्बन्ध ही नहीं है.

शेष सावनमास रहा वह बराबर ३०दिनका है, उसके लेनेसे तिथिका विरोध आता है, अतः पौढ़े हुये भगवान्को रात्रिको जगाना, इस वाक्यानुसार शयन भी रात्रिको कराना पड़ता है.

कितने ही ज्योतिषी कहते हैं कि मासत्वसे पुनः आनेवालेके ६० वर्ष १२

प्रकारसे फिर लौटते हुये पांच वर्षरूप होते हैं, वे प्रभवसे लेकर बहुधान्य तक संवत्सर नामसे कहे जाते हैं.

प्रमार्थसे लेकर बारह १२, बारहके प्रथम शब्दसे कहे जाते हैं, उनमें मास आदिका नियमन करनेवाला कोई नहीं होनेसे विचारणीय है।।१४।।

इसी तरह कालके तीन भेद(देवकाल, पितृकाल और मनुष्यकाल) कहकर अब इस श्लोकमें फल प्राप्तिकेलिये उपासना कहते हैं:

यः सृज्यशक्तिमुरुधोच्छ्वसयन् स्वशक्त्या
पुंसोऽभ्रमाय दिवि धावति भूतभेदः।
कालाख्यया गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वं–
स्तस्मै बलिं हरत वत्सरपञ्चकाय।।१५।।

जो भूतोंका भेद करनेवाला उत्पन्न पदार्थों(अंकुरादि)में अपनी काल नामवाली शक्तिको विशेष प्रकारसे प्रकट करते हुये, पुरुषको किसी प्रकार भ्रम न होवे ऐसे भूतोंको भेदकर और यज्ञों द्वारा गुणवाले स्वर्ग आदिको प्रकट करते हुये पुरुषोंको वैराग्य उत्पन्न होवे तदर्थ स्वर्गमें भ्रमण करता है, उस कालरूप वत्सर पांचोंको बलि दो (उसका पूजन करो)।।१५।।

कालका प्रयोजन बताते हुये भजनका प्रतिपादन करनेकेलिये उसका (भजनका) महात्म्य कहते हैं.

जो उत्पन्न होनेवाले अंकुरादिकोंके बीजादिमें स्थित शक्तिको विशेष प्रकारसे प्रकट करते हुये पत्र, पुष्प आदि भेदसे बीज सामर्थ्य उत्पन्न करता है तथा अधिकारीमें भ्रम न हो अतः वैराग्यार्थ स्वर्गमें भ्रमण करता है, 'धावति' पदसे यह सूचना दी है कि क्षणमात्र भी पारलौकिकका बिना यत्न करनेके नहीं रहना चाहिये. दौड़नेसे यों कैसे होगा? इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं–'भूतभेदः' वह काल ही सकल भूतोंको नाश करता रहता है जिससे अपने नाशकी शङ्का होनेसे वैराग्य उत्पन्न होगा, 'स्वशक्त्या' पदसे यह न समझना कि यह शक्ति है जो सूर्यमें तेज है, यह शक्ति 'काल' नामवाली है जो शक्ति आकलन(ग्रसन) करनेवाली है वहां प्रकाशनसे ही भगवत्तेज प्रकटा है, इसलिये यह भगवान्की शक्तिका काल द्वारा ही प्रकटी है और कार्य करती है.

इस प्रकार साधनमें सामर्थ्य प्रकटकर अब फलमें सामर्थ्य प्रतिपादन करते हैं. ''गुणमयं क्रतुभिर्वितन्वन् इति'' गुणमय अर्थात् आनन्दमय स्वर्ग आदि.

''**आनन्दादयः प्रधानस्य इति न्यायात्**'' ''**आनन्दादय एव गुणातन्मयाः सर्गादयः**'' अर्थ–''आनन्द आदि गुण प्रधानके(भगवान्के) हैं इस न्यायसे आनन्द आदि गुण हैं. उन गुणोंवाला स्वर्ग आदि है यज्ञ भी कालके भेद ही है'' इसलिये यज्ञोंसे स्वर्गादिकोंको प्रकाश करता हुआ भ्रमण करता है.

अधिष्ठाता बिना यज्ञादिके प्रकट हो नहीं सकता है वा स्वर्ग भी प्रकट नहीं हो सकता है. वह(काल) भी भगवदंश चेतन है जैसे कि श्रुति भगवती कहती है कि ''**देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरोभवत्**'' देवोंसे स्वर्गलोक निश्चय तिरोहित हो गया, इस तरह फलके साधनार्थ प्रवर्तककाल भगवान् पांच वत्सरोंके प्रवर्तक हैं, उस कालके इकट्ठे किये हुये अन्नको खानेवाले और उसके सिद्ध किये हुये स्वर्ग सुखको भोगनेवाले, वैसे कालात्मा सूर्यको बलि दो अर्थात् उसका पूजन करो नहीं तो कृतघ्न बनोगे व भोग भी सिद्ध नहीं होगा.

जिस उपायसे भोग सिद्ध हो और काल भी नहीं ग्रसे, और वह(काल) प्रसन्न हो वैसा उपाय करना चाहिये।।१५।।

इस प्रकार तीन तरहके कालका निरूपणकर मैत्रेयजीके चुप होने पर, विदुरजीने समझा कि मैत्रेयजीने जो कहा वह आयुवर्द्धक था, अतः विशेष पूछनेकेलिये उद्यत हुये:

विदुर उवाच

पितृदेवमनुष्याणाम् आयुः परम् इदं स्मृतम्।
परेषां गतिम् आचक्ष्व ये स्युः कल्पाद् बहिर्विदः।।१६।।

विदुर कहने लगे कि पितर, देव और मनुष्योंकी यह बड़ेमें बड़ी आयु कही है, अब जो ज्ञानी होनेके कारण कल्पसे बाहर रहते हैं, उनकी गति कहो।।१६।।

जो कल्पान्तरमें उत्पन्न हो के भी कल्पान्त तक रहते हैं उनकी दिन-रात्रिमें कैसी गति है उनकी कृति कहिये, कितने ही कल्पान्त तक रहते हैं, उनकी कल्पकी ही आयु है उससे भी विशेष जो कल्पके बाहर अर्थात् कल्पसे विशेष जीते हैं क्योंकि वे ज्ञानी ही बहुत कल्प तक जीते हैं।।१६।।

इस विषयको समझाकर कहनेकेलिये इस श्लोकमें विदुरजी सिद्ध करते हैं कि मैत्रेयजीको पूर्ण ज्ञान है:

भगवान् वेद कालस्य गतिं भगवतो ननु।

विश्वं विचक्षते धीरा योगराद्धेन चक्षुषा।।१७।।

भगवान् कालकी गतिको निश्चयसे आप(भगवान् मैत्रेय) जानते हैं. ज्ञानी योगसे विशुद्ध नेत्र द्वारा विश्वको देखते हैं।।१७।।

आप भी भगवत्कृपासे भगवान् हो गये हो, और प्रभुमें श्रद्धावान् होनेसे (इस कारणसे) भगवान् कालकी गतिको जानते हैं, वह ही अपनी गतिको जानता है. किञ्च धैर्यवान् जो संसारके खेदको सहन करनेवाले योगसिद्ध पुरुष, सकल विश्वको योगसे ही विशुद्ध(दिव्य) नेत्रसे देखते हैं. अतः योगसे उत्पन्न धर्मसे और ज्ञानसे सर्वको जानते हैं, 'चक्षुषा'(नेत्रसे) पद देकर इसकी निश्चितता प्रकटकी है, योगसे सिद्ध होनेसे भ्रमको उत्पन्न नहीं करने देते हैं।।१७।।

जैसे क्षण आदिसे दिनकी गणना होती है वैसे युगोंसे उनके दिनोंकी गणना होती है, तदर्थ कृत आदि युगोंका स्वरूप कहते हैं:

मैत्रेय उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्।
दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः सावधानं निरूपितम्।।१८।।

मैत्रेयजी कहने लगे कि कृत, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग एवं इनके मध्यके समय सहित देवीके द्वादश(सहस्र) वर्षोंको कहे हैं।।१८।।

कृतयुग: किसी काल विशेषका नाम 'कृत' है. वह(कृत) नाम उसका इसलिये पड़ा है कि उस कालमें कालको जो कर्त्तव्य करना था अथवा जो उसका प्रतिकार करना था वह कालने कर लिया है अतः उस कालमें(युगमें) उत्पन्न मनुष्योंको कुछ कर्त्तव्य नहीं करना पड़ता है.

त्रेतायुग: इस त्रेता युगमें उत्पन्न मनुष्यको अपने कर्त्तव्यका तीसरा हिस्सा करना पड़ता है.

द्वापरयुग: इस युगमें उत्पन्न मनुष्यको दो हिस्सेका कर्त्तव्य करना है.

कलियुग: इस कलियुगमें सब कुछ विवादास्पद निर्णय, पूर्ण किसीका भी नहीं, इसलिये ही श्रुतिमें कहा है कि ''ये वै चत्वारः स्तोमाः कृतं तत्'' जो निश्चयसे चार स्तोम हैं वे कृत हैं, अब जो पांच स्तोम हैं वे कलि हैं, इस तरह स्तोमोंके पांच पक्ष निन्दित हैं त्रिवृत् पन्द्रह सत्रह इक्कीस यों चार स्तोम हैं. चार ही वर्ण उत्पन्न किये हैं. इसलिये इनमें कोई विवाद नहीं है. पंचम स्तोम पक्ष तो निन्दित है. 'कलि' पदके कारण षट् स्तोम पक्ष तो निन्दित नहीं है. ''जिसके

भीतर सताईसका समावेश होता है'' इत्यादिसे जिसका निरूपण किया है, इस कारणसे कलि ही निन्दार्ह है. जिस कालमें कल्पमें रहनेवाले सब कुछ कर सकते हैं और उसमें सफल भी होते हैं, वह काल अमृतकी घड़ीरूपी 'कृत' शब्दसे पुकारा जाता है, जो निन्दित विषकी घड़ीरूप हो वह काल(कलह)रूप है, अर्थात् जहां कलह-कलह ही है, जिससे कुछ प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता है, ये चार मिलकर(चतुर्युग) कहलाता है.

उनका काल(समय) कितना होता है, वह कहते हैं 'दिव्यैर्द्वादशभिर्वर्षैः' दिव्य १२ वर्षोंसे अर्थात् बारह सहस्र वर्षोंसे, दिव्य वर्षकी गणना अल्प(छोटी) संख्यासे नहीं होती है. सहस्रकी संख्या परमकाष्ठा(बड़ीमें बड़ी) है इसलिये सहस्र संख्या प्राप्त होती है. 'दिव्य' पदसे ही शत संख्या भी प्राप्त होती है 'सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्' इस न्यायसे 'संख्यातानि सहस्राणि' इस अग्रिम वाक्यमें सहस्र संख्यादि प्राप्त होती है. बारह दिव्य सहस्रवर्षोंसे पूर्ण चतुर्युग निरूपित है. व्यवधानके बाद सन्धिमें जो होती है वह 'सन्ध्या' है, अल्पकरण सन्ध्याका अंश है. जैसे घण्टके नादके बादकी ध्वनि, उसके मध्यका समय(युग) कहलाता है।।१८।।

निम्न श्लोकमें उनके(युगोंके) मध्यका समय कहते हैं:

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
संख्यातानि सहस्राणि द्विगुणानि शतानि च।।१९।।

कृत आदि युगोंमें क्रमशः चार, तीन, दो और एक हजार दिव्य वर्षकी संख्या कही है, और उसे दुगनी सौ वर्ष सन्ध्या तथा सान्ध्यांशकी संख्या है।।१९।।

चार हजार वर्ष कृतयुग, तीन सहस्र वर्ष त्रेता, दो सहस्र वर्ष द्वापर, और एक सहस्र वर्षका कलियुग होता है, युगका दशमांश संध्या होती है, अतः कितने अंश सब सन्ध्यायें समुदायसे दुगुण समझनी चाहिये. 'च' पदसे इसके सिवाय भी कोई काल होता है, यदि भगवत्कार्यमें किसी प्रकार विघ्न पड़े तो वह काल विघ्नरूप ही समझना चाहिये।।१९।।

सर्वकाल युग होगा? इस शङ्काका निरासकर कहते हैं कि मध्यकाल ही युग है:

सन्ध्यांशयोरन्तरेण यः कालः शतसङ्ख्ययोः।
तमेवाहुर्युगं तज्ज्ञा यत्र धर्मो विधीयते।।२०।।

सौ संख्यावाला सन्ध्याके मध्यका जो काल विशेष वह युग है यों उसको

जाननेवाले विद्वान कहते हैं जिसमें धर्म किया जाता है।।२०।।

सन्ध्या और सन्ध्यांशके मध्यका जो काल विशेष सौ संख्यावाला होता है उसको जाननेवाले उसको युग कहते हैं वह देव नहीं है. जो स्वतः परिच्छेदरहित अनन्तकाल है उसको किस उपाधिसे 'कृत' कहा जाता है? इसका उत्तर देते हैं कि 'यत्र धर्मो विधीयते' जिस कालमें धर्म(कर्म) किया जाता है अर्थात् धर्मके करनेसे वह काल 'कृत' कहा जाता है न कि केवल कहने मात्रसे है, सन्ध्या समयमें पूर्व धर्मका लोप हो जाता है तब युग प्रवृत्त होने पर ऋषि देखते हैं कि परम्परा प्राप्त धर्म तो लोप हो गया है अतः अपूर्व(नवीन) धर्म स्थापित करना चाहिये, यों निश्चयकर युगके अनुरूप धर्मकी स्थापना करते हैं. वह धर्म तो युगकी समाप्ति तक विधिपूर्वक(नियमित) रहता है जिसका प्राणी आचरण करते रहते हैं . इसलिए उसकालको युग कहा जाता है. धर्म स्थापित होनेके कारण वह 'युग' है।।२०।।

युगोंमें भी विभागका क्या कारण है? इसका उत्तर इस श्लोकमें देते हैं:

धर्मश्चतुष्पान् मनुजान् कृते समनुवर्तते।
स एवाऽन्येष्वधर्मेण व्येति पादेन वर्धता।।२१।।

कृतयुगमें चार चरणोंवाला धर्म ही मनुष्योंको अनकूल है, अन्य युगोंमें अधर्म, चतुर्थ भागसे बढ़कर उसको कम करता है।।२१।।

धर्मका अवान्तर भेद ही युगके अवान्तर भेदका कारण है, इसलिये कृतयुगमें चार चरणवाला धर्म मनुष्योंके अनुकूल होता है. उसमें भी कालका ही प्रेरित धर्म मनुष्योंके पीछे चलता है, वा मनुष्यकाल प्रेरित धर्मके पीछे-पीछे चलते हैं, उसमें भी मनुष्य ही कारण है, चार वर्ण कृतयुगमें ही हैं, त्रेतामें ब्राह्मण वर्णका अभाव हो जाता है, द्वापरमें क्षत्रिय नहीं रहते हैं, कलियुगमें शूद्र वर्ण ही रहता है अतः चार वर्णोंवाला धर्म मनुष्योंके पीछे-पीछे चलता है. वह ही धर्म दूसरे युगमें कृतके बाद दूसरे युगमें एक-एक पादसे कम होता जाता है, कारणकि अधर्म एक-एक पाद बढकर धर्मका एक पाद कम करता जाता है. इससे कहा है कि वर्ण अपना धर्म छोड़ता हुआ अधर्मसे व्याप्त होता जाता है।।२१।।

इसी तरह युग स्वरूप कहकर उनसे ही दिनकी व्यवस्था कहते हैं:

त्रिलोक्या युगसाहस्रं बहिरा ब्रह्मणो दिनम्।
तावत्येव निशा तात! यन्निमीलति विश्वसृक्।।२२।।

तीन लोकसे बाहर ब्रह्मलोक पर्यन्त एकहजार युगका दिन होता है, हे

तात! उतनी ही रात्रि होती है, जिस(रात्रि)में विश्वका रचनेवाला नेत्र मूंदता है।।२२।।

भूः भूवः और स्वः इन तीनलोकोंसे बाहर ब्रह्माके लोक पर्यन्त एकहजार युगका एक दिन होता है अर्थात् महर्लोकसे लेकर जो ऊपरके लोक हैं उनमें इतना दिन होता है. ब्रह्मलोक तक कहनेका आशय यह है कि, इसमें पाताललोक आदिकी गणना नहीं की हैं वहां(पातालादि लोकमें) रात्रि-दिनकी व्यवस्था नहीं है, अर्थात् वहां दिन और रात नहीं होते हैं जितना दिन उतनी रात्रि है. युग आदिके न होनेसे ब्रह्माके आयुके भाग ही वहां नियामक होते हैं अथवा भगवदिच्छा नियामक है वहां अन्य निमित्त कहते हैं ''जिसकालमें ब्रह्मा भगवान् अथवा जिसके उदरमें ब्रह्मा है वह भगवान् पोढ़ते हैं''. भगवान्को नींद तो आती नहीं है, इसलिये निद्रा न कहकर योगनिद्रा कहा है. हे तात्! यह सम्बोधन प्रेमका इसलिये दिया है कि जो मैं कह रहा हूं उसमें प्रतारणा नहीं कह रहा हूं।।२२।।

जैसे युगकी प्रवृत्ति दिनको बतानेवाली हैं वैसे ही सोने(शयन)की प्रवृत्ति रात्रिकी सूचना करती है, जिससे उस समयमें सृष्टि रचना नहीं होती है:

निशावसान आरब्धो लोककल्पोऽनुवर्तते।
यावद् दिनं भगवतो मनून् भुङ्क्ते चतुर्दश।।२३।।

रात्रिके अन्तमें प्रारम्भ की हुई लोकरचनाकी परम्परा जबतक दिन रहता है तबतक भगवान् रचना करते रहते हैं, और १४ मनुओंको भोग करते है।।२३।।

रात्रि पूर्ण होने पर जब अरुण उदय होता है तब जिस लोकरचनाकी परम्पराका भगवान् आरम्भ करते हैं, वह परम्परा जबतक चलती रहती है तबतक दिन होता है, इस परम्परामें जो प्रवाहरूपसे लोकोंको उत्पन्न किया जाता है, वह परम्परा लोक कल्प कहलाता है वही भगवान्का दिन है, ब्रह्मवेत्ताओंका भी वह दिन है क्योंकि वे भी भगवद्रूप होते हैं, उस समयमें धर्मकी प्रवृत्तिका हेतु कहते हैं ''मनून् भुङ्क्ते चतुर्दश'' चौदह मनुओंका उपभोग करना धर्मकी प्रवृत्तिका हेतु है, उसको धर्म पालकपनसे स्वीकार करते हैं।।२३।।

मनुओंके धर्म पालन करनेका रूप कहनेकेलिये इसके आयुष्य बताने वाला परिच्छिनकाल इस श्लोक द्वारा वर्णन करते हैं:

स्वं स्वं कालं मनुर्भुङ्क्ते साऽधिकां ह्येकसप्ततिम्।
मन्वन्तरेषु मनवः तद्वंश्या ऋषयः सुराः।

भवन्ति चैव युगपत् सुरेशाश्चाऽनु ये च तान्।।२४।।

मनु इकहत्तर चतुर्युगी अपने-अपने कालका उपभोग करते हैं, मन्वन्तरोंमें मनुओं, उनके पुत्रों, ऋषियों, देवों, इन्द्रों और उनके अनुयायी वे सब युगपत्(साथमें) ही पैदा होते हैं।।२४।।

मन्वन्तरकी गणना बताते हैं देवोंके साढ़े इकावन वर्षों और इकहत्तर चतुर्युगोंका काल, एक मन्वन्तर होता है, मन्वन्तर शब्द रूढ होनेसे षडङ्गधर्मके साधन परायण है, न कि मनुषोंके मध्य उनके भोगनेका काल है, यदि यों होवे तो मनुपुत्रादिकोंके भोगनेका काल दूसरा होवे, और सकल वंशको कहनेवाला शब्द 'मनु' नहीं है यदि यों होता तो प्रियव्रतके पुत्र जो उत्तम तामस और रैवतके मन्वन्तर पृथक् नहीं कहे जाते?

''स एव स्वान्तर निन्ये'' इस वाक्यसे निश्चित है कि उसने अपना 'प्रतिनिधि स्थापित किया' अतः पृथक् व्यवस्था होनेसे दूसरे मन्वन्तरोंसे विरोध भी नहीं आता है क्योंकि यह प्रकरण भगवत्कृपाका प्रकरण होनेसे विरोध नहीं है. अतः 'मन्वन्तर' शब्द रूढ़ ही है, 'मन्वन्तराणि सद्धर्मः' इस वाक्यानुसार छहोंका समुदाय ही मन्वन्तर है, इसलिये 'मन्वन्तरेषु' यों कहा है, अर्थात् सकल मन्वन्तरों में मनुके [१]मनुपुत्रो, ऋषियों, देवों, इन्द्र और अंशावतार ये छः ही साथमें होते है, (क्योंकि इन सबका ऐसा ही साथमें उपभोग करनेका अधिकार है) मनुको पुत्रों सहित ही अधिकार पर अभिषेक(अभिषिक्त किया) है.

सुरेश पदसे इन्द्रोंको कहा है, प्रथम मनु और अन्तिम इन्द्रका बहुवचन समुदायके अभिप्रायसे कहा है. अंशावतार दूसरोंके साथ उत्पन्न नहीं होते हैं अतः पांच ही कहे हैं।।२४।।

१. ये तीन-तीसरे, चौथे और पांचवें मनु हो गये हैं. 'प्रकाश'.

जिस प्रयोजनकेलिये मन्वन्तर कहा उसका उपसंहार करते हैं:

एष दैनन्दिनः सर्गो ब्राह्मस्त्रैलोक्यवर्तनः।
तिर्यङ्नृपितृदेवानां सम्भवो यत्र कर्मभिः।।२५।।

यह ब्रह्माकी तीन लोककी बार-बार होनेवाली दैनिक सृष्टि है जिसमें देव, साधारण पक्षी आदि, मनुष्य-पितर आदि कर्मसे उत्पन्न होते हैं।।२५।।

प्रतिदिन उत्पन्न होनेवाली सृष्टि दैनिक सृष्टि कही जाती है, संवत्सर (वर्ष)रूप कल्प पृथक् है यह तो दैनिक है इसकी विशेषता बताते हैं

'त्रैलोक्यवर्तन' इसमें तीनों लोकोंकी आवृत्ति(फिर-फिर उत्पत्ति) कराई जाती है, अर्थात् देव पितर, साधारण पशु-पक्षी आदि और मनुष्योंके बार-बार जन्म करानेको 'त्रैलोक्यवर्तन'(तीनों लोकोंकी आवृत्ति) कहा है मनुष्य और पितर एक ही है क्योंकि पृथ्वी पर जीवित दशामें मनुष्य और मृत दशामें पितर कहाते हैं. पुनः-पुनः दैनिक उत्पत्तिका कारण(नियामक) कर्म है।।२५।।

इस तरह दैनिक विषय समझाकर कहते हैं कि उसमें नियामक जो धर्म(कर्म) है उसका प्रवर्त्तक कौन है. इसको जाननेकेलिए यह **श्लो**क कहा है जिसमें सिद्ध किया है कि उसका प्रवर्त्तक भगवान् ही है:

मन्वन्तरेषु भगवान् विभ्रत्सत्वं स्वमूर्त्तिभिः।
मन्वादिभिरिदं विश्वम् अवत्युदितपौरुषः।।२६।।

मन्वन्तरोमें सत्वधारण करनेवाले प्रकट पुरुषार्थी भगवान् अपने अवतारोंसे इस विश्वका पालन करते हैं।।२६।।

सकल मन्वन्तरोंमें अपने शुद्ध सत्वगुणको धारण करते हुए भगनान् मनु आदि सहित अपने ज्ञान, कर्म और योग आदिके प्रवर्त्तक अवतारोंसे इस विश्वका पालन करते हैं कैसे पालन करते हैं? सत्त्व द्वारा अपने पौरुषको अपने पौरुषांश मन्वादि एवं अवतारोंको प्रकटकर वस्तुतः आप ही धर्मका पालन करते हुये जगत्की रक्षा करते हैं।।२६।।

इस तरह दैनिक सृष्टिका प्रतिपादन करनेके अनन्तर वहांके प्रलयका निम्न श्लोकोंमें वर्णन करते हैं:

तमोमात्राम् उपादाय प्रतिसंरुद्धविक्रमः।
कालेनानुगताशेष आस्ते तूष्णीं दिनात्यये।।२७।।
तमेवान्वपिधीयन्ते लोका भूरादयस्त्रयः।
निशायाम् अनुवृत्तायां निर्मुक्तशशिभास्करम्।।२८।।
त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्या संकर्षणाग्निना।
यान्त्यूष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः।।२९।।

दिनके पूर्ण हो जाने पर अर्थात् रात्रिके आरम्भ होते हुए जिसका पराक्रम रुक गया है, ऐसा समस्त जगत कालके कारण जिसमें लीन हो गया है ऐसे भगवान् तमोगुणको धारणकर मौन धारण करते हैं, अर्थात् शान्त हो जाते हैं, सृष्टि नहीं बनाते हैं, अनन्तर नक्षत्र मण्डलसे चन्द्र सूर्य पृथक् होनेसे रात्रि आरम्भ होती है तब

सङ्कर्षणकी शक्तिरूप अग्निके तापसे तीन लोक जलने लगते हैं उस तापसे पीड़ित युग आदि महर्लोकसे जनलोक जाते हैं।।२७-२९।।

सत्त्व और रजके सम्बन्ध बिना केवल तमोगुणको धारण करनेसे जिसका पराक्रम रुक जानेसे पराक्रमका कार्य समस्त जगत् भी कालके कारण भगवान्में ही लीन होता है, यों 'अशेष' पदसे सूचित किया है, तब भगवान् जगत् रचना की इच्छाका त्यागकर शांत रहते हैं. दिनके अन्तमें अर्थात् सन्ध्याकालमें भगवान्के शांति धारण करने पर, प्रवाहको रोकनेवाला कोई न होनेसे कालसे प्रेरित 'भू' आदि लोक अव्यक्तमें प्रवेश करते हैं.

तब उन 'भू' आदि लोकोंके अव्यक्तमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर जैसे ज्योतिश्चक्रसे चन्द्र-सूर्य पृथक् होते हैं, वैसे रात्रिके प्रवेश(प्रवृत्त) होते ही त्रिलोकीमें संकर्षणाग्निसे जलती हई उष्मा(ताप)से पीड़ित महर्लोकमें स्थित मृग आदि महर्लोकका त्यागकर जनलोकमें चले जाते हैं, इसका निम्न क्रम है-जब भगवान्की शयन करनेकी अन्तः स्वशक्तियोंसे लीला करनेकी इच्छा होती है, तब तमोगुणको ग्रहण करते हैं, पश्चात् सोते हैं शक्तियोंसे लीला करते हैं, इतनी ही क्रिया होती है, अन्य सर्व स्वयं होता है भगवान् विक्रमका उपसंहार आलस्यके कारण तमोगुणको ग्रहणकर करते हैं, पश्चात् रक्षकके न होनेसे काल भक्षक होता है अतः जगत् स्वयं लीन हो जाता है यहां वस्तुतः काल भक्षण नहीं करता है, किन्तु काल भयजनक होनेसे लयमें निमित्त बन जाता है, लयसे जगत् अपनेमें प्रविष्ट होता है यों समझकर(देखकर) भी इसके पालनेका भगवान् प्रयत्न नहीं करते हैं किन्तु मौन ही(शांत ही) रहते हैं.

भगवान्के तूष्णी(चुप होने) भावके बाद भू आदि लोक उजड़े गांवकी भित्तियोंकी तरह नाश हो जाते हैं, तब आधारभूत लोकोंके न होनेसे ज्योतिश्चक्र ध्रुवसे पृथक् होकर गिर पड़ता है तब मुख्य सूर्य चन्द्र कीलसे अलग हो मुक्त हो जाते हैं, तब अन्धकार हो जानेसे रात्रि प्रारम्भ हो जाती है तब सङ्कर्षणके मुखसे उत्पन्न अनल(अग्नि) त्रिलोकका दहन करती हैं.

मनुष्य एवं अभिमानी देवता पहले ही चले गये शेष बचे जड़ पदार्थको अग्नि जलाती है, मृत्तिका आदि जड़ पदार्थोंको अग्नि कैसे जलायेगी? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वह अग्नि प्राकृत(लौकिक) अग्नि नहीं है किन्तु 'शक्ति'रूप अग्नि है, अतः भृगु आदिको इसने पीड़ित कर डाला यह इस अग्निकी शक्ति

होनेका प्रत्यक्ष माहात्म्य है।।२७-२९।।

उसके बाद भगवान्‌के आधीन घन(बादल) वर्षा करने लगे यों कहते हैं:

तावत् त्रिभुवनं सद्यः कल्पान्तैधितसिन्धवः।
प्लावयन्त्युत्कटाटोप-चण्डवातेरितोर्मयः।।३०।।

समुद्र प्रलयकालके प्रचण्ड वायुसे उमड़ते हुए अपनी उछलती हुई तरंगोंसे त्रिलोकीको डुबो देते हैं।।३०।।

इतनेमें कल्पकें अन्तिमकालके कारण मेघोंकी प्रचण्ड वर्षासे अथवा बडवानल शांत होनेसे, फिर भयंकर वायु लगनेसे उनमें उछालोयुक्त प्रचण्ड तरंगे(लहरें) चलती हैं, जिनसे समुद्र इतने बढते जाते हैं कि उनमें तीनोंलोक डूब जाते हैं।।३०।।

अन्तः स तस्मिन् सलिल आस्तेऽनन्तासनो हरिः।
योगनिद्रानिमीलाक्षः स्तूयमानो जनालयैः।।३१।।

उस जलके भीतर जनलोकस्थोंसे स्तुत योगनिद्रासे निमीलित नेत्रवाले हरि अनन्त आसन पर विराजमान हैं।।३१।।

तब अर्थात् उस समय उस जलमें अनन्त नामवाले शेष जो अन्तःस्थित सर्व लोकोंका दुःख हरता है वह जनलोकमें स्थित, भृगु आदिसे स्तुत एवं योग निद्रासे निमीलित(मुन्दे हुए) नेत्रवाले ऐसे शयन करते हैं.(जैसे कोई गायकोंसे कीर्त्ति सुनता हुआ आंखे मीच हिण्डोलेमें सोता है.)।।३१।।

उसके बाद इस प्रकारके दिन रात्रिसे ब्रह्माकी आयु शत वर्षोंकी होती है यों इस श्लोकमें बताते हैं:

एवंविधैरहोरात्रैः कालगत्योपलक्षितैः।
अपेक्षितमिवाऽस्यापि परमायुर्वयःशतम्।।३२।।

कालकी गतिसे जिनका ज्ञान होता है, ऐसे इन दिन और रात्रियोंसे महान्‌से महान् एक सौ वर्षकी आयु हुई तो भी इससे अधिक आयुकी इसकी(ब्रह्माको) इच्छा रहती है।।३२।।

जबकि कर्म और सूर्यगति आदिका अभाव है तो दूसरे दिनका आरम्भ कैसे हुआ(होगा)? इस शङ्काका निवारणकेलिये कहते है कि कालके प्रवाहके विद्यमान होनेसे अर्थात् कालका प्रवाह रोका नहीं था इसलिए दूसरे दिनका आरम्भ हुआ. 'निर्विशेष न सामान्यम्' सामान्य गुण रहित नहीं होता है इस न्याय

अनुसार सामान्यसे गुण उपलक्षित(सूचित) होते हैं, जिसमें दिन-रात्रि पुनः प्रारम्भ हुई, जैसे दिन रात्रिका प्रारम्भ हुआ वैसे उनकी प्रवृतिसे(अहोरात्रिकी आवृत्तिसे) पक्ष-मास और वर्षकी आवृत्ति होती है, तब ब्रह्माके सौ वर्ष भी होते हैं इतने वर्षोंकी आयु होते हुए भी फिर आयु होनेकी इच्छा रहती है अर्थात् ब्रह्माकी यह बुद्धि नहीं होती है कि मेरी आयु बहुत बड़ी है अब बस, विशेष नहीं चाहिये किन्तु चाहता है कि अब भी आयु हो तो श्रेष्ठ हो ऐसी इच्छा ही बनी रहती है।।३२।।

अब इस श्लोकमें ब्रह्माके आयुषमें स्थूल कल्पोंका निरूपण करनेकेलिए उसकी आयुके विभाग कहते है:

यदर्धमायुषस्तस्य 'परार्धम्' अभिधीयते।
पूर्वः परार्धोऽपक्रान्तो ह्यपरोऽद्य प्रवर्तते।।३३।।

उसके(ब्रह्माकी) आयुष्यके आधे भागको(परार्ध) कहा जाता है. पहला परार्ध बीत गया अब दूसरा परार्ध चल रहा है।।३३।।

उस(ब्रह्मा)की आयुका जो आधा भाग है उसको परार्ध कहते हैं. ब्रह्माकी आयुष्यको 'पर' शब्दसे कहनेका आशय है कि परका आधा भाग उसमें पूर्व और परार्धका आदि अन्त बतानेकेलिये पूर्वकी समाप्ति कहते है. पहला परार्ध पूर्ण हुआ. अब अपर(दूसरा) अन्तिम भाग चल रहा है. ब्रह्माकी आयु भी पूरी होनेवाली है यों सूचित करते हुए वैराग्यका उपदेश दिया है. क्योंकि साधारणोंकी इन्द्रियोंमें अभ्यास रहता है।।३३।।

मुख्य कल्पोंमें पहला ब्रह्मकल्प था यों इस श्लोकमें कहते हैं:

पूर्वस्यादौ परार्धस्य 'ब्राह्मो' नाम महान् अभूत्।
कल्पो यत्राऽभवद् ब्रह्मा शब्दब्रह्मेति यं विदुः।।३४।।

प्रथम परार्धके आदिमें(ब्रह्म) नामवाला महान् कल्प हुआ उस कल्पमें जो 'ब्रह्मा' हुआ उसको 'शब्दब्रह्म' कहते हैं।।३४।।

वह कल्प 'ब्राह्म' कल्प है यों सिद्ध करते हैं वह कल्प तो 'बड़ा' वर्षरूप कल्पका न कि दैनिक था जिस कल्पमें स्वयं भगवान् ही ब्रह्मा बना उसको सब कल्पोंमें साधारण(समान) मानते हुए मैत्रेयजी इस कल्पके प्रयोजक ब्रह्माका रूप कहते हैं ''जिसको शब्दब्रह्म कहते हैं''. उस कल्पमें शब्दब्रह्मसे सर्वकी उत्पत्ति हुई थी उस शब्द ब्रह्मका स्वरूप बुद्धि अध्याय(१२)में कहा जायेगा।।३४।।

इस श्लोकमें उसके अन्तिम वर्षका कल्प कहते हैं:

तस्यैव चाऽन्ते कल्पोऽभूद् यं 'पाद्मम् 'अभिचक्षते।
यद्धरेर्नाभिसरस आसीद् लोकसरोरुहम्।।३५।।

उसके ही अन्तमें हुए कल्पको 'पाद्म' कल्प कहते हैं उस कल्पमें भगवान्की नाभिरूप सरोवरमेंसे लोकरूप कमल उत्पन्न हुआ।।३५।।

जिसको पाद्मम् कहते हैं. वह 'पद्मकल्प' पहलेका है इसको पाद्मम् कल्प कहनेका कारण कहते है कि ''पद्मेन कल्पतः इति पाद्मम्'' जो पद्मम् वह पाद्मम् व इसको सिद्ध करनेकेलिये कहते हैं कि भगवान्की नाभिरूप सरसे लोकरूप पद्म प्रकट हुआ अतः इस कल्पको 'पद्म या पाद्म' कहते हैं।।३५।।

दूसरे परार्धका आद्य संवत्सर कल्पका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

अयं तु कथितः कल्पो द्वितीयस्याऽपि भारत!।
'वाराह' इति विख्यातो यत्रासीत् सूकरो हरिः।।३६।।

हे भारत! यह दूसरे परार्धका प्रथम संवत्सर कल्प 'वाराह कल्प' नामसे प्रसिद्ध है जिसमें भगवान्ने सूकररूप धारण किया है।।३६।।

'तु' शब्दसे कहा है कि यह कल्प दैनिक नहीं है किन्तु सांवत्सर कल्प है पहले परार्धका आद्य कल्प वेदरूप पाद्म नामसे हुआ एवं दूसरे परार्धका आद्य 'वाराह' नामसे लोकमें प्रसिद्ध हुआ है.

उसका वाराहत्व प्रतिपादन करते हैं 'यत्रासीदिति' जिसमें भगवान् वाराहरूपसे प्रकट हुवे 'हरि' नामसे ब्रह्मादिकोंके भी दुःख निवृत्त किये हैं दुःख निवारण ही प्रकट होनेमें भी कारण है उसमें आदिवाराह कल्प पहला है, वाराह दूसरा है, यह वर्तमान तीसरा श्वेत वाराह कल्प है।।३६।।

इस प्रकार ब्रह्माकी आयुका निरूपणकर, अक्षरकी भी आयु कहनी चाहिये इस आकांक्षामें यह श्लोक कहते हैं:

कालोऽयं द्विपरार्धाख्यो निमेष उपचर्यते।
अव्याकृतस्याऽनन्तस्य अनादेर्जगदात्मनः।।३७।।

यह द्विपरार्ध नामक काल अव्याकृत, अनन्त, अनादि, जगदात्मा अक्षरकी आयुका निमेष होता है, यह निमेष उन्मेष निमेषरूप है।।३७।।

यह द्विपरार्ध नामवाला अक्षरकी आयुका निमेष है यह 'निमेष' उन्मेष निमेषात्मक है, उस प्रकारसे भी गणना उचित नहीं है क्योंकि इसमें परिच्छेद होना असम्भव है कारणकि अक्षरब्रह्म सर्वथा परिच्छेदरहित है, इसलिये कहा है कि

ब्रह्मकी आयु जो निमेष कही है, वह भी अनुमान(अटकल)से कही है यों नहीं कहा है कि वास्तवमें इतनी ही है, जिसमें कारण बताते हैं कि (अव्याकृतस्य) अर्थात् जिसका किसीसे प्राकट्य नहीं हैं, इसलिये इनकी आयु आविर्भाव एवं तिरोभावके मध्यका काल 'आयु' कही जाती है, उसमें आविर्भाव एवं तिरोभाव भी नहीं है इसलिये उसकी आयु भी नहीं है किसकी गणना की जावे ? किञ्च परिच्छिन्नमें ही गणना होती है ये तो अनन्त है जिससे इसके अक्षरभागकी अवधि नहीं है तो कालकी गणना भी नहीं की जा सकती है. इसका आरम्भ भी नहीं है क्योंकि यह स्वतः स्वयं अनादि है, कैसे अनादि कहते हो जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'जगदात्मनः' अर्थात् जगन्मात्रकी आत्मा है, अतः जो भी परिच्छेदरूप काल आदि हैं उनकी भी यह आत्मा है, जैसे देहकी आयु होती है वैसे आत्माकी आयु नहीं होती है, वैसे जगत्की आत्माएं इस अक्षरकी देह है, अतः जगत्की आत्माएं अक्षरकी देह भी नित्य हैं अक्षरकी आयु किसी भी प्रकारसे सिद्ध नहीं हो सकती है।।३७।।

कालोऽयं परमाण्वादि द्विपरार्धान्त ईश्वरः।
नैवेशितुं प्रभुर्भून्म ईश्वरो धाममानिनाम्।।३८।।

परमाणुसे लेकर दो परार्ध तक जो कालरूप ईश्वर है भूमारूप अक्षर भगवान् पर सत्ता नहीं चला सकता है वह केवल देहाभिमानियों पर सत्ता कर सकता है।।३८।।

यह काल, परमाणुसे लेकर दो परार्ध तक, मनुष्योंकी आयुका परिच्छेद करनेवाला है एवं सूक्ष्मोपाधिसे लेकर ब्रह्माकी परमायुका छेदन करता है यद्यपि काल सकल देहाभिमानियोंका ईश्वर(नियन्ता) होते हुए भी भूमापुरुष(अक्षर)का प्रभु नहीं होता है उस पर अधिकार नहीं चला सकता है . 'ईश्वरो धाममानिनाम्' यह भिन्न वाक्य है इससे 'ईश्वर' पदमें पुनरुक्ति दोष नहीं है, दूसरी बार 'ईश्वर' शब्द कहनेसे उनका ऐश्वर्य स्थापित किया है नहीं तो मूलमें अनीश्वरः सर्वत्र अनिश्वर ही ऐश्वर्यरहित वही गिननेमें आ जावे।।३८।।

कालके परिच्छेदका अभाव कहकर उसका स्वरूप कहते हैं:

विकारैः सहितो युक्तैः विशेषादिभिरावृतः।
आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः।।३९।।

मिलित विकारोंके साथ बाहिरसे क्रमशः पृथक् हुए विशेषों सहित यह पचास कोटि विस्तारवाला ब्रह्माण्डकोश है।।३९।।

सोलहविकारों सहित ग्यारह इन्द्रियां और पांच तन्मत्राएं आवरणमें महान् भूत ही कार्य करते हैं, तन्मात्राएं उत्पत्तिमें मुख्य होनेसे विकारोकी गणनामें तन्मात्राएं बढ़ती नहीं है, अथवा महाभूतोंको ही लिया जावे, मिलित, पृथक् भूत विशेषादि पृथ्वी आदिसे आवृत यह आण्ड(ब्रह्माण्ड)कोश है. बाहर आवृतके मध्यमें पचासकोटि विस्तारवाला इसका स्वरूप है अथवा बाहर ही पचासकोटि विस्तारवाला है.

यह गोल पांचवें स्कन्धमें कहे हुए तिर्यग् गोलमें दूसरा है, अथवा वह ही उर्ध्व गोल है. ज्योतिष शास्त्रमें ६ गोल प्रसिद्ध हैं, पद्मकल्पमें पचासकोटि विस्तारवाला कमल कहा है और वाराह कल्पमें इतनी भूमि कही है, अतः नाना प्रकार कहनेमें दोष नहीं है एक दूसरेके विरुद्ध भी नहीं है।।३९।।

प्रकृत प्रसंगमें निरूपण करनेमें जो ब्रह्माण्ड आता है उसमें अक्षरब्रह्मके देशकी सीमा बांधनेके अभावकेलिये उसकी स्थूलता इस श्लोकमें बताते हैं:

दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्।
लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चाऽन्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः।।४०।।

अणुसे परे जो पचासकोटि दस गुणा पृथ्वी हे, वह जहां(जिसमें) परमाणुवत् प्रविष्ट दीखती है, और रोम कूपके मध्यमें दूसरे भी कोटि ब्रह्माण्ड समूह दीखते हैं।।४०।।

अण्डसे परे पृथ्वी पचास करोड़से दस गुणा विस्तारवाली है, विशेषादिसे अपने अर्थको नहीं छोड़ती है ऐसे आशयवाला बहुव्रीहि समास है, अथवा पृथ्वी गोल ही है, कितनोंकी राय है कि जल आदि ही दशगुणा है, तब देखनेमें आनेवाले उन आवरकोंसे घटके मध्यमें प्रविष्ट होते हुए परमाणुकी तरह दिखती है अथवा उनके साथ रोमकूपमें प्रविष्ट परमाणुकी तरह दीखती है और उसके रोमकूपके मध्यमें दूसरे भी ऐसे कोटि अण्डकोश लक्षित होते हैं।।४०।।

इसी प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डोंसे आवृत रोमकूपवाले भगवान्(अक्षर) शब्दसे कहे जाते हैं, यों इस श्लोकमें कहते हैं:

तद् आहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारण–कारणम्।
विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः।।४१।।

उसको अक्षरब्रह्म कहते हैं, वह सकल कारणोंका भी कारण है तथा महती आत्मा जो पुरुष है उस विष्णुका साक्षात् परमधाम है।।४१।।

ब्रह्मसूत्रके समन्वयाधिकरणके '**अक्षरम् अम्बरान्तधृतेः**' '**सा च प्रशासनात्**' सूत्रोंमें अक्षरका ब्रह्मत्व सिद्ध किया गया हैं, क्योंकि सर्वके कारण पुरुषादिका भी कारण है वह ही अक्षर मायाके फलस्वरूप दो रूप हुए तब एकरूप पुरुष दूसरा प्रकृति हुआ, अतः कारणोंके भी कारण है ऐसे कारणोंके कारण भी वह अक्षरब्रह्म परमब्रह्म पुरुषोत्तमका धाम है अर्थात् देह वा गृह है जैसे जगत्की आत्माएं अक्षरकी देह स्थानीय हैं. वैसे अक्षर भी भगवान्की देह है, यों कहनेसे भगवान्की आयु परिमाणका निषेध किया है, यदि कहो कि उससे भी दूसरा भगवान्का धाम होगा इस शङ्काकी निवृत्तिकेलिये कहते हैं कि पर यह ही उत्तम देह भगवान्की है जैसे प्राण एवं अन्तःकरणसे युक्त हम लोगोंकी देह(स्थान) होती है वैसे भगवान्की अक्षर देह नहीं है किन्तु साक्षात् स्थान(स्वरूप) है.

मूलभूत भगवान् साकार है यों सिद्ध करनेकेलिये 'पुरुषस्य' पुरुष स्वरूप है, उत्कर्ष और अपकर्ष हेतु सुनकर संशयग्रस्तको कहते हैं कि 'महात्मनः' यह महान् आत्मा है, अर्थात् जो आत्मरूप पुरुष होता है वह व्यापक है यों तात्पर्य है समुदायसे भी महानुभाव बड़े प्रभावशाली है अर्थात् सर्वभवनसमर्थ–सब कुछ करनेकी शक्तिवाले हैं।।४१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके ११ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

भूगोल ६ हैं: १.भूगोल २.खगोल ३.हगोल ४.नक्षत्रगोल ५.आवरणगोल ६.अणुगोल अवान्तर जो दैनिक कल्प है उनमें भृगु आदि ज्ञानी स्थित रहते हैं जिससे किसी प्रकारकी कहीं भी किसीमें भी अव्यवस्था नहीं होती है.

वर्षात्मक महाकल्पमें भी अणुके होनेसे पुरुष और इन्द्रियोंके होनेसे इन्द्रादि भी रहते हैं जिससे बाहु आदिकी भी अव्यवस्था नहीं होती है.

दिशाएं भी देवतारूप होनेसे व्यवस्थित रहती हैं, इसी तरह सूर्य विभाज्य न होनेसे कान भी व्यवस्थित ही रहते हैं. इसी तरह आयु नियत वा अनियत होते हुए भी सुखार्थ आयुर्वेदके प्रवर्तक देवतारूप अश्विनी कुमारोंके होनेसे नाशकी भी व्यवस्था है. इसी प्रकार गन्ध, अग्नि, स्वर्ग, सूर्य आदि भी जानने पक्षोंको भी यों समझना इसलिये ईश्वरके विग्रह(शरीर)में किसी प्रकार अव्यवस्था नहीं है यो अव्यवस्थाकी शङ्का निवृत्तकी गई है. 'प्रकाश'

अध्याय १२

सृष्टिका विस्तार

साधारणानां बुद्धिर्या द्वादशे सा निरूप्यते।
अष्टधा सा सर्गरूपा श्रेष्ठा चोत्तरतः परा।।का.१।।

१२वें अध्यायमें जिन साधारणोंकी बुद्धिका वर्णन किया जाता है. वह बुद्धि आठ प्रकारकी उत्पन्न हुई है अर्थात् उसकी सृष्टि ब्रह्माने आठ प्रकारसे बनाई है. उत्तरोत्तर वह श्रेष्ठ है क्योंकि वह उत्तरोत्तर शास्त्रकी संगति कराती जाती है।।१।।

तामिस्रादिप्रकारेण प्रथमा प्राकृती मतिः।
ज्ञाननिष्ठा द्वितीया स्यात् सदोषा सा प्रकीर्तिता।।का.२।।

तामिस्र आदि प्रकारसे जो बुद्धि पहले उत्पन्न हुई वह प्राकृती है(थी) बुद्धियां केवल स्वयं उत्पन्न नहीं हुई, किन्तु अपने देवताओंके साथ उत्पन्न हुई है, अतः उनके स्वरूप भी कहे हैं. दूसरी बुद्धि सनकादिरूपसे ज्ञाननिष्ठा उत्पन्न हुई किन्तु अहंकारयुक्त होनेसे अपने जनकगुरु ब्रह्माकी आज्ञा माननेसे दोषवाली हुई क्योंकि यह वह अहंकाररूप दोष हरिके संग(प्रेम)से उनमें हुआ।।२।।

दोषोऽप्यत्र हरेः सङ्गात्, ज्ञानादप्यधिका मता।
यथा हरस्ततः श्रेष्ठा कृष्णस्याज्ञानुपालिनी।।का.३।।

यह तीसरी बुद्धिको सृष्टि सदोष होते हुए भी हरिके प्रेमके कारण ज्ञानसे भी अधिक मानी गई है. जैसे महादेवजी विशेष माने गये हैं, कारण कि यह तीसरी बुद्धि कृष्णकी आज्ञा माननेवाली होनेसे एवं शङ्कर इस बुद्धिके अधिष्ठाता हैं जिससे वह भगवत्सेवामें आग्रहवाली है. अतः यह उत्तम है।।३।।

सदोषा साऽपि, तस्यास्तु दोषे न प्रविशेद्धरिः।
ततो हीनैव सा, मध्ये लोके व्यामोहिका परा।।का.४।।

बुद्धिकी दश प्रजापतिरूप देवतावाली यह चतुर्थ सृष्टि दोषवाली है क्योंकि इसमें कामरूप दोष अन्तःस्थित है जिससे हरि इस बुद्धि सृष्टिमें विराजमान नहीं होते जब तक काम (मौजूद) है इस कारणसे बुद्धि-सृष्टि हीन है मध्यलोकसे मोह पैदा करनेवाली है।।४।।

ततो वेदे विनिष्णाता तदर्थे कर्मणि स्थिता।
ततः श्रेष्ठा वेद एव योगोपासनया युता।।का.५।।

वेद जिसका देवता है ऐसी यह वेदाभ्यासमें तत्पर छठी बुद्धि सृष्टि श्रेष्ठ है.

योग तथा उपासनायुक्त हो, सदैव वेदार्थमें ही ध्यान धरती है।।५।।

सर्वतोऽप्युत्तमा या तु क्रीडेच्छापूरिका हरेः।
एवम् अष्टविधा बुद्धिः सर्वेषां सर्गयोगिनी।।का.६।।

सर्व बुद्धियोंकी सृष्टिमें यह आठवीं बुद्धिकी सृष्टि सर्वोत्तम है, कारणकि भगवान्‌की क्रीड़ाकी इच्छा पूर्ण कराती है. इसी प्रकार ये आठ प्रकारकी बुद्धियां सर्व प्रकारकी सृष्टियोंके उपयोगवाली है।।६।।

इस तरह कालने जिस प्रकार जगत् बनाया वह कहकर अब ब्रह्माने जैसे जगत्‌के आठ प्रकार बनाये वे बताते हैं तथा कालकृतकी समाप्ति करते हैं. इसलिये कि यह कालकृतका अङ्ग नहीं समझा जावे:

मैत्रेय उवाच

इति ते वर्णितः क्षत्तः! कालाख्यः परमात्मनः।
महिमा, वेदगर्भोऽथ यथाऽस्राक्षीन्निबोध मे।।१।।

मैत्रेयजीने कहा कि हे क्षत्तः(संयमी) इस प्रकार मैंने परमात्माकी(काल) नाम, महिमा सहित तुम्हें बताया अनन्तर ब्रह्माने जिस प्रकार सृष्टिकी वह मुझसे समझो.

जैसे ब्रह्मा भगवान्‌का गुणावतार है इसी तरह काल भी भगवान्‌की महिमारूप गुण विशेष है. इसमें जो लोकमें प्रसिद्धि है वह गौणी है. मुख्य तो वस्तुका स्वरूप माना जाता है. इसलिये उसका ज्ञान करानेकेलिये उसका नाम 'काल' कहा गया है. 'परमात्मा' कहकर यह सूचित किया है कि वह पुरुषोत्तम है. अक्षरादिका धर्मत्व नहीं है.

'अथ' पदसे इस सृष्टिका कालकृत दशधा सृष्टिसे पृथक्त्व बताया है. क्यों पृथक्‌से बताया है? इस पर कहते हैं कि 'वेदगर्भ'. इसकी रचना करनेवाला वह(ब्रह्मा) है जिसके भीतर वेद(सम्पूर्ण ज्ञान) मौजूद है यह हेतु दिखाया गया है.

वेदानुसारिणी सृष्टिर्ब्रह्मणैव विनिर्मिता।
कालानुसारिणी कालात् पुष्ट्या सा भगवत्कृता।।का.१।।

वेदका अनुसरण करनेवाली(वैदिक) सृष्टि ब्रह्माने बनाई. कालानुसारिणी (जैसा समय वैसा कार्य करनेवाली) सृष्टि कालने बनाई है इन दोनोंको प्रभुने अनुग्रहसे अपनी लीला बना ली है।।१।।

प्रथम श्लोकमें 'निबोध' पद दिया है जिसका भावार्थ बताते हैं वहां भी

सृष्टिका प्रकार कठिन है इसलिये जुदा प्रकार होनेके कारण सावधान होकर सुनना चाहिये. तदर्थ 'निबोध' कहा है।।१।।

उसमें पहले पञ्चपर्वा अविद्याके अधिष्ठाता देवताओंकी सृष्टि कहते हैं:

ससर्जाऽग्रेऽन्धतामिस्रमथ तामिस्रमादिकृत्।
महामोहं च मोहं च तमश्चाऽज्ञानवृत्तयः।।२।।

ब्रह्माने पहले अन्धतामिस्र, अनन्तर तामिस्र, महामोह, मोह तथा तम ये अज्ञानकी वृतियां(जिनसे अज्ञानके कार्य बने) उनको रचा।।२।।

उनमेंसे भी पहले जो वृत्ति तामसी थी उसको अथवा उसके अधिष्ठाता देवताको रचा, जिसका वर्णन करते हैं पहले अन्धतामिस्रको रचा.

विषयः पुरुषश्चेति ज्ञानः कोटिद्वयं मतम्।
पुरुषे बोधकं चक्षु : विषये व्यापिका प्रभा।
अग्रे तदुभयाभावस्तेनाऽन्धत्वं तमस्तथा।।का.१।।

लौकिक पदार्थोंका ज्ञान दो प्रकारसे होता है वे पदार्थ दो हैं, एक पुरुष दूसरा विषय. पुरुषका ज्ञान नेत्रोंसे होता है अथवा पुरुषको नेत्र द्वारा ज्ञान होता है विषयका ज्ञान उसमें व्याप्त तेज कराता है आरम्भमें ये दोनों(नेत्र और तेज) नहीं थे इसलिये ये प्रथम अन्धकार अर्थात् अज्ञान हुए।।१।।

इसके बाद 'तामिस्र' रचना उसमें(तामिस्रमें) विषयोंमें ही मोह रहता है. न कि अपने अन्तःकरणमें मोह होता है. 'आदिकृत' पदका तात्पर्य है कि ब्रह्मा पहले ही जगत्का कर्ता है. यदि वह(ब्रह्मा) इस प्रकार जगत्की रचना न करे तो जगत् ही न बने.

आत्मानं वस्तु रूपं च, यदि जानाति सर्वथा।
अत्युत्कटश्चेत् कामः स्यात् तदा सृष्टिर्न चान्यथा।
न तच्छक्यं ब्रह्मणः स्याद्धरेरेव तथा भवेत्।।का.१।।

इस कारिकामें तामिस्रका स्वरूप बताते हैं तथा लक्षण भी कहते हैं जिनसे सृष्टि बन सकती है स्वयं(अपने)का और पदार्थोंके स्वरूपका पूर्ण ज्ञान होते हुए भी साथमें प्रबल कामनाकी भी आवश्यकता है तब सृष्टि बन सकती है यदि प्रबल कामना(प्रबल कामनाको 'तामिस्र' कहा है) न हो तो सृष्टि नहीं बनती है. ब्रह्मासे यह नहीं हो सकता है हरिसे ही यों बनता है।।१।।

बादमें महामोह रचा. महामोहका स्वरूप–वस्तुके सच्चे स्वरूपको

समझते हुए भी उस विषय(पदार्थ)में अपना ऐक्य समझना महामोह है जैसे देह पञ्चभूतोंसे बनी हुई है. मैं ब्रह्मका अंश स्वरूप हूं यों जानते हुए भी अपनेको देह समझ लेना 'महामोह' है. ममत्व अर्थात् यह मेरा है, इसको मोह कहते हैं. 'तम' शब्दका तात्पर्य अज्ञान है. यह अज्ञान ही अपने स्वरूपको भुला देता है, अर्थात् मनुष्य अज्ञानसे अपने ब्रह्मांश स्वरूपको भूलकर देह समझ बैठता है. ये पांचों वृत्तियां अज्ञानकी ही हैं.

अज्ञानं भगवच्छक्तिः मायाकार्यमिहोच्यते।
चतुर्मुखे प्रविष्टा सा पञ्चधा निर्गता बहिः।।का.२।।

भगवान्की शक्ति जो अज्ञान है उसको यहां मायाका कार्य कहा है वह ब्रह्मामें प्रविष्ट हो फिर उसमेंसे पांच प्रकारसे बाहर निकली है।।२।।

ब्रह्माने ये पांच प्रकारकी देवता उत्पन्न हुई देखकर उनको जगत्की रचनामें न लगाया किंतु अपनी भी निंदा करने लगा कि मैने भी यह अच्छा कार्य नहीं किया है क्योंकि यह सृष्टि पापीयसी है यों इस श्लोकमें कहते हैं:

दृष्ट्वा पापीयसीं सृष्टिं नात्मानं बह्वमन्यत।
भगवद्ध्यान–पूतेन मनसाऽन्यांस्ततोऽसृजत्।।३।।

अधिक पापवाली सृष्टिको देखकर ब्रह्माने अपना तिरस्कार किया पश्चात् भगवान्के ध्यानसे अपने मनको पवित्रकर दूसरी सृष्टि जो पवित्र उत्तम थी वह रची।।३।।

इस प्रकारकी तामसी पापीसृष्टि पापसे ही पैदा होती है ऐसी पापी सृष्टिका कार्यकर मैंने अपराध किया है यों समझ ब्रह्माने उस अपराधकी निवृत्ति करनेकेलिये भगवान्का ध्यान किया किन्तु वह ध्यान भी उतने समय तक चला जबतक मन सर्वप्रकारसे शुद्ध रहा, जिस कारणसे आगे बनाये जानेवाले पदार्थोंमें बनाई हुई पहले रचि हुई पापीसृष्टि प्रविष्ट न हो सकी. उसका प्रतिपादन करते हैं 'भगवद्ध्यानपूतेन मनसा' वह दूसरी जो शुद्धसृष्टि बनाई वह भगवान्के ध्यानसे अपना मन शुद्ध करके बनाई एवं वे जो बनाई वह पहली(पापी)सृष्टिसे विलक्षण थी।।३।।

सनकं च सनन्दं च सनातनम् अथात्मभूः।
सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियान् ऊर्ध्वरेतसः।।४।।

सनक, सनन्द, सनातन और भगवान्से उत्पन्न हुए सदैव ब्रह्मचारी एवं

क्रियारहित सनत्कुमार इस प्रकारके चारकी सृष्टि पहली पापीसृष्टिसे अन्य प्रकारकी बनाई.

ये चार[१] उत्पन्न हुए जो कि उत्तम शुद्ध कृतयुगकी सृष्टि है, पहले जो सृष्टिमें उत्पन्न अंधतामिस्रादि हुए वे पापी होनेसे कलियुगकी सृष्टिके थे, 'आत्मभू' विशेषणसे यह सूचित किया है इन चारोंमें भी सनत्कुमार महान् है, क्योंकि आपका पौत्र है इनकी सृष्टिमें आपका पौत्रभाव मुख्य है इसलिये 'आत्मभू' विशेषण दिया है 'आत्मा' पदका अर्थ 'भगवान्' है. सर्व चारोंमें तीन गुण हैं वे हैं: १.'मुनीन् २.निष्क्रियान् ३.ऊर्ध्वरेतसः' उनका कर्त्तव्य एक मनन ही सिद्ध हुआ है उनका कर्त्तव्य उत्तरकाण्ड(ज्ञानकाण्ड) ही है न कि प्रथय कर्मकाण्ड कर्त्तव्य है. इसलिये 'निष्क्रियान्' विशेषण दिया है. जिसका आशय है कि उनको कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं थी जिससे वे कर्म नहीं करते थे अतः वे निष्क्रिय कहे हैं, जिसका वास्तविक आशय यह है कि वे वेद पढे थे उनको पढ़कर तथा उनके अर्थको समझकर बाहरका जो अध्यास होता है वह अध्यास उनमें नहीं था अतः सर्व ध्यानादि मनसे ही करते थे, जो बाहरसे सिद्ध होनेवाली क्रिया थी वह नहीं करते थे, यदि यों है तो सृष्टि भी मनसे कर लेते, इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे ऊर्ध्वरिता थे, यदि कहो मानसरेतसे सृष्टि करते तो कहते हैं कि वह भी ऊर्ध्व अर्थात् भगवद्गामी होनेसे नीचे आके हीन वस्तुको उत्पन्न नहीं करता।।४।।

१.सनक २.सनन्द ३.सनातन ४.सनत्कुमार उत्पन्न हुए, इससे ये कृतयुगकी सृष्टिके हैं, पहले जो उत्पन्न हुए वे कलियुगकी सृष्टिके थे.

पुत्रोंको बाहरसे ही उत्तम देख ब्रह्माने पुत्रोंसे कहा:

तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः!।
तन् ऐच्छन् मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः।।५।।

ब्रह्माने उन पुत्रोंको कहा, हे पुत्र! प्रजाकी उत्पत्ति करो, वासुदेव परायण एवं मोक्ष धर्मवाले उन्होंने सृष्टि करनेकी इच्छा नहीं की।।५।।

प्रजा रचनेकी आज्ञा देनेमें ब्रह्माका अज्ञान कारण नहीं था किन्तु यह इच्छा थी कि भगवान्के उपयोगमें आनेवाली सृष्टि मनसे उत्पन्न करें, इसलिये उत्पन्न करो, ऐसी आज्ञा की यदि अज्ञान होता तो क्रोधसे महादेव उत्पन्न न होते.

ब्रह्मा स्वभू थे इसलिये अहंकारवश ही भगवान्की आज्ञा प्राप्त करनेकेलिये न ठहरकर स्वयं आज्ञा दे दी अतः ब्रह्माको जो ज्ञान था वह अहंकार

वश होनेसे नष्ट हो गया जिससे वह ब्रह्माकी महिमा हुई, महादेवकी नहीं हुई.

हे पुत्रकाः! यह सम्बोधन सूचित करता है कि तुम मेरे पुत्र हो इसलिये तुमको मेरी आज्ञा अवश्य पालन करनी है, 'पुत्र' पदके साथ 'क' प्रत्यय लगानेका आशय है कि मेरी आज्ञा पालनमें किसी प्रकारका संदेह नहीं करना है, अर्थात् अवश्य पालनी है. पिताकी आज्ञाका पालन तथा भगवत्कार्य न करनेसे उनको भगवान्की ड्योढी पर क्रोध उत्पन्न हुआ.

भगवान्के कार्य करनेकी भी इच्छा क्यों नहीं की इसका समाधान करते हैं कि 'मोक्ष धर्मणः' ये, मोक्षमें जो निवृत्तिमार्गके धर्म सिद्ध हैं उनको ही करते थे अपना इनका धर्म मोक्ष था, जिससे वे मोक्षकेलिये ही धर्म करते थे. भगवान्के कार्य करना भी मोक्षका हेतु है वह क्यों नहीं किया?

इस पर कहते हैं कि 'वासुदेव परायणा' वासुदेवके ही परायण थे वासुदेव तो ज्ञान देकर मोक्षदाता है, उसको सृष्टि आदि कार्यकी अपेक्षा नहीं है. ऐसे वासुदेव परायण ज्ञानीको केवल मोक्षफल नहीं चाहिये किन्तु भगवान्की प्रसन्नता ही चाहिये, इस कारणसे ब्रह्माके कार्य करनेकी इच्छा भी नहींकी सृष्टि नहीं करेंगे ऐसे वचन भी नहीं कहे।।५।।

जब देखा कि ये(सनत्कुमार) भी शांत हो गये सृष्टि करना नहीं चाहते, ब्रह्माने पहले जो अविद्या सृष्टि की थी उससे खिन्न तो था ही फिर शांतिकेलिये इनको उत्पन्न किया, इनको भी जब सृष्टिमें उपयोगी नहीं देखा तब ब्रह्माको क्रोध आया वह क्रोध भी थोड़ा नहीं किन्तु विशेष हुआ क्योंकि सृष्टिके कार्यमें रुके हुए होनेसे वह कार्य पूर्ण न होनेसे अधिक क्रोध उत्पन्न हुआ जिसका वर्णन इस श्लोकमें कहते हैं:

सोऽवध्यातः सुतैरेवं प्रत्याख्यातानुशासनैः।
क्रोधं दुर्विषहं जातं नियन्तुम् उपचक्रमे।।६।।

आज्ञाका उल्लंघन करनेवाले पुत्रोंसे जब इस प्रकार अपमानित हो क्रोधित हुए तब ब्रह्मा उस कठिन एवं न सहन करने योग्य उस क्रोधको वे रोकनेका प्रयत्न करने लगे।।६।।

ऐसा असह्य क्रोध क्यों हुआ? जिससे कार्य रुक(बिगड़) गया, जिसकेलिये कहते हैं कि ''अभिमानं कार्यं च नाशयति'' अहंकार ही ऐसी वस्तु है जो यों करती है पश्चात् ऐसे असह्य क्रोधके उत्पन्न होनेके अनन्तर मध्यमें यह

विचार आया कि भगवान्‌की इच्छा कैसी है? सृष्टि करानेकी है या नहीं है यदि है तो किस प्रकारकी करानेकी इच्छा है. ये सृष्टि क्यों नहीं करते हैं? यों विचार करनेके बादमें भगवान्‌का अभिप्राय जाना कि तामस सृष्टिके अनन्तर ये आसुरी सृष्टिको ही भगवान्‌के उपयोगी बताएंगे ये मानुषभाववाले हैं अहन्ताके अधिकारी हैं यों अभिप्राय जानकर क्रोधको रोकनेका प्रारम्भ किया।।६।।

भगवान्‌के अभीष्ट कार्यमें भगवदंशके प्रवेश होनेसे तब उत्पन्न क्रोध उस कार्यकेलिये आधिदैविक हो गया, यों इस श्लोकमें कहते हैं:

धिया निगृह्यमाणोऽपि भ्रुवोर्मध्यात् प्रजापतेः।
सद्योऽजायत तन् मन्युः कुमारो नीललोहितः।।७।।

यद्यपि ब्रह्माने क्रोधको बुद्धिसे रोका तो भी वह भ्रूवोंके मध्यसे एकदम उत्पन्न हो गया, वह कुमार नील लोहित वर्णका था।।७।।

मनके दो कार्य होते हैं १.क्रिया २.ज्ञान इनमेंसे ब्रह्माने ज्ञानसे नियमनका कार्य किया, क्रियासे नियमन नहीं किया जिससे क्रिया निवृत नहीं हुई थी और क्रियाको अपनेमें ब्रह्मा समान मान सके दोनों(क्रोधके नियमन एवं कुमारकी उत्पत्ति)की रक्षाकेलिये भ्रूवोंके मध्य भगवदाज्ञा चक्र है अतः वहांसे भगवद् आज्ञाकारी भगवदंश उसी क्षण उत्पन्न हुआ, यदि दूसरे क्षणमें होता तो क्रियाका भी नियमन हो जाता. 'मन्यु' पदका आशय 'क्रोध' है, वह(क्रोध) नीले और लाल मिले हुए वर्णके रंगवाला बालक था क्योंकि वह क्रोध भगवदंश था इसलिये क्रोधका वर्ण लाल होनेसे और भगवान्‌का वर्ण नीला होनेसे दोनों वर्णं उसरूपमें मिले हुए थे, 'कुमार' कहनेका भाव प्रकट करते हैं कि स्वाभाविक सृष्टिके उत्पन्न करनेवाले कन्दर्पका शत्रु नाशकरनेवाला था और दैत्य कन्दर्पका जनक था ।।७।।

उत्पन्न होनेके बाद वह बालक अपने नाम धरानेकेलिये रोनेकी लीला करने लगा वास्तवमें प्राणियोंका दुःख देखकर उसका रुदन था यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

स वै रुरोद देवानां पूर्वजो भगवान् भवः।
नामानि कुरु मे धातः स्थानानि च जगद्गुरो!।।८।।

देवोंमें प्रथम उत्पन्न हुवे यह भगवान् महादेव निश्चय रोने लगे और कहने लगे कि हे धाता! हे जगद्गुरु! आप हमारे नाम रखो और स्थान बनाओ ।।८।।

वह तो देवोंमें प्रथम उत्पन्न देव है, अर्थात् जितने आधिदैविक देव हैं उनमें ये प्रथम है अतः वे तो भगवान् हैं जीववत् अंश नहीं है, इसलिये इनको(भव) कहा है अर्थात् वे सर्वत्र होते हैं यों तो कोई भी बिना अहङ्कारके उत्पन्न नहीं होता है और न बिना देहके जन्म लेता है किन्तु इनके जन्ममें हेतु 'भव' अर्थात् सर्वत्र होता है यह ही इनका उपादान १.हरि, २.'रजः ब्रह्मा' है ये दो अंश सूक्ष्म हैं एवं आधारभूत सकल वैष्णव हैं, अतः इनकी देह तीन मूर्तियोंवाली है, क्यों रुदन करते हो? इसके उत्तरमें कहा है कि जगत्कर्त्ता है अतः मेरेलिये निवास स्थान बनाईये और जगद्गुरु हो इसलिये मेरे नाम रखो, नाम न होगा तो भोग स्पष्ट नहीं धरा जायेगा इसलिये नाम रखनेकी प्रार्थना की है।।८।।

इस प्रार्थनासे ही सन्तुष्ट ब्रह्माने भी अधिक किया(दिया), यों इस श्लोकमें कहते हैं:

इति तस्य वचः पाद्मो भगवान् परिपालयन्।
अभ्यधाद् भद्रया वाचा मा रोदीस्तत्करोमि ते।।९।।

कमलसे उद्भूत भगवान् ब्रह्माने उसका कहा हुआ(मांगा हुआ) वाक्य परिपालन करनेकेलिये भद्र(प्रेम) वाणीसे कहा कि 'रुदन न करो' तुमने जो कहा वह करता हूं।।९।।

उसका कहा हुआ पालन करते हुए नाम रखे, जिसका अभिप्राय था कि अव्यक्ततासे आपका योग भले ही हो, यदि बालक रोता है तो उसको सान्त्वना देकर रोना बन्द कराया जाता है इसलिये सान्तवना दी कि, मत रोवो, तुम्हारी इच्छाके अनुकूल अभीष्ट ही होगा वह ही करता हूं. यह गुप्त अभिप्राय है और स्त्रियां भी दूंगा? स्वात् उन सबको आप स्वयं ही उत्पन्नकर अपने समान बना देना इसलिये भार्या दान दिया है प्रार्थना यद्यपि दोकी की किन्तु अभीष्ट एक ही था इसलिये प्रार्थनासे अधिक नहीं दिया है।।९।।

आपके नाम स्वभावसे गुप्त हैं अतः क्रियासे होंगे यों श्लोकमें बताते हैं:

यद् अरोदीः सुरश्रेष्ठ! सोद्वेग इव बालकः।
ततस्त्वाम् अभिधास्यन्ति नाम्ना 'रुद्र' इति प्रजाः।।१०।।

हे देवोंमें श्रेष्ठ! जिस कारणसे तुम उद्वेगी बालककी तरह रोये हो इस कारणसे तुम्हें प्रजा(रुद्र) नामसे पुकारेगी(बुलायेगी)।।१०।।

जिस कारणसे आपने रुदन किया उस कारणसे आप रुद्र हुए. श्रुति कहती

है कि ''यद् अरोदीत् तद् रुद्रस्य रुद्रत्वम्'' होना ही रुद्रका रुद्रपन है, 'रुद्र' पदमें जो 'रक्' प्रत्यय लगा है वह औणादिक कर्तामें लगा है 'सुरश्रेष्ठः' सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि यह(भव) रुद्रगणमें नहीं है क्योंकि वह गण सुरोंमें गिना जाता है श्रेष्ठ नहीं है, यह सुरोंमें श्रेष्ठ है, प्रार्थना करने पर भी जैसे प्रार्थक नाम नहीं रखा वैसे रोनेसे 'रुद्र' यह नाम भी नहीं रखना था इस शङ्का निवारणकेलिये कहा है कि 'सोद्वेगइव' उद्वेगीकी तरह नाम पड़ा. चित्तकी व्याकुलताको उद्वेग कहा जाता है. रोदन करनेमें शरीर, मन एवं वाणी तीनोंकी क्रिया होती है(हुई), जिससे ही यह नाम पड़ा रोनेके समय आंसुओंका गिरना शरीरकी क्रिया हुई, शब्द वाणीकी क्रिया हुई और चित्तकी व्याकुलता मानसिक क्रिया हुई, शब्द वाणीकी यद्यपि रोनेका अभिप्राय दूसरा था तो भी अनुकरण वैसा ही था इसलिये लोकमें वैसा नाम प्रसिद्ध हो गया, इसलिए ही 'इव' पद दिया है मैं सर्वात्मक हूं यों मुझे गुप्त रखनेकेलिये धरा हुआ रूप सर्वजगत्में प्रसिद्ध हो, इसलिये 'रुद्र' इस नामसे सब लोग आपको पुकारेंगे अपनी क्रिया करनेसे तथा वैसी लीला करनेसे यह प्राप्त किया अतः रुद्र, लोकमें स्वरूप अप्रकट ही रहेगा केवल नाम प्रसिद्ध होगा।।१०।।

इन निम्न श्लोकोंमें नाम समानतासे ११ स्थान भी जताते हैं:

हृदिन्द्रियाण्यसुर्व्योम वायुरग्निर्जलं मही।
सूर्यश्चन्द्रस्तपश्चैव स्थानान्यग्रे कृतानि मे।।११।।
मन्युर्मनुर्महेशानो महान् शिवः क्रतुध्वजः।
उग्ररेता भवः कालो वामदेवो धृतव्रतः।।१२।।
धीर्वृत्तिरुशनोमा च नियुत्सर्पिरिलाऽम्बिका।
इरावती सुधा दीक्षा रुद्राण्यो रुद्र! ते स्त्रियः।।१३।।
गृहाणैतानि नामानि स्थानानि च सयोषणः।
आभिः सृज प्रजा बह्वीः प्रजानामसि यत्पतिः।।१४।।

हृदय, इन्द्रियां, प्राण, आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तप ये स्थान पहले ही तुम्हारेलिये बना दिये हैं.

मन्यु, मनु, महेशान, महान् शिव, क्रतुध्वज, उग्ररेता, भव, काल, वामदेव और धृतव्रत ये तुम्हारे नाम है.

हे रुद्रः! धी, वृत्ति, उशना, उमा, नियुत्, सर्पि, इला, अम्बिका, इरावती

सुधा, दीक्षा और रुद्राणियां तुम्हारी स्त्रियां हैं स्त्रियों समेत ये नाम तथा स्थान ग्रहण करो, इनके द्वारा बहुत प्रजा पैदा कराओ आप प्रजापति हैं।।११-१४।।

हृदय, इन्द्रियां, प्राण, आकाश, कृच्छ्रादि धृतरूप तपस्या जीवोंके मध्यमें प्रथम तीन बाहरके पांच महाभूत, एवं बाहर दिन और रात्रिका प्रकाश हो, तथा भीतरका तप ऐसे ११ स्थान बना दिये हैं.

प्रकाशकम् उपादानं करणं च हरासनम्।
नामानि भार्याः सिद्ध्यर्थं रुद्राणां गणभेदतः।।का.१।।

प्रकाश करनेवाला उपादान(कारण), करण(साधन) महादेवका आसन, नाम, स्त्रियां. ये सब सृष्टि कार्यकी सिद्धिके लिये एवं रुद्रोंके गण भेदार्थ किये हैं.

मन्यु आदि रुद्रके नाम हैं, महेषानके बदलेमें कितनेक 'महिनस' कहते हैं, धी आदि स्त्रियां हैं अथवा धीर्वृत्ति असहा और उमा यों पाठ है 'रुद्राणिओं नामसे यों बताया है कि ये तुम्हारे साथ उत्पन्न हुई? तुम्हारी स्त्रियां हैं. रूप द्वारा नाम ग्रहण किया है अतः ११ नाम हुए हैं 'सयोषण' वैदिकशब्द है जिसका अर्थ स्त्री समेत उत्पन्न हुए हो इसलिये इनमेंसे बहुत प्रजा उत्पन्न करो, क्योकि प्रजापति ही प्रजा सृष्टिके(प्रजाकी रचनाके) अधिकारी होकर प्रकट हुए हो।।११-१४।।

ब्रह्माने अपना अभिलषित ही कहा, इसलिये वैसे ही किया, यों इस निम्न श्लोकमें कहते हैं:

इत्यादिष्टः स गुरुणा भगवान् नीललोहितः।
सत्त्वाकृतिस्वभावेन ससर्जात्मसमाः प्रजाः।।१५।।

गुरुसे आज्ञा प्राप्त(आज्ञा पाये हुए) भगवान्की नील लोहितने बल, आकृति और स्वभावसे अपने समान बहुत प्रजाऐं रचीं।।१५।।

इस श्लोकमें दिखाते हैं कि ब्रह्माने आज्ञा की थी कि, स्त्रियोंसे मिलकर प्रजा उत्पन्न करो यों करना भवको इष्ट नहीं था किन्तु शास्त्राज्ञा है कि ''आज्ञा गुरुणां हि अविचारणीया'' गुरुओंकी आज्ञा जैसी भी हो वह मान लेनी चाहिये, उसमें विचारकी आवश्यकता नहीं है इसलिये कुमारभव(महादेव)ने आज्ञानुसार सृष्टिकी स्वयं रचना की, क्योंकि आप भगवान् हैं अतः इनमें ऐसी सामर्थ्य मौजूद थी 'नीललोहितः' विशेषणसे आपका असाधारणत्व प्रकट किया गया है.

'सत्त्वाकृतिस्वाभावेन' पदसे जिस प्रकारकी प्रजा रचनेकी आज्ञा दी थी वैसी ही अपने बल नीललोहित आकृति और तामस स्वभाव इन तीनोंसे ही अपने

समान प्रजाएं रचीं।।१५।।

यों सृष्टि उत्पन्न होनेका परिणाम क्या हुआ? यह इस श्लोकमें वर्णन करते हैं:

रुद्राणां रुद्रसृष्टानां समन्ताद् ग्रसतां जगत्।
निशम्याऽसंख्यशो यूथान्प्रजापतिरशङ्कत।।१६।।

चारोंतरफसे जगत्को ग्रस रहे रूपोंको देखकर प्रजापतिको शङ्का होने लगी कि ये समग्र जगत्को मेरे समेत ग्रस लेंगें क्या? जिससे भयभीत हुए(होने लगे)।।१६।।

जगत्के संहार करनेका एक ही कार्य महादेव(रुद्र)का है उसको प्रजापतिने विपरीत कार्य उत्पत्ति बता दिया जो उससे होनेवाला नहीं है किन्तु गुरु आज्ञासे करना पड़ा फिर स्वाभावानुसार सोचा कि यों करनेसे मेरा कार्य तो रुक जायेगा, अपना संहार कार्य न रुके, इसलिये अपनेसे उत्पन्न किये हुए रूपोंसे संहार कार्य करने लगे.

आपकी उत्पन्न सृष्टि बहुत थी इसलिये कालने जो सृष्टि रची थी उस सबको वे भक्षण करने लगे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि अपनेमें प्रवेश कराके सबको भक्षण करने लगे, न केवल चैतन्य किन्तु पृथ्वी आदि जड़ पदार्थोंको भी भक्षणकर रहे हैं, इसी तरह रुद्रके उत्पन्न किये हुए रुद्रोंकी चारोंतरफ जगत्का ग्रसन करते असंख्य यूथों(टोलों)को जानकर, प्रजापतिको यह शङ्का होने लगी कि क्या मुझे भी निगल जावेगे।।१६।।

'अलं प्रजाभिः' श्लोकादिके वाक्योंका 'एवमात्मभुवादिष्टः' श्लोकसे सम्बन्ध है, अपनेको भक्षण न कर डाले , ऐसी ब्रह्मा शङ्का करने लगे:

अलं प्रजाभिः सृष्टाभिः ईदृशीभिः सुरोत्तम!।
मया सह दहन्तीभिः दिशश्चक्षुर्भिरुल्बणैः।।१७।।

हे सुरश्रेष्ठ! क्रूर नेत्रोंसे मुझ सहित समस्त दिशाओंको जलाती हुई इन प्रजाओंकी रचना बन्द करो।।१७।।

अब इस प्रकारकी प्रजाओंकी रचना बस करो. इसके बाद ऐसी प्रजाकी रचना बन्द करो, अब न रचो क्योंकि आप देवोंमें भी उत्तम हैं ऐसे होकर देहभावसे सृष्टि करना उचित नहीं है यदि कहो कि इन प्रजाओंका क्या दोष है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'मया सह दहन्तीभिः' मुझ सहित दश दिशाओंको जला रही हैं. कैसे

जलाएगी? अग्नि तो इनके पास है ही नहीं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'नापि दाहे तासाम् अग्न्यपेक्षा' इनको(प्रजाओंको) जलानेकेलिये अग्निकी अपेक्षा नही है, क्योंकि इनके नेत्र ही क्रूर, भयानक हैं. इस भयानकतासे सम्मुख न होते हुए भी अन्यको भी उसके देखनेसे ऐसा भय होता है जिससे मरणकी सूचना देते हैं।।१७।।

तब क्या करना चाहिये? ऐसी आशङ्का होने पर कहते हैं:

तप आतिष्ठ भद्रं ते सर्वभूतसुखावहम्।
तपसैव यथापूर्वं स्रष्टा विश्वम् इदं भवान्।।१८।।

सकल प्राणी मात्रको सुख देनेकी भी तपस्या करो आपका कल्याण हो, तपस्यासे ही जैसे पहले आपने यह जगत् रचा था वैसे ही रचो।।१८।।

तपस्या करनेमें तो कष्ट होगा? इस शङ्काका निवारण 'भद्रं ते'पदसे किया है तपसे तुम्हारा कुशल ही होगा कष्ट नहीं होगा, क्योंकि ऐसी तपस्या करे जो समस्त भूतोंको सुख देनेवाली हो वह(तपस्या) इस सृष्टिकी तरह लोकोपद्रवका कारणरूप नहीं करें, किन्तु समस्त भूतोंको सुख देनेवाली ऐसी सात्त्विक तपस्या करनी. ऐसी तपस्यासे क्या होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'तपसैव यथा पूर्वं' जैसे पहले तामसकल्पमें शिव प्रजाके उत्पादक हुए थे वह प्रजा तामसी थी किन्तु लोकानुसारिण थी, वैसी प्रजाएं इस कल्पमें भी चाहिये इसलिये कहा है कि सात्त्विक तपकर पूर्वकल्पके समान तामसी सृष्टि करो।।१८।।

और भले विशेष सृष्टि उत्पत्ति न भी हो किन्तु सात्त्विक तपसे भगवान् प्रसन्न होंगे यों इस श्लोकमें कहते हैं:

तपसैव परं ज्योतिः भगवन्तम् अधोक्षजम्।
सर्वभूतगुहावासम् अञ्जसा विन्दते पुमान्।।१९।।

इन्द्रियातीत परम ज्योतिस्वरूप, सर्वभूतोंके गुहामें विराजमान भगवान्को पुरुष तपस्यासे ही विना श्रमके प्राप्तकर लेता हैं।।१९।।

अब ब्रह्मा अपने ज्ञानके अनुभावानुसार शास्त्रके अर्थका निरूपण करते हैं कि 'परं ज्योतिः' प्रभु परम ज्योतिस्वरूप होनेसे सूर्यचन्द्र आदि प्रकाश करनेवालोंके भी प्रकाशक हैं इस कारणसे उनके दर्शन हो जाने पर सकल वस्तुका याथात्म्य(सत्य सम्पूर्ण) स्वरूप स्फुरित होता है कारणकि वह ही सर्व प्रकारसे सकल वस्तुओंका याथात्म्य प्रकाशक है. 'भगवन्तं'पदसे यह सूचित किया हैं कि उनके सिवाय दूसरा कुछ भी जानने योग्य नहीं हैं, 'अधोक्षजं' विशेषणसे यह

सूचना दी हैं कि इसकेलिये कोई दूसरा साधन नहीं है 'सर्वभूतगुहावासं' पदसे बताया हैं कि वह सुलभ भी है तथा आवश्यक भी है और दुर्ज्ञेय भी है ऐसे स्वरूपकी प्रगति तपस्यासे होती है, यों कहकर तपस्याका माहात्म्य प्रकट किया है 'अञ्जसा' पदसे कहा है कि विना परिश्रमसे मिलते हैं, 'पुमान्' पदसे दिखाया है कि 'जीव' दोषराशि है, तो भी तपस्यासे प्रभुको विना परिश्रम प्राप्तकर लेता है।।१९।।

ब्रह्माके उपदेश करने पर जो रुद्रने किया वह मैत्रयजी कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

एवमात्मभुवादिष्टः परिक्रम्य गिरां पतिम्।

बाढ़मित्यमुमामन्त्र्य विवेश तपसे वनम्।।२०।।

मैत्रेयजीने कहा कि ब्रह्माने जो तप करनेकी आज्ञाकी या विचार दिखाया वह रुद्रको भी संमत था अतः गुरु(ब्रह्मा)ने रुद्रको तप करनेकेलिये वनमें भेजा, तब गुरुकी परिक्रमाकर वनमें तपकेलिये रुद्र चले गये।।२०।।

ब्रह्माने रुद्रको कहा कि 'तपस्या करनी चाहिये' जिसका उनने अनुमोदन किया और तप करनेकेलिये रुद्रको तपोवनमें भेजा(ब्रह्माकी परिक्रमाकर तपकेलिए तपोवनमें प्रवेश किया) 'एवं' पदसे बताया हैं कि तामसी सृष्टि आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक यों तीन तरहकी थी।।२०।।

अनन्तर राजसी सृष्टिकी दूसरे प्रकारसे रचना की, उनके निरूपणका उपक्रम करते हैं:

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे।

भगवत्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तानहेतवः।।२१।।

अनन्तर भगवान्की शक्तिवाले ब्रह्माने सृष्टिका ध्यान किया तो लोक परम्पराके कारणरूप दश पुत्र पैदा किये।।२१।।

पहले कर्तापनके अभिमानसे सृष्टि रचनामें प्रवृत्त हुए, अहङ्कार तीन तरहका होनेसे सृष्टि भी तीन प्रकारकी उत्पन्न हुई–जिसमें पंचपर्ववाली तामसी सृष्टि हुई, पश्चात् अहङ्कारमें भी भगवान्का ध्यान होनेसे चित्त शुद्ध हुआ, राजसी सृष्टि हुई, उन दोनों सृष्टियोंके निर्वाहकेलिये सात्त्विकी सृष्टि की.

सृष्टिके बनानेका विचार करते हुए ध्यान आया कि यह सृष्टि कैसे बनेगी? तब विचार आया कि सृष्टि भगवद्रूप है. अतः दश प्रकारकी वह सृष्टि

उत्पन्न हुई यों निरूपण करते हैं नव सृष्टि तीन गुणवाली हुई और एक गुणातीत सृष्टि बनी, वह उद्देश्यमें पश्चात् कही जायेगी, विमर्श(विचारमें) प्रथम कही जायेगी, वह सृष्टि चिन्ता हरनेवाली तथा दुःखोंको मिटानेवाली होनेसे पुत्र सृष्टि हुई. केवल ध्यानसे ही ये पुत्र कैसे उत्पन्न हुए? जिसके उत्तरमें कहते है कि 'भगवच्छक्तियुक्तस्य' ब्रह्मा भगवान्की उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति है उससे युक्त थे अर्थात् ब्रह्मामें भगवान्की उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति है उससे युक्त थे अर्थात् ब्रह्मामें भगवान्की सृज्या शक्ति मौजूद थी, वह शक्ति ही स्वतः स्वयं पुत्ररूपसे प्रकट हुई, अथवा सृष्ट शक्ति ही प्रादुर्भूत हुई, तब उस ही शक्तिने पुत्रोंको पैदा किया.

भगवच्छक्तिने उत्पन्न किये जिससे उनमें जो विशेषता हुई उसका वर्णन करते हैं कि 'लोकसन्तानहेतवः' ये सृज्य शक्तिरूप पुत्र लोककी परम्परा चलती रहे जिसके कारण हुए, अर्थात् यह संसारका प्रवाह कल्प पर्यन्त चलता रहे मध्यमें रुके नहीं, ऐसी शक्ति तो भगवान्की सृज्याशक्तिमें ही है, सृज्याशक्तिरूप ये पुत्र हैं।।२१।।

उनकी निम्न श्लोकसे उद्देश्य पूर्वक (नामोंसे) गणना करते हैं:

मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः।।२२।।

मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ, दक्ष और १०वें नारद।।२२।।

पहले तीन(मरीचि, अत्रि और अङ्गिरस) सात्त्विक हैं, मध्यके तीन (पुलस्त्य, पुलह और क्रतु) तामस हैं और भृगु, वसिष्ठ और दक्ष ये तीन राजस हैं, दसवां नारद गुणातीत होनेसे पृथक् कहा गया है।।२२।।

इनकी उत्पत्ति जिन-जिन अङ्गोंसे हुई है उनका वर्णन करते हैं:

उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयंभुवः।
प्राणाद्वसिष्ठः संजातो भृगुस्त्वचि करात्क्रतुः।।२३।।
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिः मरीचिर्मनसोऽभवत्।।२४।।

गोदसे नारद, दक्ष स्वयंभूके अंगुष्ठसे, प्राणसे वसिष्ठ, त्वचासे भृगु, हस्तसे क्रतु, नाभिसे पुलह, कर्णोसे पुलस्त्य ऋषि, मुखसे अङ्गिरस, नेत्रोंसे अत्रि,

मनसे मरीचि उत्पन्न हुए।।२३-२४।।

प्रेमपात्र होनेसे प्यार करते हुए नारदको गोदसे उत्पन्न किया, दक्ष भगवदीय था इसलिये अपने समानताकेलिये वह स्वयम्भूके अंगुष्ठसे उत्पन्न हुआ, उसको भी ब्रह्माकी तरह अभिमान था, दूसरे बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे जैसे थे वैसे उत्पन्न हुए और तामस बाह्य हुए, दशविध प्राणसे वसिष्ठ इसी तरह अन्त पर्यन्त उसके वंश सर्वश्रेष्ठ ही उत्पन्न हुए, भृगु क्रतु और पुलह बाह्य, और पुलस्त्य [१]दोनों प्रकारके वंशका उत्पन्नकर्ता होनेसे दोनों कानोंसे उत्पन्न हुआ, पुलस्त्यको ऋषि इसलिये कहा है कि वह वेदका संबन्धी था और उसमें दैत्यत्त्व भी नहीं था, नहीं तो मधुकैटभ(विष्णुके कानके मैलरूप) जैसा कोई उत्पन्न होता(अङ्गिरा) मुख से, नेत्रसे अत्रि उसने भी ज्ञानी और योगी प्रकारके पुत्र प्रकट किये मरीचिने भी दो प्रकारकी सृष्टिकी जिनसे समग्र जगत् भर गया।।२३-२४।।

१.पुलस्त्यके दो पुत्र अगस्त्य और विश्रवा थे अगस्त्यसे ऋषिवंश और विश्रवासे दैत्यवंश हुआ इसलिये पुलस्त्य दोनों वंशोंके उत्पादक कहे हैं.

इसी तरह दस पुत्रोंकी उत्पत्तिका निरूपण करनेके अनन्तर उनमें अधिष्ठित अन्य सगुण पुत्रोंको उत्पन्न किया, उनका प्रकार बताते हैं, अग्रभागसे धर्म प्रकट किया जिसका कार्य मुक्ति और पृष्ठ भागसे अधर्म उत्पन्न किया जिसका कार्य संसार है-निम्न श्लोकमें धर्म और अधर्मका निरूपण है:

धर्मः स्तनाद् दक्षिणतो यत्र नारायणः स्वयम्।
अधर्मः पृष्ठतो यस्माद् मृत्युर्लोकभयंकरः।।२५।।

जिस धर्ममें स्वयं नारायण प्रकट होते हैं उस धर्मकी उत्पत्ति दक्षिण स्तनसे हुई है अधर्मकी उत्पत्ति पीठसे हुई जिस(अधर्म)से लोकको भयभीत करनेवाली मृत्यु होती है।।२५।।

जिस धर्ममें नारायण स्वयं प्रकट हुवे हैं(होते हैं) वह धर्म दक्षिण स्तनसे प्रकट हुआ है, स्वभावसे ही धर्म हृदयसे होता है, इसमें प्रवृत्ति स्वभाववाला धर्म वाम हृदयसे और भगवदात्मक ज्ञानात्मा धर्म दक्षिण स्तनसे प्रकट होता है धर्मकेलिये 'स्वयं' पद विशेषण रूपसे देकर यह सूचित किया है कि धर्म आत्मारूप होनेसे मोक्षदाता है.

अधर्ममें विशेष भेद न होनेसे सामान्यरूपसे उसकी उत्पत्ति पृष्ठ(पीठ)से कही है उस(अधर्म)में भगवदंशरूप मृत्यु उत्पन्न हुई है, जो लोक भय करनेवाली

है यों अधर्मका धर्मसे विपरीत अन्य कार्य(मृत्यु) है इससे अधर्म, भयका ही कारण है इसलिये अधर्मकी पहचान भयसे हाती है।।२५।।

छः दूसरे–

हृदि कामो भ्रुवः क्रोधो लोभश्चाधरदच्छदात्।
आस्याद्वाक् सिन्धवो मेढ्राद् निर्ऋति पाय्वपाश्रयः।।२६।।

हृदयमेंसे काम, भ्रुवोंसे क्रोध, निम्नअधर(नीचेके होंठ)से लोभ, मुखसे वाणी, लिङ्गमेंसे समुद्र, वायुसे आधार रहित मृत्यु उत्पन्न हुआ।।२६।।

काम, क्रोध, लोभ, वाणी, समुद्र और मृत्यु ये छः उत्पन्न हुए. इनमें मृत्यु आधार रहित है, क्योंकि मलका कोई आधार न होनेसे स्वतः निकल गिर जाता है जिससे स्थिर नहीं रहता है. काम, क्रोध और लोभ सृष्टि प्रलयरूप हैं तथा वाणी, समुद्र और मृत्यु मर्यादारूप हैं।।२६।।

छायायाः कर्दमो जज्ञे देवहूत्याः पतिः प्रभुः।
मनसो देहतश्चेदं जज्ञे विश्वकृतो जगत्।।२७।।

छायासे देवहूतिका पति प्रभु(समर्थ) कर्दम उत्पन्न हुआ जगत्के रचयिताकी देहसे और मनसे यह जगत् प्रकट हुआ है।।२७।।

छाया सृष्टिका ही दूसरारूप है किन्तु उसमें लौकिक देहका सम्बन्ध नहीं है अतः वह छाया पुष्टिके उपयोगी सृष्टिको उत्पन्न करनेवाली है अतः आगेके प्रकरणमें विस्तारसे कहेंगे.

स्वप्नश्छाया तमश्चैव मायाऽविद्या भ्रमास्तथा।
तिरोभूतेन हरिणा सृज्यन्ते प्रतिसर्गजाः।।का.१।।

स्वप्न, छाया, तम, माया, अविद्या तथा भ्रमको तिरोभूत हरिसे दूसरी सृष्टिमें उत्पन्न हुवे बताये हैं.

इस कारणसे ही कर्दमकी प्रसिद्धि स्त्रीके कारण हुई है इस प्रकरणमें स्त्रीकी प्रधानता है इसलिये वहां तपस्या भगवान्की आराधना स्त्रीकेलिये ही की गई है और स्त्रीकी मुक्ति की है प्रकरण भी स्त्रीका है यह सूचित करनेकेलिये कहा है (देवहूत्याः पतिः) कर्दमको इसका पति कहा है यह नाम इसलिये पड़ा है कि इसने देवोंका आमन्त्रण किया था अर्थात् देवोंको बुलाया है.

''यथा यजिर्देवमार्गे तथा स्त्री दैत्यपक्षके'' जैसे देवपक्षमें यज्ञ पूजन है वैसे दैत्योंके पक्षमें स्त्री होती हैं. अर्थात् देवोंके बुलानेका साधन यज्ञ(पूजन) है

वैसे दैत्योंको बुलानेका यद्यपि साधन स्त्री है तो भी देवहूतिमें दैत्यांशका अभाव होनेसे वह देवोंको ही बुलानेवाली है न कि दैत्योंको. 'कर्दम'केलिये (प्रभु) विशेषण देकर यह सूचित किया है कि आपका जन्म देवसृष्टिमें हुआ है जिससे आप बादमें स्त्री बन्धनसे छूटकर स्वतन्त्र होंगे, उसको(स्त्रीको) छोड़ देंगे. इस प्रकार सृष्टिका वर्णनकर उपसंहार करते हैं 'मनसः' मनसे(च) पदसे यह बताया है कि छायासे भी सृष्टि होती है. 'विश्वकृत्' इस पदसे सूचित किया है कि फिर पूर्वकी तरह अभिमान उत्पन्न हुआ, किन्तु जो अभिमान होता है उससे भी विशेष जो अहंकार कार्य दशामें उत्पन्न होता है वह अनर्थका कारण बनता है।।२७।।

इस सृष्टिकी प्रतिच्छायारूप दूसरी सृष्टिका निरूपण करनेकेलिये उपाख्यान प्रारम्भ करते हैं:

वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयंभूर्हरतीं मनः।
अकामां चकमे क्षत्तः! सकाम इति नः श्रुतम्।।२८।।

हे जितेन्द्रिय! स्वयं(ब्रह्मा)ने कामाविष्ठ होकर मनका हरण करनेवाली कोमलाङ्गी तथा कामनारहित अपनी वाणीरूप कन्याको चाहा यों सुना है।।२८।।

अविद्या प्रथमं सृष्टा अभिमानस्तथोद्गतः।
सृष्टौ च सर्वे पुरुषाः वागेका स्त्री सरस्वती ।।का.१।।

पहले अविद्या उत्पन्नकी वैसे अभिमान भी उद्भूत हुआ, तब सृष्टिमें सर्व पुरुष थे एक ही सरस्वती वाणी स्त्री थी।।१।।

लौकिकी साऽत्रविज्ञेया सा वेदेऽपि तिरोहिता।
तिरोधानप्रवृत्त्यर्थं चरित्रमिदमुच्यते।।का.२।।

यहां इस उपाख्यानमें वह सरस्वती लौकिकी अर्थात् नवीन गद्य-पद्यात्मककी अधिष्ठात्री स्वरूपवाली जाननी, वह वेदमें भी घुस गई. कैसे वेदमें घुसी तिरोहित हो गई वह चरित्र, यहां वर्णन किया जाता है।।२।।

सत्यसृष्टौ प्रवेशे हि तिरोभूता न सा भवेत्।
यज्ञात्मकोऽयं ब्रह्माऽत्र सृष्ट्याधिक्येच्छया पुनः।।का.३।।

यदि सत्य सृष्टिमें प्रविष्ट होती तो तिरोहित न होती यह यज्ञायज्ञस्वरूप ब्रह्मा है उसने फिर यहां अधिक सृष्टि करनेकी इच्छा की।।३।।

लौकिकीमपि वाणीं स गृह्णामीति मनो दधे।
ततो लौकिकभूयिष्ठं जगज्जायेत निश्चितम्।।का.४।।

इसलिये मैं लौकिकी वाणीको भी ग्रहण करता हूं यों उसका मन करने लगा, उससे निश्चय है कि विशेष लौकिक जगत् उत्पन्न होगा।।४।।

तन्नैच्छन् वैदिकाः सृष्टाः त्यागो भेदेन रूपितः।
दैत्यसृष्टौ ततः सर्वे यज्ञाः वेदाश्च लौकिकाः।।का. ५।।

ब्रह्माने जो उस समय पुत्र उत्पन्न किये थे वे वैदिक थे इस कारणसे वे सृष्टिको नहीं चाहते थे अतः उस वाणीका त्याग भेदसे(दूसरे प्रकारसे) कहा है दैत्य सृष्टिमें सब यज्ञ एवं वेद लौकिक हैं।।५।।

'न तं विदाथ' वाक्येन ते निन्द्यन्ते सदा श्रुतौ।
लौकिकी लौकिकेष्वेव सकामा न तु वैदिके।।का.६।।

इसी कारण सदा श्रुति ''न तं विदाथ'' इस वचनसे उनकी निन्दा करती है, लौकिकी वाणी लौकिककमें ही सकामा(कामवाली) होती है न कि वैदिकोमें कामवाली होती है।।६।।

उत्तमस्य तु हीनत्वं जायते शीघ्रमेव हि।
नाऽधमस्योत्तमत्वं हि कदाचिदपि जायते।।का.७।।

उत्तम तो शीघ्र ही हीन बन जाता है, किन्तु अधम उत्तम कभी भी नहीं होता है।।७।।

दयासृष्टिः द्वितीयेति दुहितृत्वं न चाऽन्यथा।
अधर्मोऽप्ययमेवाऽत्र हीनकार्येषु या रतिः।
भ्रातणां च विवाहोऽग्रे सृष्टिभेदे निरूप्यते।।का.८।।

यह दूसरी सृष्टि दया सृष्टि है इसलिये इसको पुत्री कही है, किन्तु जैसे पुत्री उत्पन्न होती है वैसे उत्पन्न पुत्री यह नहीं है यहां अधर्म इसलिये कहा है कि हीन कार्योंमें रति(इच्छा)[१] हुई है आगे भाई बहिनका विवाह दूसरी सृष्टिमें कहा है. सृष्टि भेदसे यह चरित्र भेद समझना चाहिये।।८।।

१.यह वाणी स्वरूपसे भिन्न प्रकारकी है इसलिये यहां अधर्म होता है भगवान्ने बुद्धावतारमें वेदकी निन्दा की है वह लौकिक वेदकी है दयाकी स्थापना भी लौकिक तरहकी है.

'वाचं सरस्वतीं लौकिकीं' यहां 'वाणी' सरस्वती लौकिक है जिससे 'तन्वी' कोमल अङ्गवाली सुन्दरी भी है यह लौकिक सरस्वती गद्य-पद्यरूपा है इसलिये उन गद्य-पद्योंके पढ़नेसे आनन्द देती है, 'स्वयंभूः' इस पदसे यह भाव बताया है कि इसको कुलादिकी मयार्दा नहीं है 'मनो हरन्तीं' इस पदसे कामना

होनेका कारण प्रकट किया है, अहङ्कारयुक्त होनेसे अर्थात् अहङ्कारी होनेसे मन उसके(कामके) आधीन था।।२८।।

तम् अधर्मे कृतमतिं विलोक्य पितरं सुताः।
मरीचिमुख्या मुनयो विश्रम्भात् प्रत्यबोधयन्।।२९।।

मरीचि जिनमें मुख्य है ऐसे मुनि पुत्रोंने पिताकी बुद्धि अधर्ममें गई जानकर विश्वासपूर्वक अच्छी तरह समझाने लगे।।२९।।

पिताको अर्थात् ब्रह्माको पुत्र जिनमें मरीचि मुनि मुख्य हैं. वे मुनि थे इसलिये उन्होंने मनन करनेसे जान लिया था कि इस सृष्टिका हेतु(कारण) साक्षात् अधर्म नहीं है अतः पिताको ज्ञान देने लगे, पुत्र होकर पिताको समझाना ढिठाई है, जैसे ब्रह्माने पहले इनको समझाया था वह ही ज्ञान ब्रह्माको देने लगे, कि वाणी सरस्वती जो पुत्रीवत् है उसमें मन नहीं लगाना पहले जो बड़े अपने शिष्ट पुरुष हो गये हैं उन्होंने यों नहीं किया क्योंकि यह प्रवृत्ति अपयश करनेवाली है यों इस प्रवृत्तिसे जगत्की मर्यादा नष्ट हो जायेगी।।२९।।

पहला कारण इस श्लोकमें सिद्ध करते हैं:

नैतत् पूर्वैः कृतं त्वत्र न करिष्यन्ति चापरे।
यत् त्वं दुहितरं गच्छेः अनिगृह्याऽङ्गजं प्रभो!।।३०।।

हे समर्थ! ऐसा कर्म पहले समयमें पैदा हुवे बड़ोंने नहीं किये और आगे होंगे वे भी नहीं करेंगे जो आप कन्यासे करना चाहते हैं, किन्तु समथं होते हुए भी कामको नहीं रोकते हैं।।३०।।

इस जगत्में इस प्रकारका कार्य आगेकी सृष्टि आदिके प्रवर्त्तकोंने कभी भी पूर्वमें नहीं किया है, इसके बाद इसी प्रकारका आचार(नीति) प्रारम्भ करना है, ऐसी शङ्का हो तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि दूसरे जो इसके बादमें होंगे वे भी नहीं करेंगे इससे सिद्ध है कि यह अनाचार है उस अनाचारको आप ही करते हैं जो आप स्वेच्छासे पुत्रीके पास व्यभिचारार्थ जा रहे हैं, यदि कहो कि उसने मन हर लिया है मेरा क्या दोष है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आपने समर्थ होकर भी कामको अपने वशमें क्यों नहीं किया अर्थात् मनको क्यों नहीं रोका. उसको न रोककर उसको प्रवृत्त करना अधर्म है, इसलिये अधर्म प्रवर्तक भी कहे जायेंगे यों सूचित किया है।।३०।।

इस श्लोकमें दूसरा कारण विशद(साफकर) समझाते हैं:

तेजीयसामपि ह्येतद् न सुश्लोक्यं जगद्गुरो!।
यद् वृत्तम् अनुतिष्ठन् वै लोकः क्षेमाय कल्पते ।।३१।।

हे जगद्गुरु! जिनका आचरण देखकर लोक स्वकल्याणकेलिये वह आचारण करते हैं उन तेजस्वी पुरुषोंमें भी यह(कार्य) प्रशंसाका पात्र नहीं होता है।।३१।।

स्वतन्त्र जो है वह यों कर सकता है परतन्त्र नहींकर सकता है, तेजस्वी पदसे केवल स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है परन्तु यमादिका दण्ड हटाया जाता है तो भी अपयश तो होता ही है, तेजस्वी होते हुए भी यश नहीं होता है किन्तु अपयश ही होता है.

किन्तु आप तो जगद्गुरु ही सबको शिक्षा देते हो आपके ही उपदेश वाक्योंसे दूसरोंको ज्ञान प्राप्त होता है आपके वचनसे जो ज्ञान(उत्पन्न) होता है. वह यदि स्वाभाविक नहीं होगा तो काव्यकी तरह अप्रमाणिक ही हो जायेगा क्योंकि वह उत्प्रेक्षासे उत्पन्न हुआ है, यदि आपका वाक्य सत्य होके सत्य ज्ञानका जनक होवे तो आपका आचरण इस प्रकारका नहीं होना चाहिये.

जैसे आपका वाक्य प्रमाण है वैसे ही आपका आचरण भी प्रमाण है इसलिये आपके इस आचरणको देख लोक तदनुसार वर्तन करनेसे अधर्मी होकर नष्ट हो जायेंगे अतः उनकी रक्षाकेलिये भी आपको यों नहीं करना चाहिये इसलिये 'यद्वृत्तं' उत्तरार्द्धमें कहा है, वरदानकी तरह कल्याण दान करनेसे ही सर्वदान सिद्ध हो जाते हैं, इस कारणसे आपको वह उपाय(मार्ग) दिखाना चाहिये जिस पर स्वयं चलकर क्षेम(कल्याण) प्राप्त करनेमें स्वतः लोक समर्थ हो जावें।।३१।।

मरीचि आदि पुत्रोंने अपने पिता ब्रह्माको इस प्रकार बोध दिया कि स्वतः अथवा अपने सामर्थ्यसे भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये, यदि भगवत् प्रेरणासे करता हूं यों कहें तो भगवान्को प्रार्थना करते हैं:

तस्मै नमो भगवते य इदं स्वेन रोचिषा।
आत्मस्थं व्यञ्जयामास स धर्मं पातुमर्हति ।।३२।।

जिसने अपने भीतर-स्थित इस जगत्को अपने तेजसे प्रकाशित(प्रकट) किया वह प्रभु ही धर्मकी रक्षा करनेके योग्य हैं अतः उनको प्रणाम है।।३२।।

ब्रह्मा इस कर्मसे तब रुकेंगे जब अन्तर्यामी प्रभु उसको ऐसी प्रेरणा करेंगे उस भगवान्को अवश्य इसकी प्रेरणा करनी चाहिये क्योंकि यह जगत् अपनेमें

स्थित था उसको भगवान्ने अपने तेजसे प्रकाशित किया है न कि दैत्योंकी तरह अन्धकारसे प्रकट किया है, अतः ऐसे जगत्की स्थिति धर्मसे ही होगी, अधर्मसे तो नाश ही होगा, यदि अधर्म होगा तो 'उत्पतन्नेव यो हतः' पैदा होते ही वह मरा जिसकी तरह पैदा होते ही जगत् नाश हो जावे, इससे पैदा न करना ही अच्छा है जो सत्यसङ्कल्प प्रभुने जगत् कृतार्थताकेलिये रचा है तब तो वह ही जगत्कर्ता धर्मकी रक्षा करनेकेलिए भी योग्य है अर्थात् उसको धर्मकी भी रक्षा करनी चाहिये।।३२।।

यों तीन तरहसे ब्रह्माकी स्तुतिकर क्रियासे भी उसको इस कर्ममें रुकावट डालनेकेलिये इस(ब्रह्मा)के आगे खड़े हो गये जब इस तरहकी वाणी तथा क्रियासे ब्रह्मा रुका और कर्म न कर सका तब मानसभावका त्याग किया, जिसका वर्णन इस श्लोकसे करते हैं:

स इत्थं गृणतः पुत्रान् पुरो दृष्ट्वा प्रजापतीन्।
प्रजापतिपतिस्तन्वं तत्याज व्रीडितस्तदा।
तां दिशो जगृहुर्घोरां नीहारं यद् विदुस्तमः।।३३।।

वह प्रजापतिओंका पति(ब्रह्मा) अपने पुत्र प्रजापतिओंको अपने सामने खड़ा देखकर कर्म करते हुए जब शरमाया तब उसने अपनी देहका त्याग किया, वह देह अधर्ममें प्रवृत्त होनेसे घोर थी अतः उसने(शरमने) कोहरेका रूप धारणकर लिया ओर दिशाओंमें रहने लगा।।३३।।

'गृणतः' ब्रह्माकी तबतक (वह पुत्र) स्तुति करता ही रहा जब तक इस कर्मसे(ब्रह्मा) रुका नहीं था, कर्दमादि पुत्रोंको प्रजापति कहकर यह सूचित किया है कि सृष्टिकी रचना कैसी होगी? यह चिन्ता न करो क्योंकि तुम भी प्रजापति हो इसलिये प्रजा रच सकोगे इन प्रजापति पुत्रोंका पालन भी आवश्यक है यह ज्ञान करानेकेलिये ब्रह्मा प्रजापतिओंका पति कहा गया है 'तन्वं' पदका आशय है कि यह रूप देहसे ही उत्पन्न हुआ है. 'व्रीडितः' कहनेका भावार्थ है कि लोकमें निन्दित कर्म(वस्तु)का त्याग लज्जाके कारण ही करना पड़ता है उस शरीरका त्याग किया तो उस शरीरने दूसरी देह धारणकर ली जिसको नीहार(कुहरा) कहते हैं, उस(नीहार)को श्रोत्रोंकी अभिमानी देवक्त दिशाओंने ग्रहणकर लिया, दिशाओंने नीहारको क्यों ग्रहण किया? जिसका भावार्थ बताते हैं कि ''वाग्बोधिकाः ताः सर्वत्र वाचा सह तां योजयिष्यन्ति'' अतएव ''**न तं विदाथ**''

इति श्रुतिः अतएव 'श्रुत्यर्थविदः तामेव तनुं नीहारमिति विदुः' अर्थः वाणीसे ज्ञान करानेवाली वे दिशाओंके अधिष्ठात्रा देवताओं सर्वत्र अधर्मकी बुद्धिको उसके साथ मिलाप करायेंगें इसलिये ही भगवती श्रुतिने कहा है कि "**न तं विदाथ**" उसको आप नहीं जानते हैं, इसलिये श्रुतिके तात्पर्यको जाननेवाले उस शरीरको ही नीहार कहते हैं वा जानते हैं।।३३।।

यों सृष्टिका प्रसंग होनेसे प्रतिसृष्टिको भी कहकर राजस सृष्टिमें दो भेद हैं यों बताकर सात्त्विक सृष्टिमें तीन भेद हैं यों 'कदाचित्' श्लोकसे लेकर अध्यायकी समाप्ति तक बताते हैं:

आध्यात्मिकास्तु श्रुतयः शब्दब्रह्म तु दैविकम्।
धर्मप्रवर्तकाः सर्वे भूतानि स्मरणात् पुनः ।।का.१।।

श्रुतियां आध्यात्मिक है शब्दब्रह्म आधिदैविक है और धर्म प्रचार करनेवाले वेदार्थ स्मरण अर्थात् वेदोंके अक्षरोंके अर्थका ही स्मरण करानेवाले वा करनेवाले आधिभौतिक वेदरूप हैं कारणकि वेदके तात्त्विक आधिदैविक स्वरूपको नहीं जानते हैं।।१।।

वहां पहले जगत्की उत्पत्तिकेलिये आध्यात्मिक वेदोंका ध्यान किया, अर्थात् ध्यानसे वेदोंके आध्यात्मिकरूपको देखा, तब वे वेदसृष्टिकी रक्षाकेलिये भगवदिच्छासे प्रकट हुए, यों इस श्लोकमें कहते है:

कदाचिद् ध्यायतः स्रष्टुः वेदा आसंश्चतुर्मुखात्।
कथं स्रक्ष्याम्यहं लोकान् समवेतान् यथा पुरा।।३४।।

किसी समय ब्रह्मा यों ध्यान करने लगा कि इकट्ठे हुए इन लोकोंको आगेकी तरह मैं कैसे रचूंगा? तब उसके चारों मुखोंसे वेद प्रकट हुए।।३४।।

'स्रष्टुः' ब्रह्माके (ध्यायतः)ध्यान करते हुये ध्यानमें ही पहले वेददर्शन हुए, अनंतर चारों मुखोंसे प्रकटे 'कदाचित्' पदका तात्पर्य है कि वेद प्रत्येक कल्पमें तो प्रकट नहीं होते किन्तु कौनसे कल्पमें कब प्रकटे वह भी कहा नहीं जाता है. वेदके प्रकट हो जानेका कारण ब्रह्माको यह चिन्ता है कि सृष्टि कैसे रची जायगी? तब ध्यान करने लगा कि सृष्टि कैसे रचूं? सृष्टिमें तो सब भूतपदार्थ मिले हुए हैं इनको सुलझाना तो असाधारण गुणोंसे ही हो सकता है जैसे खम्भे आदि वस्तुका पुरुष आदि तथा टेढ़े कोटरोंसे पृथक् विवेचन करना पड़ता है, वैसे ही श्रुतिमें कहे हुए लक्षणोंसे इन मिले हुए पदार्थोंका विवेचन किया जा सकेगा

इसलिये वेद उत्पन्न हुए हैं।।३४।।

ब्रह्माने ध्यानकर, अंगों सहित वेदोंको अर्थ सहित प्रकट किया यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

चातुर्होत्रं कर्मतन्त्रम् उपवेदनयैः सह।
धर्मस्य पादाश्चत्वारः तथैवाश्रमवृत्तयः।।३५।।

नय सहित उपवेद, एवं होम करनेवाले चारोंके कर्मका तन्त्र(विस्तार) धर्मके चार पाद तथा चार आश्रमोंकी वृत्तियां भी मुखसे उत्पन्न हुई।।३५।।

यज्ञकर्ममें १.ब्रह्मा २.होता ३.अध्वर्यु और ४.उद्गाता ये चार होम करनेवाले होते हैं अतः ये होमके साधन हैं.

१.अनुमति(अनुज्ञा) २.शस्त्र ३.होम और ४.स्तोत्र ये चातुर्होम कर्म हैं. 'तन्त्र' पदका तात्पर्य है उस(कर्म)का विस्तार.

आयुर्वेदादि उपवेद हैं. 'नय' पदसे नीतिशास्त्र अथवा पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र. धर्मके सत्य, तप, दया और दान ये चार पाद हैं. चार आश्रमोंकी चार वृत्तियां हैं. ये सर्व चार मुखोंसे उत्पन्न हुए हैं इसलिये इनका सबसे सम्बन्ध सर्वत्र सदैव ही है।।३५।।

'प्रमादाद् वेद' वेद कदाचित् प्रमादसे ही उत्पन्न हुए होते तो उनमें कहे हुए नियमों पर चलनेसे इष्टफलकी प्राप्ति न होती. वह तो होती ही है, अतः ब्रह्माने ही अन्तःकरणमें स्फुरित वेदोंको मुखसे बाहर निकाला यों कहना चाहिये, इस पर भी इस(ब्रह्मा)ने पहले क्रमसे व अन्य क्रमसे वेद रचे यों भी कहना चाहिये, इस प्रकार कहनेसे वेदोंका क्रम सिद्ध हो, अन्यथा क्रमानुसार क्रमकी कल्पना करनेसे यजुर्वेद पहला होगा. यदि कर्म करानेवाले प्रधानकी मुख्यतासे क्रमकी कल्पना की जावेगी तो ऋत्विक्का अथर्वांगिरस वेद प्रथम होगा, इससे क्रमका अन्यथा हो जायेगा, वैसे उपवेदादिका अध्ययन भी अन्य प्रकारसे हो जायेगा इस कारणसे विदुर, वेदोंका क्रम निम्न श्लोकसे पूछता हैं:

विदुरः उवाच
स वै विश्वसृजाम् ईशो वेदादीन् मुखतोऽसृजत्।
यद्यद् येनासृजद् देवः तन् मे ब्रूहि तपोधन!।।३६।।

विदुर कहने लगा कि ब्रह्मा निश्चयसे विश्व रचनाकर्त्ताओंका स्वामी है. भक्त वेद आदि सर्व उसने मुखसे उत्पन्न किये, हे तपोधन! देव(ब्रह्मा)ने जिससे

जो–जो उत्पन्न किया वह सर्व मुझे कहिये।।३६।।

श्लोकके पूर्वार्द्ध ''स वै विश्वसृजामीश इति'' 'मुखतोऽसृजत्' तक अनुवाद है अर्थात् मैत्रेयजीने जो कहा है वह ही कहके बताया है. इस अनुवादमें हेतु कहा है. विदुरजीने क्या पूछा है? यह 'यद्यत्' पदसे कहा है ब्रह्मा देव है, वेदने उसका प्रतिपादन किया है जिसका सारांश है कि इसमें सृष्टि रचना प्रयोजन है और यह निर्दोष है यों बताया है.

विदुरने 'मे' पदसे यह स्पष्ट किया है कि किसको बताऊं कदाचित् ऐसी ब्रह्माके मनमें शङ्का होती हो, तो कह दिया कि मुझे(विदुरजी भी देव हैं अतः उसको बतानेमें दोष नहीं.) बताओ. इसे तपोधन विशेषणसे क्या बताया है. जन्मकर्म आदिका आपको पूर्णज्ञान है इससे सर्वज्ञ होनेसे मुझे भी कहोगे।।३६।।

इस श्लोकमें वेदोंका क्रम तथा जिस मुखसे जो वेद प्रकटा वह कमसे कहते है.

मैत्रेयः उवाच

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात्।।३७।।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार वेदोंको एवं शस्त्रमिज्या, स्तुति, स्तोम और प्रायश्चित इनको पूर्व आदि मुखसे क्रमपूर्वक प्रकट किया।।३७।।

देवता, द्रव्यका सम्बन्ध, देवताका स्तोत्र और यज्ञ करनेकी अनुमतियों यज्ञोंका अर्थानुरूप क्रम है पूर्व आदि मुखक्रम तो पाठके करनेकेलिये उपयोगमें लाया जाता है, उन चारोंका किस तरह उपयोग करना वह उत्तरार्द्धमें इस प्रकार कहते हैं–शस्त्र होताका होता है, 'इज्या' यज्ञ कराना अध्वर्युका काम है अतः यजुर्वेदका कृत्य है, उद्गाताका कार्य देवताकी स्तुति करना है वह सामवेदका कृत्य है. प्रायश्चित कराना(भूल होने पर प्रायश्चित कराना) ब्रह्माका कार्य है. यह प्रायश्चित कार्य आश्वलायन सूत्रसे होता है इसी तरह प्रयोजनसहित वेदोंकी पूर्वादिमुखसे ब्रह्माने रचना की।।३७।।

वेदमें उपयोगी पदार्थोंको कहनेकेलिये पुराणोंकी रचना की यों इस श्लोकमें बताते हैं:

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदम् ईश्वरः।

सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः।।३८।।

सबका कार्य पूर्ण हो ऐसा देखनेवाले ईश्वर(ब्रह्मा)ने सकल मुखोंसे इतिहास तथा पुराणरूप पांचवां वेद प्रकट किया।।३८।।

इतिहास तथा पुराण सबकेलिये उपयोगी होंगे. अतः इसमें उत्पत्ति केलिये स्थानके क्रमकी आवश्यकता न समझकर सर्व मुखोंसे सबको प्रकट किया. 'सर्वदर्शन' विशेषणका भावार्थ प्रकट करते हुये आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि समस्त वर्ण, अवर्ण स्त्री, शूद्र, द्विज, बन्धुओंका भी कार्य सिद्ध हो यों देखते हुये(विचारकर) पुराणकी रचना की यह विचार करने योग्य है।।३८।।

अग्निहोत्रके चार प्रकारके होम करनेके कर्म आदि भी कहे हैं अतः उनकी उत्पत्तिका भी क्रम इस श्लोकमें कहते हैं:

षोडश्युक्थौ पूर्ववक्त्रात् पुरीष्यग्निष्टुतावथ।
आप्तोर्यामातिरात्रौ च वाजपेयं सगोसवम्।।३९।।

पूर्वमुखसे षोडशी और उक्थ, पश्चात् पुरीषी और अग्निष्टुत तथा आप्तोर्याम एवं अतिरात्र और गौसव सहित वाजपेय उत्पन्न हुए।।३९।।

'अप्यग्निष्टोमे राजन्यस्य गृह्णीयात्'(यह सर्वदर्शन पदका तात्पर्य है.) अग्निष्टोम यज्ञमें क्षत्रियका प्रहण करना यों श्रुतियोंने कहा है अर्थात् 'अग्निष्टोम' यज्ञ करनेका अधिकार क्षत्रियको है. ''न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्ति'' षोडशी नामका कोई यज्ञ नहीं है फिर उसको पहले क्यों कहा? पहले तो अग्निष्टोमको कहना चाहिये था? इस शंकाका समाधान करते हैं कि 'षोडशी'को प्रथम कहनेका कारण यह है कि वह सबकेलिये खास उपयोगी है. यद्यपि अग्निष्टोम एवं षोडशी दोनों सर्वोपयोगी है तो भी षोड़शीको पहले कहा गया है कि दोनों सर्वोपयोगी होनेसे पूर्वमुखसे उत्पन्न किये हैं. 'अग्निष्टुत्' 'अग्निष्टोम' है. 'पुरीष' जिसमें उसको पुरीषी कहते हैं, 'पुरीष' शब्द 'रा' अर्थ वेदमें 'जल' है अर्थात् जिसमें जल विशेष वह पदार्थ 'पुरीषी' है उसकी(पुरीषीकी) अग्नियां इकट्ठी हुई हों, 'पुरीषी' और 'अग्निष्टोम' समासान्त पद है आप्तोपर्याय अतिरात्रका ही प्रकार है. विशेष सहित होनेसे अतिरात्र है. वाजपेय भी महान् फलदाता स्वतन्त्र यज्ञ है. 'गोसव' गौओंकेलिये यज्ञ ये दो 'वाजपेय-गोसव' भी साथमें प्रकटे हैं।।३९।।

इस श्लोकमें कहते हैं कि धर्मके ये विद्यादि चार पाद हैं:

विद्या दानं तपः सत्यं धर्मस्येति पदानि च।

आश्रमांश्च यथासंख्यम् असृजत् सह वृत्तिभिः।।४०।।

विद्या, दान, तपस्या और सत्य ये चार धर्मके चरण तथा संख्यानुसार वृत्ति(आजीविका) सहित आश्रम उत्पन्न किये।।४०।।

विद्या, ज्ञान, दान, तुला, पुरुषादि दान, तप(कृच्छादि), सत्यं(सत्य बोलना) में धर्मके चार चरण तो हैं किन्तु 'पदानि'(बहुवचन) 'च' कहकर पृथक् कहनेका आशय है कि दूसरे भी धर्मके चरण हैं क्योंकि वे भगवद्रूप है अतः उनकी गणना परिचित नहीं होती है चार वृत्तियोंके साथ आश्रम मुखसे उत्पन्न हुए, यों बताया है।।४०।।

आश्रमोंमेंसे ब्रह्मचारी एवं गृहस्थीकी ४ वृत्तियां इस श्लोकमें कहते है:

सवित्र्यं प्राजापत्यं च ब्राह्म्यं चाऽथ बृहत्तथा ।

वार्ता सञ्चयशालीन–शिलोञ्छ इति वै गृहे।।४१।।

सावित्र्यं, प्रजापत्यं, ब्राह्म्यं और वैसे ही बृहत् ये चार वृत्तियां ब्रह्मचारीकी हैं गृहस्थाश्रमकी वार्ता, संचय, शालीन, शिक्षा और शिलोञ्छ ये चार वृत्तियां है।।४१।।

जिस बालकने यज्ञोपवीत धारण किया है उसको तीन रात्रि मौन धारणकर गायत्रीकी शिक्षा लेनी है ब्रह्मचारीके इस समयको सावित्र्य कहा जाता है, अनन्तर एक वर्ष तक वेदाव्रत रखना है जिसको प्रजापत्य कहते हैं. वेद पढना, इसको 'ब्राह्म्यं' कहते हैं और बृहत् अर्थात् ब्रह्मचर्य, पालन ये ब्रह्मचारीकी चार वृत्तियां(कर्त्तव्य) हैं अब गृहस्थीकी चार वृत्तियां कहते हैं वार्ता(चार प्रकारकी आजीविका) हैं क.खेती, ख.गोपालन ग.व्याज और घ.व्यापार. तथा शिलोञ्छ= 'शिला' खेतीके खलों खलियानोंमेंसे गिरे हुये धानको हाथसे एक–एक दानेको चुन लेना २.संचय=अध्यापन आदिसे प्राप्त धनको इकट्ठा करना, ३.शालीन= भिक्षा करना ४.उञ्छ=उञ्छन गृहस्थियोंके घरोंमें धान्यके साफ करनेके स्थान पर गिरे हुए धानको ले लेना।।४१।।

वानप्रस्थी एवं सन्यासियोंकी ४ वृत्तियां इस श्लोकमें बताते हैं:

वैखानसा वालखिल्यौदुम्बराः फेनपा वने।

न्यासे कुटीचरः पूर्वं बह्वोदो हंस–निष्क्रियौ।।४२।।

वानप्रस्थमें १.वैखानस, २.वालखिल्य, ३.औदुम्बर और ४.फेनपा ये चार वृतियां हैं एवं सन्यासमें १.कुटीचक २.बह्वोद ३.हंस और ४.निष्क्रिय ये चार

वृतियां हैं।।४२।।

ब्रह्माने वैखानससूत्रमें जिन भगवद्भजनादि कर्मोका उपदेश दिया है उन कर्मोंको वनमें रहकर जो करते है वे 'वैखानस' कहे जाते, वे दैवसे(भाग्यवश) प्राप्त आजीविका पर जीवन बिताते हैं तपस्वियोंको(वालखिल्य) कहा जाता है पांच अग्नि आदिके साधक हैं सूर्यसे 'पकाये हुये अन्न'को खानेवाले होते है वनमें ही रहते हैं. वनका ही अन्न लेते हैं, जो नख लोम(केस) कटाते नहीं है. मलधारी ही होते हैं वे, औदुम्बर कहे जाते हैं वे वृक्षोंके फल ही खाकर जीवन व्यतीत करते हैं नियम पूर्वक अरण्यवासी ही रहते हैं. जो वायु और जलका ही भक्षण करते है वे(फेनप) कहलाते हैं तपो वनादिमें निवास तो पूर्व सिद्ध है ही.

सन्यासियोंकी चार वृत्तियां कहते हैं 'न्यास' पदका तात्पर्य संन्याससे है सन्यासमें पहले कुटीचरका निरूपण करना हैं सन्यासमें आयुके भागके क्रमसे आश्रमचतुष्टय पक्षमें ७५वर्षकी आयुके बाद नित्य संन्यास होता है जिससे ब्राह्मण्य, आयुष्य पहलेके आश्रमोंके अनन्तर करनेका नियम है इस 'नित्य संन्यास'में जिस वक्त ही ज्ञान हो जावे उस वक्त सन्यास लेना यह प्रयोजक नहीं है ३६वर्षं ब्रह्मचर्य पालन, यह वेदाध्ययन काल कालपक्ष भी वैकल्पिक है द्विज, आयुका चतुर्थ भाग गुरुके गृहमें रहे दूसरा भाग विवाहकर गृहमें रहे मनुके इस वाक्यानुसार प्रत्येक आश्रमका समुदायपक्ष निर्णय किया हुवा है इस पक्षमें समुदायपक्ष नित्य है और चारों ही आश्रम क्रमसे ब्राह्मण ही करे यों ही यहां ब्रह्माने सिद्ध किया है प्रत्येकपक्ष सकाम है. कितने ही अधिकारभेदसे कहते है. साधारणोंको चार ही है जो ऊर्ध्वरिता हैं भक्त हैं उनकेलिये ब्रह्मचर्य सदाकेलिये है उनकेलिये यह एक ही आश्रम ब्रह्मचर्य है इसी तरह जो सर्वथा वैराग्यरहित हैं कामनाएं विशेष हैं उनकेलिये गृहस्थाश्रम ही एक आश्रम है. गृहस्थाश्रममें रहकर परोपकारी होके यथाशक्ति वेदाध्ययनकर शास्त्रविधिके अनुसार विवाहकर जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र धारण करें बहुत क्या कहा जावे, शरीर रहे तब तक उनकेलिये अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा है आपस्तम्बकारने सिद्ध किया है कि सर्व आश्रमोंमें बिना उद्वेगके फल प्राप्त होता है अतः सर्व आश्रम समान है.

प्रजाकी उत्पत्तिकेलिये जो निन्दाके वाक्य हैं वे नैतिक ब्रह्मचारियोंकी प्रतिष्ठा प्रशंसार्थ ही है, यों नहीं माना जायेगा तो श्रुतियोंका परस्पर विरोध होगा, ब्राह्मणोंको एकदेशसे भी श्रुतियोंका विरोध नहीं करना चाहिये, इसी तरह

वानप्रस्थ आश्रममें शक्तिके अनुसार ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदका अध्ययनकर देह रहे तब तक वनमें निवास तथा तपस्या करनी चाहिये.

संन्यासमें भी पूर्वजन्ममें आयुष्यके भागके क्रमसे संन्यास किया और ज्ञान प्राप्त किया जिससे वैराग्य परिपक्व हो निरन्तर आत्म चिन्तन करने लगा, किन्तु भगवान्में प्रेम न होनेसे वह सन्यासी फिर जन्म लेता है किन्तु सत्पुरुषों(भक्तों)के गृहमें उत्पन्न होता है, देहादिसे सम्बन्ध होनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान छिपा हुआ सा हो जाता है उस दूसरे जन्ममें जब यज्ञोपवीत संस्कार कराके वेदाध्ययन करता है तब फिर पूर्वज्ञान खुलता है तब ''यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'' इस श्रुतिकी आज्ञा उसका कर्त्तव्य होता है, यदि उपनयनसे पूर्व ही पूर्वजन्मका ज्ञान वैराग्य जागता है तो वह अनाश्रमी कहा जाता है जैसे सनकादिक अथवा शुकदेवादि वह अनाश्रमों वेदमें और भगवत्शास्त्रमें निंदित हैं. इस कालसे ही ब्रह्माने सनकादि पर क्रोद्ध किया था, ब्रह्माके पुत्र होते हुए भी मनुष्य भावको प्राप्त हो गये. अनन्तर दैत्यत्व भी प्राप्त किया, प्रह्लाद रूप हुए, उस जन्ममें भी क्लेशका अनुभव किया. शुकदेवजीने इसको बाधक समझकर, पूर्वजन्म ज्ञानादि सिद्ध थे तो भी अपने दो रूप(देह) धरकर एकसे ब्रह्मचर्य धारणकर वेद पढे फिर गृहस्थाश्रममें रहकर पुत्र उत्पन्न किये, फिर दोनों रूपोंको एक कर देहपात पर्यन्त भगवत्परायण रहे, वह यहां मर्यादा अर्थात् वैदिकमार्गमें नहीं गिना जाता है. इन आश्रमोंमें जो आयुके मार्गके क्रमसे चारों आश्रम पलते हैं वह वनवासके अनन्तर पुत्रोंकी बनाई हुई कुटियामें रहता है और उसका पोषण भी पुत्रादि करते हैं. उस समय आत्मचिन्तन ही करता रहता है उसको कुटीचर कहा जाता है जो वनस्थ होके पुत्रादिकी अपेक्षा न कर स्वतंत्रतासे यदि संन्यास करे तब वह संन्यासी 'बह्वोदक' कहलाता है यदि वह निरपेक्ष हो किसी तीर्थ विशेष पर रहता है तो उसको तीर्थवासी कहा जाता है. इसमें वनमें रहनेके दो पक्ष हैं. एक स्त्री सहित और अग्निहोत्रकी अग्नि भी साथमें लेकर वनमें जावे तब आगे जाकर पुत्रोंके पास स्त्रीको बिठाकर स्वयं कुटीचर होवे, यदि पहले ही भार्या आदिका त्यागकर वनवासी बने तब जब तक तपस्या बन सके तब तक वह करे फिर संन्यास लेके 'बह्वोदक' संन्यासाश्रम धारण करें जो ब्रह्मचर्यके बाद ही पूर्वोक्त प्रकारसे कहे हुए ज्ञानादि युक्त होवे तो तब संन्यासमें हंसाश्रमी बने. सकल तीर्थ पर भ्रमण करे किन्तु निर्पेक्ष हो एक ही रात एक स्थान पर रहनेकी विधियां पाले. उस हंसाश्रमी

केलिये मौन(वाग्दण्ड) इच्छारहिततया वायु(संयम), वर्षा एवं तापको सहना, ये तीन दण्ड नित्य हैं. पूर्वजन्ममें सिद्ध ज्ञानवाला हंस होकर देह त्यागता है तो वह दूसरे जन्ममें योग भ्रष्ट ही महत्पुरुषोंके गृहमें उत्पन्न हो द्विजाति संस्कार प्राप्तकर जड़भरत यदि रहे तो वह निष्क्रिय कहा जाता है उसने वस्त्रोंका भी त्यागकर दिया है. उसका कौनसा आश्रम है वह पता नहीं लगता है. वह ऋषिदेवजीके समान आचरणवाला होता है लोक सबसे अर्थात लौकिक तरह उसका पतित्व (पतितपन) देखनेमें आता है, जिससे वैसे ज्ञानादि सिद्ध न हो ऐसे ही न पुरुषको उसके(ऋषभके) धर्मोका आचरण नहीं करने चाहिये, इस कारणसे ही अधिकारकी व्यवस्थानुसार संन्यासकी चार वृत्तियां(प्रकार) कही है यदि उत्तम वृति न कर सके तब पहले-पहले कुटीचर होकर क्रम से(धीरे-धीरे) निष्क्रिय बने, यह ही शास्त्रका सिद्धान्त है, वैसे पूर्वाश्रमों(ब्रह्मचर्यादि आश्रमों)में भी पहले उत्तमगतिको प्राप्त करें अथवा दूसरे आश्रमोंमें उत्तमगतिको प्राप्त करे।।४२।।

इस तरह उपवेद और नय सहित उपवेदोंका निरूपणकर अब इस श्लोकमें कर्म पृथक्-पृथक् प्रकारकी नीतियां कहते हैं:

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तथैव च।
एवं व्याहृतयश्चासन् प्रणवो ह्यस्य हृद्गतः।।४३।।

आन्वीक्षिकी, तीन वेद, वार्ता और दण्डनीति इसी तरह प्रकट हुये तथा व्याहृतियां प्रकट हुई इनके हृदयसे प्रणव उद्भूत हुआ।।४३।।

अन्वीक्षणको अन्वीक्षा कहा जाता है. उसके(अन्वीक्षाके) संबंधवाली नीतिको मर्यादानीति कहते हैं वह मर्यादानीति अन्वीक्षिक हैं. यह नीति ब्राह्मणोंकी ही है उसमें भी उत्तम आश्रमवालोंकी ही यह नीति है. वेदत्रयी अर्थात वेदानुसार व्यवहार करना चाहिये जैसे यज्ञ करने चाहिये. द्रव्यसे यज्ञ क्रिया करना ही क्षत्रियोंका मुख्य कर्म है. वैश्योंकी आजीविका मुख्य चार प्रकारसे की जाती है. जैसे १.खेती २.गौरक्षा ३.व्यापार तथा ४.व्याजसे होती है. 'दण्डनीति' दण्ड करनेकी नीति(प्रकार) यद्यपि यह राजधर्म है तो भी शूद्रोंमें ही सर्वथा दण्ड किया जा सकता है अतः उनमें ही यह क्रिया स्थित है(देखी जाती है) इसी तरह नीति चार प्रकारकी है आन्वीक्षिकी अर्थात आत्मविद्या, त्रयी(वेदत्रय) और यज्ञ उसकेलिये है अतः फिर नीतिमें नहीं कहने चाहिये. तो भी उनका लौकिकमें भी ब्राह्मणादिकोंको अथवा परम हंसादिकोंको आन्वीक्षणादि(आत्मविद्या) करनी

चाहिये न कि सर्वथा लौकिक है यों इसलिये ही नीतिशास्त्रमें भी इसको (अन्वीक्षिकीको) कहा है.

'तथैव च'का तात्पर्य है कि यह आन्वीक्षिकीकी(आत्मविद्या) भी पूर्वादि मुखसे प्रकट हुई है इसी तरह वेदादि आध्यात्मिक होनेसे सात्विक बुद्धिमें उत्पन्न हुये यों कहकर शब्दब्रह्म स्वरूप आधिदैविक है यों निरूपण करनेकेलिये, पहले [1]व्याहृतियोंकी उत्पत्ति कहते हैं 'एवं व्याहृतियों' यद्यपि वेदमें ही गायत्री व्याहृतियों और प्रणवको निरूपण किया गया है, समष्टि और व्यष्टि भेदसे व्याहृतियां [2]चार हैं. सात व्याहृतियां(भू भूवः स्वः महजनः तपः सत्यं) कितनों ही का मत है कि ये ऊपरके सातलोक हैं. इनको ही व्याहृतियां कहा है, इस पक्षमें भी तीनोंकी समष्टि आठवीं है, 'च' पदसे यह सूचित किया है कि प्रथम प्रणव भी प्रकट हुआ है, वह चार प्रकारका न होनेसे केवल वह एक ही ब्रह्माके हृदयमें रहा और हृदयसे ही उद्भूत हुआ(निकला). अतः ब्रह्माने प्रणव(ॐ)का उच्चारण मुखसे नहीं किया किंतु ''**ॐकारश्चाऽथ शब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा, कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ**'' अर्थः 'ॐकार' और 'अथ' शब्द ये दोनों पहले ब्रह्माके कण्ठको छेद(खोल)कर बाहर निकले, इससे दोनों मांगलिक हैं. इस वाक्यके अनुसार प्रणव स्वयं ही हृदयसे प्रादुर्भूत हुआ है।।४३।।

१.'व्याहृति' पदका अर्थ शब्द भी होता है.

२.भू, भूवः और स्वः ये तीन व्याहृतियां, इन तीनोंके समूहको यहां चौथी व्याहृति कहा है. पूर्वादि मुखसे ये चार व्याहृतियां प्रकटी हैं.

सात छन्दोंकी उत्पत्ति निम्न श्लोकोंसे कहते हैं:

तस्योष्टिणगासील्लोमभ्यो गायत्री च त्वचो विभोः।
त्रिष्टुम्मांसात्स्नुतोऽनुष्टुब्जगत्यस्थ्नः प्रजापतेः।।
मज्जायाः पङ्क्तिरुत्पन्ना बृहती प्राणतोऽभवत्।।४४।।

उस समर्थ प्रजापतिके लोमोंमेंसे उष्णिक् त्वचामेंसे गायत्री, मांसमेंसे त्रिष्टुप्, स्नायुओंमेंसे अनुष्टप्, अस्थियोंमेंसे जगती, मज्जामेंसे पंक्ति प्राणमेंसे बृहती प्रकटे इसी तरह प्रजापति सर्वांग विशेषसे छन्दोंकी उत्पत्ति हुई।।४४।।

चर्ममेंसे उद्भूत(निकले हुए लोमो-रुओं)मेंसे उष्णिक् छन्द प्रकटा, ये निकले हुए सात छन्द न्यून तथा अधिकभावको प्राप्त हुए उनमें उत्पत्तिसे गायत्री और बृहती श्रेष्ठ कहे गये हैं.

इन छन्दोंमेंसे २४ अक्षरवाला 'गायत्री', २८ अक्षरवाला उष्णिक्, ३२ अक्षरवाला अनुष्टुप् , ३६ अक्षरवाला बृहती और ४० अक्षरवाला पंक्ति, ४४ अक्षरवाला त्रिष्टुप् है, ४८ अक्षरवाला जगती छन्द है. इन छन्दोंमें गायत्री छन्द तीन पादवाला है, दूसरे चतुष्पाद(चार पाद)वाले हैं. इनमें उष्णिक् छन्दके पाद सात-सात अक्षरोंके हैं इसलिये पहले कहनेमें आया है अथवा इसमें उत्पत्तिमें विचार कर्तव्य है. इसमें ब्रह्माके शरीरमें धातुओंके स्थूल-सूक्ष्मभेदके कारण छन्दोंके भी स्थूल-सूक्ष्मभेद हुवे हैं. उत्पत्तिमें क्रम तो धातुओंके क्रमसे ही हुआ है, उत्पत्तिके विचारमें सोम ले जानेके कारण गायत्रीकी प्रतिष्ठा(प्रसिद्धि) हुई है और उत्पत्तिके विचार करने पर यद्यपि स्वल्पाक्षर(कम अक्षर) होते हुए भी बृहताने सकल छन्दोंसे महत्वपूर्ण होनेसे 'बृहती' नामको धारण(प्राप्त) किया है. ''स बृहतीमेवास्पृशत्'' इत्यादि श्रुतिमें बृहती छन्दका माहात्म्य प्रतिपादन किया गया है उसकी उत्पत्ति प्राणसे कही है और इससे सर्वोपरि है. हड्डियां बहुत होती हैं उनसे जगती छन्दकी उत्पत्ति हुई है उनकी अपेक्षा मांस कम(हीन) होनेसे उससे त्रिष्टुप् छन्दकी उत्पत्ति हुई है उससे मज्जा हीन है इसलिये उससे 'हीन' छन्द पंक्तिकी उत्पत्ति हुई है मध्यमें बृहतीका निरूपण किया ही है, स्नायुओंसे अनुष्टुप् छन्दकी उत्पत्ति हुई है त्वचासे लोमों(रूएं)की अधिकता स्पष्ट दीखती है और बाहर ही स्थित है अतः उनमेंसे उत्पन्न 'उष्णिक' छन्दको प्राथमिकता दी है मज्जाकी अपेक्षा प्राण भीतर स्थित है अतः 'बृहती' छन्द अन्तमें कहा है।।४४।।

इसी तरह शब्दब्रह्मकी सामग्रीका निरूपणकर अब इन निम्न श्लोकोंमें देहका वर्णन करते हैं:

स्पर्शस्तस्याऽभवज्जीवः स्वरो देह उदाहृतः।
ऊष्माणम् इन्द्रियाण्याहुः अन्तस्था बलम् आत्मनः।
स्वराः सप्त विहारेण भवन्ति स्म प्रजापतेः।।४५।।

शब्दब्रह्मका जीव 'स्पर्श' वर्ण(अक्षर) हुए, स्वर वर्ण देह हुई अष्टम (अक्षर) इन्द्रियां हैं अन्तस्थ वर्ण देहमें शक्तिकी है. इसी प्रकार प्रजापतिके विहारार्थ सप्त स्वर शब्दब्रह्मके खिलौने हैं अथवा बिहारसे(संगीतके) सात स्वर उत्पन्न हुए।।४५।।

शब्दब्रह्मके जीवका वर्णन करते हुये कहते हैं कि(व्याकरणमें) वर्णोंमें जो २५व्यंजन 'क'से 'म' तक 'स्पर्श' कहे जाते हैं वे इकट्ठे कर शब्दब्रह्मका

जीवरूप कहलाता है कि 'मैं' शब्दब्रह्म हूं 'अ' से लेकर 'अः' तक जो १६ अक्षर स्वर हैं वे शब्द मिलकर ब्रह्मकी देह कहलाती है या मानी गई है यों प्रमाण है, एवं जो अक्षर 'श ब स ह' हैं ये चार उष्मवर्ण है वे शब्दब्रह्मकी चार इन्द्रियां कहलाती हैं यों भी प्रमाण है, और अक्षर 'य र ल व' ये चार अन्तःस्थ चार अक्षर हैं वे उस देहका बल(शक्ति) है. इसी तरह शब्दब्रह्मकी जो चतुर्मूर्त्ति है उसका स्वरूप बताया जाता है.

अब उदात्त, अनुदात्त और स्वरितरूप बाह्य क्रियाका वर्णन करते हुए विहारसे उनकी उत्पत्ति कही जाती है. 'कार्य और कारण'का परस्पर अभेद होता है, अतः प्रजापतिके विहार करते हुए गतिकी चालसे 'षड्ज' आदि सात स्वर उत्पन्न हुए, इससे प्रजापति एवं शब्दब्रह्मका अभेद बताया है।।४५।।

ब्रह्मा एवं शब्दब्रह्मका अभेद सूचित करते हुए इस श्लोकमें यों बताते हैं कि ब्रह्माने शब्दब्रह्मरूपसे ही जगत् उत्पन्न किया है, यों कहकर विषयका उपसंहार करते हैं:

शब्दब्रह्मात्मनस्तस्य व्यक्ताव्यक्तात्मनः परम्।
विभाति ब्रह्म विततं नानाशक्त्युपबृंहितम्।।४६।।

व्यक्त(प्रकट) और अव्यक्त(अप्रकट) आत्मा(स्वरूपवाले) उस शब्दब्रह्मात्माका विस्तृत स्वरूप, अनेक प्रकारकी शक्तियोंसे भरपूर स्वरूप परब्रह्म प्रकाश रहा है।।४६।।

शब्दब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति कैसे होगी? क्योंकि जगत्के 'शब्द' और 'अर्थ' ये दो रूप हैं. ब्रह्माने 'अर्थ'रूप(दृश्य पदार्थरूप) जगत् बनाया है यद्यपि ब्रह्माने अर्थरूप जगत् बनाया है तो बिना नामके वह कैसे प्रकाशित हो? उसमें नाम भी है इसलिये ही कहा है कि 'विभाति ब्रह्म' यह ब्रह्म ही प्रकाश रहा है ब्रह्म बृहत् होनेसे विस्तृत हुआ है और ब्रह्म 'ब्रह्मत्' होनेसे अनेक शक्तियोंवाला है बिना शब्दब्रह्म परब्रह्म प्रकाशित नहीं होता है, स्वप्रकाश होते हुए भी शब्दब्रह्मको ही परब्रह्म प्रकाशित होता है वह स्वप्रकाश है यह भी तो वेद(शब्दब्रह्म)ने ही कहा है 'अनुपलब्धे तत् प्रमाणम् इति न्यायात्' न्याय है कि जहां किसीकी उपलब्धि न हो तो उसकी उपलब्धिमें वेद ही प्रमाण है, 'पराञ्चिखानि' श्रुतिसे इन्द्रियां वहां पहुंच नहीं सकती हैं इसलिये इन्द्रियोंसे जो उपलब्ध नहीं है अतः वेद ही उपलब्धिका साधन है जो दिनको नहीं देख सकता है स्वप्रकाश सूर्य तेजको भी

नहीं देख सकता है इसमें किसी व्यवधानकी भी आवश्यकता नहीं है. इन्द्रियां ही ग्रहण नहींकर सकती हैं आंख यदि आकाशको न देख सके एवं जिह्वा यदि रसको न जान सके तो इसमें व्यवधान कारण नहीं है किन्तु इन्द्रियोंकी निर्बलता (अयोग्यता) ही कारण है.

जो कि तुम्हें कोई प्रतिबन्ध(आवरण) था जिससे दिखा नहीं, वह रूकावट भी, स्वप्रकाशक सर्वात्माको नहीं होती है, क्योंकि वह तो स्वप्रकाश होनेसे मनमें, घड़ेमें, नेत्रमें, सर्वत्र प्रकाश रहा है, यदि संयोग होने पर ही आवरण होता है यों माना जाये तब भी नेत्रोंका 'अग्रहणं', नेत्र दुर्बलताके वा अज्ञानके कारण ग्रहण नहींकर सकती है यह ही वेदानुकूल सिद्ध, सिद्धान्त है व्यवधानकी क्या आवश्यकता है. 'अन्यत् प्रमाकम्' श्रुतिने प्रभु प्राप्तिमें उत्पन्न विषयेच्छा रूप आवरणोंकी निन्दा की है न कि ये आवरणभिति(दिवाल) आदिकी तरहके आवरण हैं पहले जो सृष्टिका मार्ग आवरणवाली कहकर मायिक कही है. वह भी न ग्रहण होनेसे ही कहा है वह कहना भी आत्मव्यतिरिक्त अन्य सृष्टियोंके पक्षमें समझना चाहिये कारणकि सृष्टिके बहुत भेद हैं अतः ब्रह्मका भान(प्रकाश–दर्शनज्ञान) शब्दसे होता है, तो फिर यह जो ''यतो वाचोनिवर्तन्ते'' जहां वाणियां लौट आती हैं उसको पहुंच नहीं सकती है अर्थात् जान या कह अथवा बता नहीं सकती हैं. यह मिथ्या हो जायेगा, इस शङ्का व उलझनको आचार्यश्री सुलझाते हैं कि यह वाणी शब्द लौकिक है जो लौट आता है मन आदि भी लौकिक है यदि आधिदैविक दिव्यकेलिये कहा गया होता तो अन्यत्र ''**तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि**'' ''**मनसैवैत्तदाप्तव्यम्**'' श्रुति भगवतीमें यों कहा जाता है कि 'उपनिषदोंमें जिस पुरुषका प्रतिपादन है उसका प्रश्नकर्ता है अर्थात् उसकेलिये पूछता हूं तथा मनसे ही यह पुरुष प्राप्त करने योग्य है' ये श्रुति वाक्य विरुद्ध हो जावेगें अतः दोनों रूप शब्दब्रह्मके ही हैं उसके माहात्म्य प्रतिपादनकेलिये दोनों ही रूप कहे हैं, यह ही ध्यानमें लोक 'व्यक्ताव्यक्तात्मनः' विशेषण दिया है कि ब्रह्म व्यक्त(प्रकट) व अव्यक्त(अप्रकट) भी है, उस शब्दब्रह्मका हृदय कहीं तो स्पष्ट है और कहीं अस्पष्ट है, यदि यों न होता तो ब्रह्मस्वरूप स्पष्ट सरलतया जाननेमें आ जावे इसलिये इसमें भी भगवान्का ही नियामकपन 'परं' शब्दसे सिद्ध किया है, क्योंकि 'नानाशक्त्युपबृंहितम्' भगवान्में अनेक शक्तियां हैं इस कारणसे ही ऐसे वचन न होते तो भगवान्की उन गुप्त शक्तियोंका पता कैसे लगे? इसलिये प्रकाशका

निषेध नहीं कर गुप्त शक्तियोंका स्वरूप प्रकट करते हैं.

अतः ब्रह्मके प्रकाशकेलिये प्रवृत्त शब्दब्रह्मके कार्यका भी प्रकाश करते हैं, ब्रह्मसे अर्थात् क्रियासे प्रकाशित होता है वेदसे प्रकाशित होता है अर्थात् ज्ञानसे प्रकाशित होता है।।४६।।

यों आधिदैविक सृष्टि कहकर अब इस श्लोकमें सात्विकी आधिभौतिकी सृष्टि कहते है:

ततोऽपरामुपादाय स सर्गाय मनो दधे।
ऋषीणां भूरिवीर्याणामपि सर्गमविस्तृतम्।।४७।।

अनन्तर ब्रह्माने दूसरी देहधारणकर अन्य प्रकारकी सृष्टि रचनेकी इच्छा की, यद्यपि वे ऋषि बहुत पराक्रमी थे तो भी सृष्टिका विस्तार न हुआ।।४६।।

ब्रह्मा दूसरा शरीर धारणकर अन्य प्रकारकी सृष्टि रचना पर ध्यान(मन) देने लगा, ऐसी ही सृष्टि मरीचि आदि रच देंगे तो फिर अन्य प्रकारकी सृष्टि रचनेसे क्या लाभ? इस पर कहते है कि, यद्यपि वे ऋषि बहुत पराक्रमी हैं तो भी मुझसे विशेष बलवान नहीं हैं फिर उनसे पांच-छः ही उत्पन्न किये हैं, उनसे क्या होगा? इतनेसे तो सृष्टि विस्तार नहीं होगी और सृष्टिका प्रकार भी नहीं बताया है. इसलिये अन्य प्रकारसे करनेकेलिये दूसरा शरीर धारण करनेकेलिये मन लगाया(ध्यान दिया)।।४७।।

'अशक्ये हरिरेवाऽस्ति' इस न्यायका आश्रयकर, पहले तपस्या थोड़ीसे भी भगवान् प्रसन्न हुए थे जिससे फिर तपस्या करनेकी आज्ञा दी है वैसे यहां भी यद्यपि प्रकार कर्त्तव्य है यों निश्चय हैं तो भी कौनसा प्रकार करना चाहिये, यों फिर विचार(भगवत्स्वरूपका चिन्तन) करने लगे, जिसको इस श्लोकमें कहते हैंः

ज्ञात्वा तद्धृदये भूयश्चिन्तयामास कौरव!।
अहो! अद्भुतमेतद् मे व्यापृतस्याऽपि नित्यदा।।
न ह्येधन्ते प्रजा नूनं दैवमत्र विघातकम्।।४८।।

हे कौरव! वह हृदयमें जानकर फिर उस स्वरूपका चिन्तन करने लगा. अहो! यह अचम्भा है कि, हमेशा कार्यमें रहने पर भी प्रजाकी वृद्धि नहीं होती है अतः ये समझा जाता है कि इसमें दैव विघ्न है।।४८।।

जिस स्वरूपके चिन्तन करनेसे यह ज्ञान हुआ कि सृष्टिके प्रकार तथा वृद्धिकेलिये उपाय(तप) करो, उसी तरह स्वरूपका फिर हृदयमें चिन्तन करने

लगा.

हे कौरव! इस सम्बोधनसे सूचना दी कि जल्दी ही कार्यसे निवृत नहीं हो जाना, किन्तु जैसे कुरुने किया वैसे देह पड़े तब तक कार्य करते ही रहना चाहिये अब उस(ब्रह्मा)की चिन्ताको कहते हैं.

अहो! आश्चर्य है? प्रकार करते हुये भी बिना भगवान्की अनुकूलताकी सिद्धि नहीं होगी यदि भगवत्कृपा हो तो जो यह सर्व उत्पन्न किया है उस सामग्रीसे ही सकल जगत् भरपूर हो जावे. जैसे मैंने अकेले ही जो किया था वैसे मारिचि आदि भी बीजरूप करें तब तो इतनेसे सब भर जावे, अतः ऐसा समझमें आता है कि कोई प्रतिबंधक है यों सोचकर आश्चर्यसे कहने लगा आश्चर्य है! जिस भगवान्ने सृष्टि रचनार्थ आज्ञा दी वह ही प्रतिबन्धक बने हैं और उनका सहकार नहीं है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये. सदैव कार्यमें लगे होने पर भी मेरी प्रजाएं बढ़ती ही नहीं है दृष्ट(दिखनेमें) तो कोई भी प्रतिबंधक नहीं है किन्तु दैव ही विघ्नकर्ता है।।४८।।

एवं युक्तकृतस्तस्य दैवं चावेक्षतस्तदा।
कस्यरूपम् अभूद् द्वेधा यत् कायम् अभिचक्षते।।४९।।

इस तरह जो उचित था वह किया फिर दैव क्या करता है जिसका निरीक्षण करने लगा तब ब्रह्माकी देहके दो भाग हो गए. जिस(देह)को (काय) नामसे लोक कहते हैं।।४९।।

इस प्रकार निश्चयकर भगदाज्ञाका उचित रीतिसे पालन करता हुआ भगवच्चिन्तन ही करने लगा, तब उसके इस प्रकारसे उचित करनेसे भी भगवान् कब प्रसन्न होगें वह समय देखने लगा, भगवान्ने देखा(सोचा) कि इसमें(ब्रह्मामें) शक्ति नहीं है तब भगवान् स्वयंने ही ब्रह्माके रूपके दो भाग किये जिससे ब्रह्माके दो रूप बन गये, तब लोक उन दो भागोंको 'काय' नामसे पुकारने लगे, इससे स्त्रीभाग विशेष्य 'इयम्'का लोप किया जैसे कि 'केयम'में 'का इयम्' दो पद हैं 'इयम्' विशेष्य है जिसका लोप करनेसे शेष 'क' पद बना और 'कोऽयम्'में 'क' विशेषण है जिसका लोप होनेसे शेष 'अयम्' बचा, दोनों मिल 'काय' पद हुआ जिससे इसे लोक 'काय' नामसे कहने लगे।।४९।।

इसके बाद क्या हुआ? जो हुआ वह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

ताभ्यां रूपविभागाभ्यां मिथुनं समपद्यत।

यस्तु तत्र पुमान्सोऽभून्मनुः स्वायंभुवः स्वराट्।।५०।।
स्त्री यासीच्छतरूपाख्या महिष्यस्य महात्मनः।
तदा मिथुनधर्मेण प्रजा ह्येधाम्बभूविरे।।५१।।

देहके उन दो विभागोंसे एक जोड़ा(जुगल स्त्री–पुरुष) उत्पन्न हुआ उसमें जो पुरुष था वह स्वयं मनु, चक्रवर्ती हुआ वह स्त्री इस महात्मा मनुकी पत्नी महारानी हुई जिसका नाम शतरूपा धरा गया यों होनेके बाद मिथुनधर्मसे प्रजा निश्चित रूपसे बढ़ने लगी।।५०–५१।।

भगवान्ने जो ब्रह्मारूपके दो भाग किये उनमेंसे एक युगल जोड़ी(स्त्री और पुरुष) उत्पन्न हुआ यह एक कार्य है यदि यह भाग भगवत्कृत न होते तो कार्य नाश होने पर भागों(टुकड़ों)से कुछ बनता नहीं, यों नहीं होता तो श्रुतिके अनुसार पुरुष आधा खण्ड ही कहलाता 'अर्द्धवृगलम्'(इति श्रुतेः) भगवान्से बननेके कारण कुछ कष्ट भी न हुआ इससे आगे भी कार्य होता ही जायेगा कुछ रूकावट नहीं होगी यह सूचना इससे दे दी.

इन दोनोंमें जो भाग पुरुष था वह मनन करनेसे 'मनु' हुआ और जो भाग सृष्टिके प्रकारका रूप था वह 'स्त्री' हुई उसका 'शतरूपा' नाम धरा गया (मनु) शब्द यौगिक इसलिये स्वयंभुव; कहा गया 'स्वराट्' विशेषसे बताया है कि यह 'भगवदंश'से प्रकटा है क्योंकि इसमें ऐश्वर्यादि गुण मौजूद हैं अतः उससे भी सृष्टि होगी शतरूपा नामका आशय प्रकट करते हैं कि इस स्त्रीके सैकड़ोंरूप होनेसे इससे नित्य नूतनता है. जिससे मनु विशेष भाग और विशेष सृष्टि इसके द्वारा करेगा. 'महिषी' पदसे बताया है कि यह सर्व प्रकारकी कामनाओंको देनेवाली है इसका जब निरूपण होता है उस समय इससे(मनुने) भगवदीय होनेसे भगवान्में प्रवेश किया था जहां–जहां भगवान् वहां–वहां वह(मनु) भी है इसलिये 'अस्य' पद दिया है इसी ही अर्थको 'महात्मनः' विशेषणसे बताया है महान्(भगवान्) आत्मा जिसकी वह मनु है उस जुगलका बीजपन प्रसिद्ध करते हैं तथा मिथुन इस पादसे सृष्टि बढानेका प्रकार यह है कि 'मिथुन' मिथुनिभावः अर्थात् स्त्री–पुरुष दोनों भागोंका परस्पर मिलन, वह मिलन ही उपाय है किन्तु धर्म है तब इससे आनन्द प्रविष्ट प्रजाएं बढती रहेंगी, इसलिये ही श्रुतिमें इस वास्ते ''**आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते**'' ये भूतमात्र आनन्दसे ही उत्पन्न होते हैं इसमें 'हि' पदने निश्चितता बताई है इस **श्लो**कमें भी 'हि' शब्द निश्चय वाचक है, आप ही

आप स्वयं बढने लगे आज्ञादिकी भी आवश्यकता नहीं है।।५०-५१।।

इसी तरह मैथुनका नमूना जिससे प्रजाकी उत्पत्ति होगी वह प्रतिपादनकर पहले वह प्रकार इस श्लोकमें कराके बताते हैं:

स चाऽपि शतरूपायां पञ्चाऽपत्यान्यजीजनत्।
प्रियव्रतोत्तानपादौ तिस्रः कन्याश्च भारत!।
आकूतिर्देवहूत्तिश्च प्रसूतिरिति सत्तम!।।५२।।

हे भारत! उसने भी शतरूपामेंसे प्रियव्रत और उत्तानपाद दो पुत्र तथा आकूति, देवहूति एवं प्रसूति तीन कन्याएं यों पांच सन्तति पैदा की।।५२।।

वह बीजरूप(जीवरूप) एवं 'च' शब्दसे भगवद्रूप था अतः, उसके पुत्र दो रूपवाले थे मनुके जीव प्रधानत्वसे उत्तानपाद मुख्य था जिससे विसर्गलीलामें उपयोगी था भगवान्की प्रधानतासे प्रियव्रत मुख्य था जिससे वह स्थानलीलाके उपयोगी था एक कन्या थी दूसरी भगवदीया थी भगवदीया होनेसे उसकी प्रधानता थी किन्तु सर्गमें उपयोगी होनेके कारण उसका यहां ही वर्णन किया है तीसरी कन्या स्त्रीकी प्रार्थनासे हुई इस तरह सब मिलकर सन्तान हुए 'शतरूपायां' पदसे स्त्रीका अधिकरणपन ही कहा है न कि जनफल कहा है इसमे ये पांच सन्तान भी प्राकृत नहीं हैं प्रियव्रत और उत्तानपाद पुत्र थे अतः पुरुष थे पुरुषोंके साथ स्त्रीके नाम नहीं लेने चाहिये इसलिये तीन कन्याएं यों कहा, नाम नहीं लिये 'इति'से यह भावार्थ प्रकट होता है.

हे भारत! यह सम्बोधन विदुरको मोहके अभावार्थ दिया है स्त्रीका प्रसङ्ग भी मोहका कारण होता है.

उनके नामोंका अब पृथक् निर्देश करते हैं अर्थात् कहते हैं कि आकूति, देवहूति और प्रसूति ये नाम थे. 'इति'से यह भी सूचित किया है कि इनके दूसरे नाम नहीं थे सत्तम! हे उत्तम! यह सम्बोधन फिर देनेसे पूर्वकी तरह पुरुष सम्बन्ध है यों बताया है।।५२।।

निम्न श्लोकमें कन्याओंके विनियोगको कहते हैं:

आकूतिं रुचये पादात् कर्दमाय तु मध्यमाम्।
दक्षायाऽदात्प्रसूतिं च यत् आपूरितं जगत्।।५३।।

'आकूति' रूचिको दी. बीचवाली कन्या कर्दमको और प्रसूति दक्षको अर्पण की जिनसे जगत् परिपूर्ण हो गया।।५३।।

रुचि कल्पान्तरमें(दूसरे कल्पमें) ब्रह्मासे उत्पन्न पुत्र था. 'कर्दमाय तु' इसमें 'तु' पदसे कर्दमके पुत्रत्वका निषेध करता है. कर्दम छायासे उत्पन्न हुआ था. छायामेंसे उत्पन्न करनेवाला भगवद्रूप 'काल' ही है इसलिये किसी भी तरह अधर्मका अंश नहीं है. नाम न लेकर मध्यमा क्यों कहा जिसका आशय प्रकट करते हैं कि महती(बड़ी)का नाम बार-बार नहीं लेना चाहिये. 'प्रसूति' इस नामसे ही स्त्री प्राधान्य है. अतः देनी ही चाहिये, यद्यपि इसमें अन्य गुण नहीं थे किन्तु एक 'चातुर्य' गुण था और दस 'अंगुष्ठात् जाता' इस वाक्यसे दक्ष भगवान् (ब्रह्मा)के अंगुष्ठामें उत्पन्न हुआ है ''अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः''. श्रुति कहती है कि पुरुष अङ्गुष्ठ जितना है और यह पुरुष अङ्गुष्ठका आश्रयकर रहता है. अतः प्रसूति दक्षको समर्पण की. 'च' कहनेसे दिखाया है दातृत्वका सम्बन्ध प्रसूतिसे था न कि दक्षसे था. यों करनेसे जो हुआ सो कहते हैं कि 'यत आपूरितं जगत्' जैसे पंच महाभूतोंसे जगत् भरपूर हो गया है वैसे प्रसूति पांच सन्तानोंसे समग्र संसार भर गया है।।५३।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके १२ वृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १३

वाराह अवतारकी कथा

एवं द्वादशधा सर्गः त्रिविधो ह्युपपादितः।
तस्य कारणरूपं हि यादृशं तदिहोच्यते।।का.१।।

ऐसे त्रिविध(तीन प्रकारकी) सृष्टिका द्वादश प्रकारसे निरूपण किया, अब १३वें अध्यायमें उस सृष्टिके कारणका जैसा रूप है वैसा कहा जाता है।।१।।

सर्ववेदार्थरूपो हि वराह इति विश्रुतः।
स एव कारणं सृष्टौ वैदिक्यामिति निश्चयः।।का.२।।

प्रसिद्ध है कि वराह भगवान् वेद अर्थरूप होनेके कारण वैदिक सृष्टिका निश्चित कारणरूप है. यों निश्चय है।।२।।

अन्यथा प्राकृती सृष्टिः स्वप्नतुल्यैव सा भवेत्।
अतो वैदिकसृष्टित्वज्ञापनाय वराहता।।का.३।।

यदि समस्त वेदका अर्थरूप भगवान् सृष्टिका उपादान न बने तो प्राकृति सृष्टि भी स्वाप्निक सृष्टिके समान हो जावे अतः इस सृष्टिकी वैदिकता बतानेकेलिये ही वराहता कही है।।३।।

भूमिस्तु देवयजनं रोमभिर्बर्हिषो भवः।
पात्राणि सर्वावयवैस्तेन यज्ञः त्रयोदशे।।का.४।।

पृथ्वी यज्ञ करनेका स्थान है. वराह यज्ञका स्वरूप होनेसे वेदोंका पदार्थरूप है. अतः उसके रोमोंसे(बालोंसे) यज्ञकी सामग्री उत्पन्न होती है. जैसे वराहके अवयवोंमेंसे यज्ञके पात्र बने हैं इसलिये १३वें अध्यायमें यज्ञका निरूपण है।।४।।

सृष्ट्यर्थं तस्य भवनमित्यर्थं संगतिस्तथा।
ब्रह्मणा सह संवादो मनोः कल्पान्तरे पुनः।।का.५।।

सृष्टिकी जगत्में प्रवृति होती रहे इसलिये यज्ञरूप वराह भगवान्का प्राकट्य हुआ है, तदनुसार ही संगति है मनुका ब्रह्माके साथ संवाद दूसरे कल्पमें हुआ है. कल्पान्तरकी कथाओंके कारण ही यहां शंकाएं होती हैं. अन्यथा कोई शङ्का नहीं।।५।।

रसातलान्तपर्यन्तं पृथिवी पूर्वम् उद्धृता।

पञ्चाङ्गुल्या पञ्च लोका ह्युद्धृता अतलादयः।।का.६।।

पहले रसातल तक पृथ्वीका उद्धार किया अनंतर पांच अंगुलियोंसे अतल आदि पांच लोकोंका उद्धार किया यह प्रसंग पुराणान्तरादिका यहां कहा है।।६।।

यज्ञभूमित्वसिद्ध्यर्थं पुष्करे प्रथनं ततः।
एषा स्थितिः पूर्वकल्पे रसातलगता ततः।।का.७।।
प्रजापतेरुद्धृतत्वाद् निराधारा जलं विशेत्।
वराहकल्पे प्रथमे सर्वोत्पत्तिः विनिश्चिता।।का.८।।
ततस्तद्भेदकल्पेषु नष्टोत्पत्तिर्न सर्वतः।
प्रक्रियान्तरभावेन ततः सृष्टिरिहोच्यते।।का.९।।

अनन्तर पृथ्वी यज्ञ करनेके योग्य हो तदर्थ उसको कमल पर धरा(तैत्तिरीय उपनिषदसे कहा है–प्रकाश) यहां स्थिति पूर्वकल्पमें थी इसके बाद प्रजापतिने कमलका तत्त्व निकाल लिया तब निराधार होनेके कारण भूमिने जलमें प्रवेश किया. पहले वराहकल्पमें सकल जगत्की उत्पत्ति हुई है यह निश्चय है वराहकल्पके बाद जो अन्य उपकल्प हुए हैं उनमें जो पृथ्वी नष्ट हुई है उस पृथ्वीका ही उद्धार किया है(उत्पत्ति हुई है) न कि सम्पूर्ण पृथ्वी डूब गई, उसका उद्धार हुआ है अतः यहां दूसरे प्रकारसे सृष्टिकी उत्पत्ति होना कहा है।।७–९।।

हिरण्याक्षादिदैत्यानां रसातलगता स्थितिः।
अपेक्षितानामर्थानां भिन्नकल्पेऽपि संभवे।।का.१०।।
लीलाकथनसिद्ध्यर्थमेकरूपेण वर्ण्यते।
अतो नाऽत्र विरोधोऽस्ति केनाऽप्यंशेन निश्चितम्।।का.११।।

हिरण्याक्ष आदि दैत्य रसातलमें रहते थे सृष्टिकी उत्पत्तिमें आवश्यक पदार्थोंकी पृथक् कल्पमें भी जरूरत पड़ती है अतः एक कल्पमें उत्पन्न दूसरेमें भी उपयोगी होते हैं इसलिये ही यह भगवान्की इस प्रकारकी लीला है यों कहा जा सकता है अतः इनका एक प्रकारसे ही वर्णन किया गया है जिसमें किसी अंशसे भी विरोध नहीं है यों निश्चय है।।१०–११।।

इसी तरह पूर्वाध्यायके अन्तमें सृष्टिके निरूपणकेलिये मनुका वर्णन किया गया वह(मनु) सृष्टिका कारण है? इसका विचार करना चाहिये:

यद्याधिदैविको देवः तदर्थं सम्भविष्यति।
कामादयश्चेद् प्रबलाः तस्मात् सृष्टिः तदा भवेत्।।का.१।।

यदि(जो) सृष्टिकी उत्पत्तिकेलिये आधिदैविक देव प्रकट हो और कामादि प्रबल होवे तो उसमेंसे सृष्टि हो।।१।।

तत्रापि कामजनितो दोषश्चेद् न भविष्यति।

अतो द्वितीयसृष्ट्यर्थं उपोद्घाद्वयं स्मृतम्।।का.२।।

उस सृष्टिमें भी जो [१]कामसे उत्पन्न दोष न होवे तो सृष्टि उत्पन्न होवे अतः उसकेलिये(अन्य सृष्टिकेलिये) यों उपोद्घात कहे हैं।।२।।

१.भगवत्प्राकट्य और दोषरहित काम.

प्रथमेऽप्यत्र भावेन बीजमेतद् द्वयं मतम्।

कारणद्वितयं लोके भगवान् जीव एव च।।का.३।।

पहले मैं भी ये दो बीज [१]कारणरूपसे कहे हैं लोकमें भगवान् और जीव ये दो ही कारण हैं।।३।।

१.दोषरहित काम होनेके भी प्रयोजन हैं १.भगवान्का प्रादुर्भाव होवे तब सेवा करनेवाले दैवी जीव भी चाहिये. २.कर्म आदि नाशसे सेवकोंके उत्पन्न होनेमें सरलता.

इसमें मनु सृष्टिका कर्ता बन सके तदर्थ दो सर्गोंके मध्यमें उसका स्वरूप निरूपण करते हैं यह चरित्र भगवदीय(भगवत्सम्बन्धी) है यों जतानेकेलिये अपने दोषके परिहारार्थ अर्थात् हमको दोष न लगे विदुरके मुख द्वारा निर्णय कहलाने केलिए उस प्रसंगको ही शुकदेवजी निम्न श्लोकसे कहते हैं:

श्रीशुकः उवाच

निशम्य वाचं वदतो मुनेः पुण्यतमां नृप!।

भूयः पप्रच्छ कौरव्यो वासुदेवकथादृतः।।१।।

शुकदेवजीने कहा हे नृप! कथाकार मुनिकी अतिपवित्र वाणी सुनकर वासुदेवकी कथामें आदरवाले विदुरजीने फिर पूछा।।१।।

कथा कहनेवाले मुनि(मैत्रेयजी)की वाणी सुनकर(मुनिके लक्षण प्रकट करते हुए) कहते हैं मनन करनेसे जो सत्य समझनेमें आया उसको(सत्यको) भगवदाज्ञासे प्रकट करनेकेलिये आये हैं. अतः उस सत्यका उन(मुनि)को अवश्य विस्तार करना चाहिये, यों मनमें अभिप्राय समझकर फिर विदुरजी मैत्रेयजीसे किञ्च अपने अधिकारकी प्रवृत्तिरूप क्रिया, जो बहुत पुण्यवाली वाणी थी वह पूछने लगे. हे नृप! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि राजाओंको कथा सुनना

सुखकर होता है.

विदुरजीको कौरव्य विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि विदुरजी अपने कर्त्तव्यमें दृढ रहनेवाले 'वासुदेवकथादृतः'(वासुदेवकी कथामें आदरवाले) हैं यों प्रसंग भी वासुदेवकी कथाका ही चल रहा है जिससे वे(मैत्रेयजी) अवश्य कहेंगे ही, इसलिये राजा(मनु)के चरित्रका प्रश्न किया है, न कि राजभावसे प्रश्न किया है।।१।।

निम्न तीन श्लोकोंसे उसका(मनुका) कार्य चरित्र, श्रवणकी योग्यता है यह निरूपण करते हैं इनमें पहले उसकी निम्न श्लोकमें पूर्वस्थितिका वर्णनकर तत्सम्बन्धी कार्य पूछता है:

विदुरः उवाच

स च स्वायंभुवः सम्राट् प्रियः पुत्रः स्वयंभुवः।
प्रतिलभ्य प्रियां पत्नीं किं चकार ततो मुने!।।२।।

विदुरजी पूछने लगे कि, हे मुने! स्वयंभूके प्रियपुत्र, सम्राट् स्वायंभुवने प्यारी पत्नि प्राप्तकर अनन्तर क्या किया?।।२।।

श्लोकमें 'स'के साथ 'च' कहा है जिस 'च'का आशय है कि विदुरजी कहते हैं कि मैंने मनुके दो स्वरूप जाने हैं एक 'भगवद्रूप' और दूसरा 'मानवरूप', स्वायंभुव और चक्रवर्तीपदसे दोनोंरूप कहे है इसलिये स्वयंभू(ब्रह्मा)का पुत्र भगवदीय है और उसको पुत्र प्रिय है यों कहा है. पहले 'स्वयम्भुवत्व' कहकर उसका भगवदीयत्व सिद्ध किया है, इससे मनुमें भगवदीयत्व मुख्य है अतः चरित्र श्रवण करनेकेलिए 'स्वायंभुव' पहले कहा, सृष्टिके हेतुत्वार्थ प्रथम भगवदीयत्व कहकर अनन्तर ब्रह्माके पुत्रत्वका विधान किया, इसलिये वह पुनरुक्तिदोष नहीं है 'प्रिया' और 'पत्नी' यहां भी शतरूपाके दो रूपत्व हैं उसके भगवदीय होनेके कारण 'प्रियात्व' है और मनुको सृष्टिकार्यके व्यावृत करनेसे 'पत्नीत्व' है, 'प्रतिलम्भः'का आशय है फिर प्राप्ति करना, शतरूपा कल्पान्तरमें भी पत्नी भावसे ही प्राप्त हुई थी, दोनोंने मिलकर क्या किया? यह प्रश्न है. मिलन ही सुखात्मक(सुखरूप)है अतः अन्य कुछ नहीं करेंगे, ऐसी शङ्का होनेसे 'ततः' यों कहा, हे मुने! यों सम्बोधन उसका(मुनिका) ज्ञान बतानेकेलिये उसने(मनुने) सृष्टि कैसे की? यों प्रश्न हैं।।२।।

इस श्लोकसे चरित्र पूछते हैं:

चरितं तस्य राजर्षेरादिराजस्य सत्तम!।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय विष्वक्सेनाश्रयो ह्यसौ।।३।।

हे पुरुषश्रेष्ठ! उस राजर्षिका, जो मूल राजा है, उसका चरित्र मुझ श्रद्धालुको कहिये क्योकि उसने विष्णु भगवान्का आश्रय लिया है।।३।।

'तस्य' पदसे यह सूचित किया है कि उसके चरित्र श्रवण करनेका कारण यह है कि वह भगवदीय है, राजर्षिपदसे उसकी धर्म परायणता प्रकट की है. हे सत्तम! संबोधनसे यों जताया है कि स्त्री–पुरुषके मिलनसे क्षोभ न हो, इस प्रकार आप चरित्र बताओगे 'श्रद्दधानाय' पदसे कहा है कि चरित्र अवश्य कहा जाय जिसका कारण मेरेमें श्रद्धा है, श्रद्धा क्यों हुई है? उसकेलिये कहा है कि इस राजा मनुको विष्णुका आश्रय है. इस कारणसे श्रद्धा हुई है उसमें भी कारण 'ह्यसो' पदसे बताते हैं कि भगवान्से उत्पन्न ही भगवदाश्रय करता है और जो आश्रित है वह ही भगवदीयके चरित्रमें श्रद्धालु होता है।।३।।

जिन्होंने भगवान्का आश्रय किया है उनका चरित्र श्रवण करना चाहिये, क्योंकि जो भगवदाश्रयी भगवदीय नहीं हैं उनके चरित्र श्रवणसे अपना आश्रय सिद्ध न होकर वह स्थिर नहीं होता है अतः महान् कष्टसे सुना हुआ भी भगवच्चरित्र अस्थिर होनेसे फलदायी नहीं होता है इसलिये भगवदीयोंके चरित्र सुनने चाहिये यों कहते हैं:

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य नन्वञ्जसा सुरिभिरीडितोऽर्थः।
तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम्।।४।।

अहो! पुरुषोंने विशेष परिश्रमकर बहुत समय तक जो सम्पूर्ण भगवद्गुणानुवाद श्रवण किया है उसकी कवियोंने प्रशंसा इसलिये की है कि जिन भगवदियोंके हृदयमें मुकुन्द भगवान्के चरण विद्यमान हैं उनके चरित्र पीछेवाले मनुष्य भी श्रवणकर गुण गावें।।४।।

'ननु'(अहो) इस कोमल सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि इसमें अनुभव ही प्रमाण है. सुने हुए भगवद्गुणोंका प्रयोजन कवियोंने प्रशंसा द्वारा बता दिया है कि उनके(गुणोंके) श्रवणसे व अध्ययनादिसे बुद्धिका निर्दोष होना तथा विशद होना है, जो कुछ सुना, उसका फल भगवद्गुण स्थिर रहे तदर्थ यह बुद्धिकी विशालता होना है अनेक भगवद्गुणोंको ग्रहण करनेकेलिये विशाल बुद्धिकी आवश्यकता है यह विशालता श्रवण द्वारा ही प्राप्त होती है, महान् श्रमसे

श्रवणका ग्राहकत्व भी भगवदर्थ ही है ऐसी इच्छा रहती है कि सुने हुए भगवद्गुण स्थिर रहें एवं फलदायी हों उसमें जो स्थिरता है वह भगवदीय चरित्र हेतुवाले हैं इसलिये पहले सुना हुआ चरित्र अपनी ही स्थिरता करनेकेलिये भगवदीय चरित्र श्रवणमें रुचि पैदा करता है, अतः भगवच्चरित्रका फल भी भगवच्चरित्र श्रवण ही है जिसमें बहुत श्रम करना पड़ता है. सम्पूर्णतः श्रवण करनेका जो कवि वर्णन करते हैं वह साधनरूपसे है, न कि फलरूपसे है, क्योंकि फल साधनके आधीन है वह 'तत्तद्गुणानुश्रवणं' पदसे कहते हैं जिस-जिस भगवद्भक्तके सम्बन्धी गुणसे भगवच्चरणाविन्द उनके हृदयमें स्थित होते हैं वह उनका गुण भगवच्चरणारविन्दों का स्थापना करनेवाला है अतः वह श्रवणका फल है. पूर्व जो श्रवण किया उसका उन-उन गुणोंका फिर श्रवण फल है, श्रवण एक ही जातिका है इसलिये विरोध नहीं है भगवान्के ही गुण भगवदीय हैं अतः वे गुण भक्तोंमें स्थित होकर रहते हैं इसलिये कुछ विरोध नहीं है गुणोंको फलरूप कहा है वे दूसरे गुण उत्पन्न करेंगे यह दूषण शंकाके योग्य नहीं है, इसी कारणसे हृदय भगवच्चरणोंको स्थापित करनेवाले गुण सुनने ही चाहिये. इस मनुका चरित्र श्रवणीय है. इससे उसके चरित्रका प्रियत्वादि भी है।।४।।

भगवच्चरित्रमें प्रेमवाला श्रोता पाकर मैत्रेयजी सन्तुष्ट हुए यों शुकदेवजी कहने लगे:

श्रीशुक उवाच

इति ब्रुवाणं विदुरं विनीतं सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम्।
प्रहृष्टरोमा भगवत्कथायां प्रणीयमानो मुनिरभ्यचष्ट।।५।।

शुकदेवजीने कहा कि यों कहते हुए विनयवाले और सहस्र मस्तकवालेके चरणोंका आसनरूप विदुरको भगवत्कथामें प्रेरित होनेसे उत्पन्न आनन्दके कारण रोमाञ्चित वाले मुनि कहने लगे।।५।।

'विदुर' नामसे यह जताते हैं कि इसकेलिये भगवान्ने उपदेश देनेकी आज्ञा की है. 'विनीतं' पदका आशय है कि विनययुक्त होनेसे स्वतः विदुर भी मैत्रेयजीके कहनेमें कारण था. भगवान्के चरणोंका निवास स्थान था अर्थात् भगवान् इसके अन्तःकरणमें एवं गोदमें विराजते हैं चरण स्थापित करते हैं इसलिये शास्त्रके तात्पर्यसे भी यह ज्ञात होता है कि उस(विदुर)की आज्ञा पालनी चाहिये, यों महत्व है, जैसे गुण भगवच्चरणोंके स्थापक हैं वैसे विदुर भी है. कृष्ण साक्षात्

भगवान् हैं इसलिये 'सहस्रशीर्ष' कहे जाते हैं. उनके चरणोंके रहनेका स्थान विदुर है. जब भगवान् चरणोंको लम्बा करते हैं तब विदुरकी गोदमें ही करते हैं. इस कारणसे भी विदुरमें तीन आवश्यक गुण मौजूद होनेसे भगवत्कथाका वाचन (कहना) आवश्यक समझा जाय. मैत्रेयजीके, हर्षसे रोम खड़े हो गये, जिससे भगवत्कथा कहनेमें यों बह गये जैसे लकड़ी बह जाती है तथा मैत्रेयजी स्वभावसे भी मुनि थे इसलिये सम्पूर्ण चरित्र हेतुपूर्वक सुनाने लगे. भगवान्का चरित्र विपरीत है क्योंकि मैत्रेयजी जो ज्ञानी हैं उनको भक्त बना देते हैं. मैत्रेयजीका ज्ञान विदुरमें खिच जाता है जिससे विदुर ज्ञानयुक्त हो जाता है. विदुरकी भक्ति दूसरेमें अर्थात् मैत्रेयमें आजानेसे मैत्रेयके रोंगटे खड़े हो गये जिससे मैत्रेय आनन्द लुप्त हो गये।।५।।

ब्रह्माकी प्रार्थनासे मनु सृष्टि रचेंगे यों कहनेकेलिये ब्रह्मा एवं मनुका प्रसंग इस श्लोकमें वर्णन करते हैं:

मैत्रेय उवाचः

यदा स्वभार्यया साकं जातः स्वायंभुवो मनुः।

प्राञ्जलिः प्रणतश्चेदं वेदगर्भम् अभाषत।।६।।

मैत्रेयजीने कहा कि जब स्वयंभुव मनु पत्नीके साथ उत्पन्न हुआ तब हाथ जोड़कर प्रणामपूर्वक वेदगर्भ(ब्रह्मा)को यों कहने लगा।।६।।

'स्वभार्यया साकं' पदसे जताया है कि मनु स्वभावसे धर्म परायण है अतः वह सृष्टि भी वैसी करेगा जो शास्त्रमें निषिद्ध न हो अतः प्रजाके उत्पादनकी सामग्री भी अपने साथ लाया है. 'स्वायंभुवः' पदसे यह सूचित है कि सृष्टिकेलिये ही पैदा किया हुआ है अतः जो यों सामग्री लाकर सृष्टि उत्पन्न न करते तो उसका उत्पादन ही व्यर्थ हो जाता है इसलिये प्रकट होते ही प्रार्थना करते हुए हाथ जोड़ और प्रणाम किया, जिससे शरीर, वाणी और मनसे नम्रता दिखाई. 'इदं' पदसे ब्रह्माको सृष्टि रचनेका ज्ञान है यों बताया है।।६।।

'त्वमेकः' श्लोकसे दो श्लोकसे मनुकी प्रार्थना कहते है:

पुत्रस्य कार्यद्वितयं पितृशुश्रूषणं पुरः।

तदाज्ञाकरणं चेति द्वयं संदिग्धम् अत्र हि।।का.१।।

पुत्रके दो कर्तव्य हैं एक प्रथम पिताकी सेवा करना दूसरा उसकी आज्ञाका पालन करना इन दोनोंके करनेमें यहां संशय प्रायः है।।१।।

इसलिये यहां पहले पूछता है कि यद्यपि आपको सेवाकी अपेक्षा नहीं है आप ही सर्वको सर्व प्रकारसे उत्पन्न करते हैं एवं पालते हैं, इस कारणसे आपसे उत्पन्न तथा पालित हमसे आपकी कौनसी सेवा हो सकेगी तो भी आपने निष्कृति(उद्धार)केलिये पितृसेवा करनी ही चाहिये तदर्थ वह सेवा बतलाइये, सेवा उसको कहा जाता है कि जिससे सेव्यको सुख हो और वह प्रसन्न हो जिसका हमें ज्ञान नहीं है, इसलिये प्रार्थना है कि वह बतलाइये? आपको सेवाकी अपेक्षा नहीं है जिसके तीन कारण हैं: १.सर्वभूतोंके जन्मदाता आप हैं २.सर्वको आजीविका आप देते हैं ३.बिना सहायताके शूरता भी आपमें है, इसमें असहाय शूरत्व जन्मादिका भी प्रयोजक है अतः पहले वह पूछता है:

मनुरुवाच

त्वमेकः सर्वभूतानां जन्मकृद्वृत्तिदः पिता।
अथापि नः प्रजानां ते शुश्रूषा केन वा भवेत्।।७।।

मनुने कहा कि केवल आप अकेले ही सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेमें तथा आजीविका देनेमें समर्थ पिता हो, फिर भी हम जो आपकी संतति हैं वह किस तरह सेवा करें?।।७।।

आप एक ही सर्व कार्य करनेमें समर्थ हो फिर सेवाकी क्या आवश्यकता है, किञ्च आप ही एक सकल भूतोंके पैदा करनेवाले हैं आजीविका भी देते हैं इस आजीविका देनेवाले भी आप हैं. अतः सेवाकी अपेक्षा नहीं है और समस्त भूतमात्रके पिता भी आप ही हैं इससे स्नेह प्रकट होता है जो हमारी सेवामें प्रतिबन्धक बनता है यों होते हुए भी अर्थात् प्रयोजनके अभाव तथा प्रतिबन्धककी मौजूदगीमें, हम जो आपकी प्रजाएं हैं उनके उद्धारकेलिये आपकी सेवा किससे वा कैसी हो? यह बतलाइये इस आशयकी यह प्रार्थना है।।७।।

प्रार्थनाके फल स्वरूप आज्ञा तो अवश्य कीजिये किञ्च वह ऐसी हो जिसके करनेकी हमारेमें सामर्थ्य हो, यों निम्न श्लोकमें कहा है:

तद् विधेहि नमस्तुभ्यं कर्मस्वीड्यात्मशक्तिषु।
यत् कृत्वेह यशो विष्वग् अमुत्र च भवेद् गतिः।।८।।

हे स्तुति करने योग्य आपको प्रणाम है जिस कार्यको करनेकी मुझमें शक्ति है वैसे भी ऐसे कार्य कहिये जिनसे इस लोकमें यश हो और परलोकमें गति(मोक्ष) हो।।८।।

सेवा तथा तत्सम्बन्धी कार्य स्पष्ट है उनका अज्ञान कैसे है, इस पर कहते हैं कि, आपको प्रणाम है, सेवा और उसके कार्यमें मैं इतना ही जानता हूं कि आप नमन करने योग्य हैं, नमस्कार करनेके सिवाय दूसरा कुछ हमसे होना कठिन है तथा बिना प्रयोजनवाला है, तो भी यदि आप प्रयोजनवाला तथा शक्य जानते हो तो वह कहिये इस अभिप्रायसे 'कर्मस्व' पद दिया है अर्थात् प्रयोजनवाले और हो सके वैसे कर्मकी आज्ञा दीजिये स्तुति भी अशक्य है क्योंकि सकल स्तुतिकर रहे हैं इसलिये 'ईड्य' पदसे कहा है कि आप सत्य हो आपकी स्तुति ही करनी चाहिये, 'आत्मशक्तिषु' जिन कर्म करनेमें अपनी शक्ति हो, शक्ति अनुसार कर्म हो एवं धर्मजनक हो जिन कर्म करनेसे धर्म हो जो कर्म, अपयश करनेवाला नहीं और लोक एवं वेदशास्त्र विरुद्ध न हो, 'विष्वग्यशः' पदसे यह सूचित किया है कि कहीं भी अपयश न हो सर्वत्र लोकमें यश हो और परलोकमें भी यश तथा सङ्गति(मुक्ति) हो।।८।।

एक तुमने किया ही है यह निम्न दो श्लोकोंसे ब्रह्मा कहते हैं:

ब्रह्मा उवाच

प्रीतस्तुभ्यमहं तात! स्वस्तिस्ताद्वां क्षितीश्वर !।
यन्निर्व्यलीकेन हृदा शाधि मेत्यात्मनाऽर्पितम्।।९।।

हे तात! मैं तुम पर प्रसन्न हूं क्योंकि तुमने 'हमको आज्ञा करो' यों विनय पूर्वक निष्कपट हृदयसे कहकर आत्मासहित सर्व समर्पणकर दिया है अतः हे क्षितिपति! आप दोनोंका कल्याण हो।।९।।

सेवा फलवाली होती है फलसे ही जाना जाता है कि सेवा हुई है इस कारणसे ब्रह्मा सेवाका फल ही बताते हैं कि, 'प्रीत' मैं प्रसन्न हुआ हूं यह प्रीति भी विशेष है जिससे सेवा सफल हुई है, 'स्वस्तिस्ताद्वां' इस पदसे तुम दोनोंका कल्याण हो, कहकर अपनी प्रसन्नता और सेवा हुई है दोनोंका सूचन किया हैं दोनोंको करनेका कार्य संसारमें प्रवृत्तिरूप होनेसे कार्यमें बन्धक होगा ऐसी शंका होनेसे यों कहा हे 'क्षितीश्वर!' सम्बोधनसे दूसरा भी फलका सूचक पद कहा कि भूमिका ऐश्वर्य प्राप्त हो.

हमने कौनसी सेवा की. कैसे आपको संतोष हुआ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'यन्निर्व्यलीकेन हृदा' मुझे आज्ञा करो यों शुद्ध कपटरहित हृदयसे आत्मा सहित सर्वस्व अर्पण ही सेवा है, वह सेवा दुर्योधनकी तरह कपटसे भी हो सकती

है किन्तु आपने शुद्ध हृदयसे प्रेमपूर्वक की है, 'आत्मना' पद तृतीया विभक्तिमें देकर बताया है कि आत्माके साथ सब व्यर्पण किया, इससे ऐहिक और पारलौकिक भी आत्मगामी है यों बताया है. इसको ही आत्मसमर्पण कहा जाता है इसके सिवाय कोई दूसरी प्रभुकी सेवा नहीं है।।९।।

इससे दूसरी भी कोई सेवा होगी ? इस शंकाको इस श्लोकसे दूर करते हैं:

एतावत्यात्मजैर्वीर! कार्या पितरि पुत्रकैः।
शक्त्याऽप्रमत्तैर्गृह्येत सादरं गतमत्सरैः।।१०।।

हे शूरवीर! पुत्रोंको पिताकी इतनी ही सेवा करनी चाहिये, जिससे सावधान हो और ईर्ष्यारहित होकर आदरपूर्वक शक्तिके अनुसार आज्ञाका पालन हो।।१०।।

जिसने जो कुछ जिससे प्राप्त किया है वह उसको अर्पण करना चाहिए, इसी तरह पुत्रोंको भी पितासे प्राप्त पदार्थ पिताको ही अर्पण करना चाहिए इतनी ही सेवा पुत्रोंकी है 'गुरावपचिति' इस पाठमें भी गुरूजी ने उपदेश दिया है उसकी सिद्धिकेलिए शिष्यको अपनी आत्माका समर्पण करना चाहिये क्योंकि गुरु शिष्यका उद्धार हो इसीलिये ही उपदेश देता है अतः गुरु आज्ञानुसार शिष्य सर्वार्पण गुरुको करता तो सर्व, गुरुका ही परिकर हो जाता है जिसमें गुरु अपने साथ परिकरका भी उद्धार करेंगे, यों उपदेश सफल होगा, इससे इसको 'सेवा' कहा जाता है यदि यों आज्ञानुसार आत्मसमर्पण न किया जायेगा तो उपदेशसे जो उद्धार होने वाला है उसकी हानि होगी अर्थात उद्धार न होगा अतः दोनों कार्योंकी सिद्धिकेलिए आत्मसमर्पण ही सेवा है अर्थात प्रत्युपकार करना ही उचित है आत्मसमर्पणका स्वरुप बताते हैं 'शक्त्याऽप्रमत्तैः' अपनी शक्तिके अनुसार सावधान होकर गुरुके वचनोंको आदर सहित अपनाना चाहिये, यदि गुरु आज्ञा करे 'मृदमानय' मृतिका(मिट्टी) ले आओ, तब अपनी शक्ति अनुसार आदरपूर्वक मृतिका ले आनी चाहिये यही आत्मसमर्पणका प्रमाण है अयुक्तकार्य गुरु करावे तो उसमें शिष्यको अपना उत्कर्ष समझना चाहिये कि गुरुकी मुझ पर कृपा है और मुझ पर प्रसन्न है जो ऐसी सेवा भी मुझसे ही ली है।।१०।।

यों सेवाका स्वरूप प्रतिपादनकर अब इस श्लोकमें कर्त्तव्य बताते है:

स त्वमस्यामपत्यानि सदृशान्यात्मनो गुणैः।
उत्पाद्य शास धर्मेण गां यज्ञैः पुरुषं यज।।११।।

वह(कर्तव्य) तुम इस स्त्री द्वारा अपने सदृश गुणोंवाले पुत्र उत्पन्न करो, पुत्र पैदा करके धर्मानुसार पृथ्वीका पालन यज्ञ द्वारा भगवत्पूजन कर करो।।११।।

'सः' वह पदका अभिप्राय बताते हैं कि मेरा पुत्र होनेसे जो कर्त्तव्य करना था वह तो कर लिया अब जो भगवदीय होनेसे उचित कर्त्तव्य करना है उस कर्त्तव्य को बताता हूं इसलिये 'स' कहकर भगवदीयरूपसे जो कर्त्तव्य है वह बताता है, 'अस्यां' पदका भी यह तात्पर्य है जैसे आपका भगवदीयरूप है वैसे इसका भी भगवदीयारूप है उस भगवदीयरूपमेंसे अपने सदृश गुणोंवाले पुत्र उत्पन्न करो, यह पहली आज्ञा है इसके बाद धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करो यह दूसरी आज्ञा है, यज्ञोंसे भगवान्‌की सेवा करो, यह तीसरी आज्ञा है, इसमें यों भगवान्‌के प्रसन्न होनेके कारणवाली है भूमिका पालन करना क्षत्रियधर्म होनेसे 'यज्ञ' वैदिकधर्म होनेसे कर्त्तव्य है, श्रोत और स्मार्त धर्म अपने धर्म हैं इसलिये अपने धर्मानुसार भगवान्‌की आराधना(सेवा) करनेसे, वेदगर्भ(ब्रह्मा) तथा भगवान् प्रसन्न होंगे इसमें शंका ही नहीं है।।११।।

किन्तु प्रजा उत्पादन करनेसे आप और भगवान् प्रसन्न होंगे. इससे यह कोई प्रमाण नहीं है ऐसी शंका मनको होने पर कहते है:

परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात् प्रजारक्षया मम।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुः हृषीकेशोऽनुतुष्यति।।१२।।

मैंने जो प्रजा उत्पन्न की है उसको उत्पादन द्वारा बढ़ाकर रक्षा करोगे तो मेरी यह सेवा होगी इस प्रजाका भरण करनेवाले इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् प्रसन्न होंगे।।१२।।

पुत्रोंको ही पिताकी सेवा करनी चाहिये वह मेरी सेवा प्रजा रक्षण द्वारा ही होती है क्योंकि मेरा जो कर्तव्य है वह तुम कर रहे हो इसलिये ही कहा कि भगवान्‌का कार्य करना महती भगवत्सेवा है यों पहले कह चुका हूं इस कारणसे मुझे जो प्रजा उत्पन्न करनी है और पालन करनी है वह तुम ही कर रहे हो यह ही मेरी बड़ी उत्तम सेवा है, इससे भगवान् प्रसन्न होंगे यों कहते हैं 'भगवांस्ते प्रजाभर्तुः' प्रजाके पालक तुम पर भगवान् प्रसन्न होंगे क्योंकि प्रजा रक्षण भी राजाका धर्म होनेसे अर्थात धर्म है इस धर्मके पालन करनेसे भगवान् प्रसन्न होंगे इस प्रसन्नताकी युक्तिपूर्वक पुष्टि करते हैं कि भगवान् इन्द्रियोंके स्वामी हैं सर्व इन्द्रियोंकी प्रजाओंका उत्पादन और रक्षणमें सार्थकता(उपयोगिता) होनेसे उनके

स्वामी अवश्य प्रसन्न होंगे ही, वह भी साधारण बात नहीं है परन्तु पूर्ण है इसलिये 'परितुष्यति' पद दिया है।।१२।।

यदि मनुके हृदयमें यह शंका उत्पन्न होवे कि प्रजाएं तो खुद और उनकी इन्द्रियां भोग प्रवृत्तिरूप हैं और प्रवृत्ति संसारमें फसनेका कारण है, अर्थात् फसानेवाली है इसलिए प्रसन्न होकर फल तो भगवान् सांसारिक ही जो देंगे जिससे मुक्तिकी सिद्धि नहीं होगी इस प्रकारकी सेवा जो मुक्तिका साधन न होकर उसमें रुकावटवाली है ऐसी प्रजाकी उत्पत्ति करनेसे क्या लाभ? ऐसी शंकाको निम्न श्लोकमें मिटाते हैं:

येषां न तुष्टो भगवान् यज्ञलिङ्गो जनार्दनः।
तेषां श्रमो ह्यपार्थाय यदात्मा नादृतः स्वयम्।।१३।।

'यज्ञलिङ्गः' जनार्दन भगवान् जिन पर प्रसन्न नहीं हुए हैं उनका किया हुआ सकल परिश्रम व्यर्थ है क्योंकि उसने स्वयं भगवान् जो कि सबकी आत्मा है उसका आदर नहीं किया है।।१३।।

जिनका जन्म इस सृष्टिलीलामें हुआ है उन पर हृषीकेश, जो इन्द्रियोंके स्वामी भगवान् हैं वह जब प्रसन्न होते हैं तब सृष्टि उत्पन्न करने और रक्षा करनेके अनुकुल कृत्य करते हैं यदि उनके विपरीत करते है गर्भ विरोधादिकृत्य जिससे सृष्टि उत्पत्ति और रक्षामें विघ्न पड़ते हैं उनसे अप्रसन्न होते हैं प्रभु आत्माके अप्रसन्न होने पर सर्वनाश होता है क्योंकि वह आत्मा षड़ैश्वर्य सम्पन्न होनेसे भगवान् हैं, उनके अप्रसन्न होनेसे जैसे ऐश्वर्यादि नाश हो जाते हैं वैसे ही ज्ञानादिकी भी सिद्धि नही होती है अर्थात वे भी प्राप्त नहीं होते हैं, यदि हैं तो नाश हो जाते हैं ज्ञानादिनाश हो गए तो मोक्ष होना तो दूर हुआ ही किन्तु जिस भगवान्के प्रसन्न होनेके चिन्ह 'यज्ञ' है वे अप्रसन्न हुवे तो यज्ञ करने पर भी उसका फल नहीं मिलेगा तब ''नाऽयं लोकोस्त्ययज्ञस्य'' इस शास्त्र वचनानुसार इसलोक और परलोकके फलकी सिद्धि भी नहीं होगी किञ्च भगवान् जनार्दन हैं वे अविद्याको नाश करनेवाले हैं अप्रसन्न होने पर अविद्या भी नाश नहीं होगी, अतः मोक्ष भी नहीं होगा यों ज्ञानका अभाव और क्रममुक्तिमें लोकाभाव भी होगा.

अविद्या नाश नहीं होनेसे मुक्ति नहीं मिलेगी. जिससे उन मनुष्योंने मुक्तिकेलिये एवं परलोक प्राप्तिकेलिये जो कुछ श्रम किया वह सर्व व्यर्थ हुआ उसको हेतु देकर सिद्ध किया ही है.

धर्म–कर्म करने पर वे व्यर्थ केसै जायेगे ? उपपत्ति(सिद्धि) हेतुसे विचार न किया जावे तो भी धर्मकी उत्पत्ति हुई है इसलिए फल तो होगा ही, ऐसी शंकाका निवारण करनेकेलिये कहते हैं 'यदात्मानार्हतास्वयं'की जिस स्वयं(खुद) ने आत्माका आदर नहीं किया है अर्थात् उसको प्रसन्न नहीं किया है वह कृतघ्न है क्योंकि जिस आत्मा ने इतनी कृपा की है उसका आदर नहीं किया है, अतः ''न हि कृतघ्ने धर्मोऽस्ति'' इस शास्त्र वाक्यानुसार कृतघ्नमें धर्म रहता ही नहीं है आत्मा और अनात्माके विरोधमें आत्मा ही बलवान मानी जाती है 'अन्तरङ्ग–बहिरङ्ग' न्यायानुसार भी आत्मा बलवान है, मुख्य और गौण न्यायसे भी आत्मा बलवान है क्योंकि सर्वकी आत्मा ही अर्थरूप है ''अर्थद्रव्यविरोधे अर्थो बलीयान्'' अर्थ और द्रव्य(वस्तु)के विरोध अर्थ ही बलवान माने जाते हैं इस न्यायसे भी आज्ञाके अनादर करने पर देह आदिसे धर्मकी सिद्धि नहीं होती है, जैसे विक्षेपवाली जिनकी इन्द्रियां हैं उनका शरीर धर्म फलदायक नहीं होता है इसी तरह यदि मन विक्षिप्त होता ऐन्द्रिय(इन्द्रियोंका) धर्म फलदायक(आनन्द दायक) नहीं होता हैं वैसे ही भगवद्विमुखका कोई धर्म सिद्ध नहीं होता हैं.

जो देहादिके अनुरोधसे अथवा लोकके अनुरोधसे कोई प्रतिबन्ध हो जिससे भगवान्का आदर न बन सके तो, इसमें उनका ही दोष है भगवान् उनको ही दण्ड देंगे जो स्वयंने आत्माका आदर नहीं किया हो तो स्वयं दण्ड्य होगा 'स्वयं' यह अस्पष्ट है स्वतः ही यदि कोई भी भगवान्को नहीं मानता है तो उसका सर्वनाश होगा ही यह सर्वका संग्रह अर्थात सारांश है।।१३।।

मनुने यह प्रार्थना सत्य लोकमेंकी थी एवं सत्यलोकमें स्थित ब्रह्माने ही मनुको वैसी आज्ञा दी थी. वह आज्ञा देते समय पृथ्वीका डूबना नहीं जानते थे बिना इस ज्ञानके ही आज्ञा दे दी कि पृथ्वीका पालन आदि करो, तब पृथ्वीका डूबना मनु इस श्लोकमें बताते हैं:

आदेशोऽहं भगवतो वर्तेयाऽमीवसूदन !।
स्थानं त्विहाऽनुजानीहि प्रजानां मम च प्रभो।।१४।।

हे पापशमन करनेवाले! मैं आपकी आज्ञाका पालन करूंगा किन्तु हे प्रभु! मेरे और प्रजाओंके रहनेका स्थान बताइये।।१४।।

मैं तो आप भगवान्की आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर हूं परन्तु हे पापनाशक! अमीव अर्थात् पापके 'नाशक'(नाश करनेवाले) मुझे और प्रजाके

रहनेकेलिये सत्यलोकमें स्थान दीजिये क्योंकि मेरे और मेरी प्रजाके रक्षाके रक्षणमें आप ही समर्थ हैं इसलिये प्रभो! विशेषण देकर समर्थता प्रकट की है।।१४।।

यहां सत्यलोकमें स्थान क्यों मांगते हो? इस पर कहते हैं कि पृथ्वी तो जलमें मग्न है:

यदोकः सर्वसत्त्वानां मही मग्ना महाम्भसि।
अस्या उद्धरणे यत्नो देव! देव्या विधीयताम्।।१५।।

सकल प्राणधारियोंके रहनेका स्थान जो पृथ्वी है, वह प्रलयजलमें डूबी हुई है. हे देव! पृथ्वीको जलसे निकाल लानेका प्रयत्न कीजिये क्योंकि वह देवी है।।१५।।

सर्व प्राणी मात्रके रहनेका जो स्थान पृथ्वी है वह जलमें डूब गई हैं किन्तु वह महान् जल वा प्रलय जल है अतः उससे बाहर लानेका प्रयत्न कीजिये, देव! इस सम्बोधनसे यह सूचना की है कि सत्यलोकके दान करनेसे भूमिदान करना उत्तम है अतः उसके उद्धारमें प्रयत्न कीजिये कारणकि भूमि, देवयजन करनेका साधन है उस पर ही यज्ञ किये जा सकते हैं, आपने उसको उत्पन्न किया है इसलिये वह(भूमि) ही देव यजन कहलाती किञ्च आप ही पृथ्वीदेवीके आदि वराह कल्पमें ब्रह्माने ही उद्धारकर पुष्कर(कमल)पत्र पर उसको स्थापित किया है इसीसे चाहे सत्यादि लोकमें स्थान दीजिये अथवा भूमिके उद्धारमें प्रयत्न कीजिये दोनों कार्योंमेंसे भूमिके उद्धारमें यत्न करना उत्तम है इसलिये यत्नकेलिये 'वा' शब्द नहीं दिया है.

इस विषयमें यहां तीन श्लोक संगतिरहित हैं, १.मैत्रेय वचन २.ब्रह्माके दो वचन 'पीतं मया जलं' ३.सरी सृपा।।१५।।

इस प्रकारका मनु वचन सुनकर उसके वचनोंकी परीक्षा करनेकेलिये ज्ञान दृष्टिसे पृथ्वीको देखा, उसको दुःखी देखकर ब्रह्माने जो किया, मैत्रेयजी वह निम्न श्लोकमें कहते हैं:

मैत्रेय उवाच

परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम्।
कथमेनां सुमुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम्।।१६।।

मैत्रेयजीने कहा ब्रह्माने पृथ्वीको जलमें वैसे डूबती हुई देख बुद्धिसे बहुत समय विचार करने लगे कि मैं इसको जलसे किस तरह निकालूं।।१६।।

स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां स्वतो युक्तिविचारणम्।
भगवत्येव भारस्य स्थापनं चिन्तितं स्थिरम्।।का.१।।

ब्रह्मा युक्तिपूर्वक विचार करने लगे कि इसका उद्धार किस तरह किया जाये मैं खुद स्वतन्त्रतासे करू वा परतंत्रतासे करूं? अन्तमें यही पक्का निश्चय किया कि भगवान्के इस कार्यका भार रखना चाहिये।।१।।

पहले ब्रह्माने आगेकी तरह अपनी सामर्थ्यसे उद्धार करनेका विचार किया. क्योंकि आप परमेष्ठि अर्थात् बड़े सिंहासन पर विराजते हैं 'तु' शब्दसे सूचित करते हैं 'सत्य'लोकमें स्थान और दान दोनों पक्षोंका निषेध करते हैं 'अपां मध्ये तथा सन्ना' पदसे कहते हैं कि पूर्वकालमें पृथ्वीकी यह अवस्था हुई थी, उस समय मैं पुष्कर(कमल)पत्र पर बैठा था, मुझे नालका आधार था और नालका भगवदाश्रय था तब वहां रसातलसे लाकर पुष्करपत्र पर स्थापितकर दी अब तो सत्यलोकमें स्थित हूं. उसका उद्धार कैसे कर सकूंगा जलसे ऊपर कैसे ला सकूंगा और स्थित करूंगा यह चिन्ता हो रही है, पहले तो परमेष्ठिपन सिद्ध था जिससे चिन्ता करने पर यज्ञादि साधन सिद्ध हो मनमें प्रादुर्भूत हो जाते थे, वैसे अब भी होंगे इसलिये कालकृत दोषोंके परिहारार्थ विशेष समय तक ध्यान करने लगे, वह ध्यान भी विवेकबुद्धिसे ऐसा करने लगे जैसे सर्वप्रकार साधन स्फुरण ही हो जावे।।१६।।

तो भी साधन स्फूर्ति न होने पर अपनी स्वतन्त्रता छोड़ भगवान्की आधीनता तथा उनकी कृपासे साधनकी स्फूर्ति होगी, या उपालम्भ(उलहाने)की तरह ब्रह्माके चिन्तनका दूसरा प्रकार मैत्रेयजी इस श्लोकमें कहते हैं:

सृजतो मेऽक्षिभिर्वाग्भिः प्लाव्यमाना रसां गता।
अथाऽत्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः।।१७।।

इन्द्रियोंसे वाणियोंसे मैं सृष्टिकर ही रहा था इतनेमें पृथ्वी डूबती हुई धीरे-धीरे रसातलमें चली गई अब सृष्टि निर्माता हम लोगोंको इस विषयमें क्या करना चाहिये।।१७।।

पहले इस भूमिको स्थापित करके भी दिखाया था किन्तु फिर भारके कारण डूब गई, भारका क्या कारण था इस पर कहते हैं कि मैं इन्द्रियोंसे और वाणिओंसे सृष्टि रचनाकर ही रहा था, इन्द्रियों एवं वाणिओंका अभिप्राय स्त्री तथा पुरुष है, इस प्रकारकी(युगलकी) सृष्टि उत्पन्नमें प्रायः दैत्यांश ही उत्पन्न हो गये,

वे ही पृथ्वी पर भाररूप थे यों पूर्वमें भी कहा है आगे भी बताएंगे, इस कारणसे ही जलमें डूबती हुई रसातलमें गई यों कैसे जाना? इस पर कहते हैं कि उस(पृथ्वी) का एक किनारा(कुछ कोणरूप)से बाहर निकला हुआ था. 'अथ' पदसे कहते हैं कि यों हो गया तो अब मुझे इस विषयमें क्या करना चाहिये जो सृष्टि उत्पन्न करनेकेलिये उत्पन्न हुए हैं वे बिना उसकी रचनाके शान्त रह नहीं सकते हैं क्योंकि 'ह्यस्मदादी' इनके उत्पन्न होनेका कारण सृष्टि करनी ही हैं।।१७।।

इसी परतन्त्रतासे की जावे वो विचार करते हुए भी यदि कोई उपाय ध्यानमें न आया तब भगवान् पर ही भार धरा, इस श्लोकमें जिसका हेतु कहते है:

यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे।
कर्तव्यं करुणासिन्धुः तीर्थकीर्तिरधोक्षजः।।१८।।

जिसके हृदयसे मैं पैदा हुआ हूं जो करुणासिन्धु तीर्थरूप है, वह अधोक्षज(इन्द्रियातीत) ईश मेरा कर्त्तव्य पूरा करे।।१८।।

जिनके हृदयसे मैं उत्पन्न किया गया हूं, उन्होंने यह विचारकर कि सर्गोत्पत्तिकेलिये ही इसको उत्पन्न करता हूं, क्योंकि इससे ही वह कार्य सिद्ध होगा यों पहले ही सोचकर मुझे(ब्रह्मा)को सृष्टिमें लगाया इससे जाना जाता है यदि यह कार्य मुझसे होना कठिन होगा तो स्वयं भगवान् ही करेंगे कारणकि उन्होंने पहले ही विचारकर रखा होगा कि यह असमर्थ है अतः यह कार्य भी मैं ही करूंगा क्योंकि ईश(समर्थ) हूं. समर्थको ही करना चाहिये न कि अशक्त (सेवक)को करना चाहिये, यह नियम है, दोनों समर्थ होवे तो सेवकको करना चाहिये.

यहां(इस कार्य करनेमें) तो वे ही ईश(समर्थ) हैं इसलिये मेरा कार्य सिद्ध करें. लोकमें तो देखा जाता है कि सेवक अशक्त होता है तो भी वही कार्य करता है समर्थ स्वामी होते हुए भी आराम लेता है, कार्य नहीं करता है, इस पर कहते हैं कि आप तो दयाके सिन्धु हैं आप समझते हैं कि कार्य करनेमें सेवकको अतिकष्ट होगा क्योंकि अशक्त है अपनेको तो कार्य करनेमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा यों जब विचारसे जानते हैं तब स्वतः करुणाकर स्वयं करते हैं कारणकि परदुःखसे दुःखी होते हैं एवं परदुःख सहन भी नहीं कर सकते हैं. लोकमें दयावाला भी यदि ऐश्वर्यवाला होता है तो अशक्त सेवकोंसे ही कार्य कराता है यदि उनसे कार्य न करावे तो उसका ईशत्व ही न रहे, इस शंकाके निवारणकेलिये कहा है कि आप

'तीर्थकीर्तिः' हैं यद्यपि करुणासिन्धु विशेषणसे शंका मिट गई तो भी दृष्टान्तकेलिये यह विशेषण दिया है प्रभुकी कीर्ति तीर्थरूप है–जैसे तीर्थ सबके पापोंको दूरकर अपनेमें धर लेते हैं यों जानकर भी अपनी कीर्तिको तीर्थरूप बनाया है, अर्थात् जो मनुष्य आपकी कीर्तिगान करेगा उसके पापको कीर्ति द्वारा आप ग्रहणकर उस मनुष्यको शुद्ध पवित्रकर देंगे अतः जैसे आप यह कार्य स्वयं करते हैं वैसे भूमिका उद्धार भी स्वयं करेंगे यह भाव हैं, किञ्च भगवान् अधोक्षज हैं अर्थात् इन्द्रियज्ञानसे वे जाने नहीं जा सकते हैं इन्द्रियातीत होते हुए भी सर्वके सकल इन्द्रियोंका हित ही करते हैं स्वयं ज्ञानरूप होकर मोक्ष भी देते हैं, अथवा आप व्यवहारातीतत्व है अतः लोगोंके उद्धारकेलिये कीर्तिको ही यह कार्य दे दिया है, यों करनेका कारण अधोक्षजत्व है।।१८।।

इस निम्न श्लोकमें कहते हैं कि यह पक्ष फल प्राप्त करनेवाला हुआ:

इत्यभिध्यायतो नासाविवरात् सहसाऽनघ !।
वराहतोको निरगाद् अङ्गुष्ठपरिमाणकः।।१९।।

हे निष्पाप! इस प्रकार ब्रह्माने विचार करते हुए ही उसके नासिकाके छेदसे अंगुष्ठ परिमाणवाले वराह बालस्वरूपसे प्रभुने दर्शन दिये।।१९।।

इस प्रकारसे ब्रह्मा चारोंतरफ ध्यान करता था कि वे भगवान् ही यह कार्य करेंगे, यो निर्णय कर वैसे ही चित्तको दृढ बनाकर वैसी ही भावना करता हुआ क्षण–क्षणमें यों ही सोचता था कि भगवान् कब किस रूपसे यह कार्य करेंगे, तब इसी ही कार्यमें प्रविष्ट चित्तसे यज्ञरूप भगवान्के ध्यान करते हुए, क्रिया करनेका स्थान न होनेसे, आध्यात्मिकरूप प्रकट न कर आधिदैविकरूपसे प्रकट हुए, क्रिया भी उस आधिदैविक स्वरूपमें ही स्थित हुई इससे पहले वराहावतारसे पहले यज्ञका स्वरूप आध्यात्मिक ही था, वह यज्ञ तीन प्रकारसे सिद्ध होता था १.यजमान स्थित प्रयत्नसे २.वैदिकज्ञानसे और ३.ध्यानमें दर्शन दिये हुए स्वरूपसे, वह तीन प्रकारका आध्यात्मिक भी एकरूप आधिदैविक भगवान् वाराह हैं उनकी क्रियासे ही यजमानकी क्रिया सर्वयज्ञात्मक अधिकरण(सर्व सामग्री) सहित यज्ञस्वरूप तो वे ही हैं वेद भी इस स्वरूपमें अन्तर्हित(छिपा हुआ) है, यों जतानेकेलिये ब्रह्माके श्वासमार्ग(नासाछिद्र)से प्रकटे, श्रुति भगवती जैसे कहती है कि ''निःश्वसितम् अस्य वेदा'' वेद इनके श्वास हैं. 'वराह' पदका भावार्थ है वरों(कामनाओं)को पूर्ण करनेवाला 'वराह' कहलाता है वह

आधिदैविक वराह बालरूपसे दर्शन दे रहे हैं यह बाल होते हुए भी फल सिद्धि करनेवाले हैं आध्यात्मिकादि रूपोंमें तो अवयवत्व है अतः उनमें जो प्रबुद्ध होता है वह फल देता है एकदेशत्व होनेसे फलद है यह आधिदैविक वराह बाल स्वरूपसे भी फल दे सकते हैं क्योंकि फलसहित होनेसे दे सकते हैं 'सहसा' पदसे यह सूचित किया है कि यह स्वरूप, ध्यानांशवाला नहीं है, यों न होवे तो एक अंशसे भी इस स्वरूपमें आध्यात्मिकता आजावे. हे अनघ! यह सम्बोधन विदुरजीको विश्वास आवे इसलिये दिया है, विदुरजी निष्पापी हैं इसलिये विश्वास करेंगे किन्तु वह पापी किसी भी अंशसे विश्वास नहीं करेगा उसके रूपको कालसार(कालाधिदैविक)का ईश्वररूपत्व जतानेकेलिए उत्पत्ति समय अङ्गुष्ठके पर्व जितने प्रमाण जितने ही प्रकट हुए जैसे कि श्रुतियां कहती हैं ''**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो अङ्गुष्ठं च समाश्रितः**'' ''**ईशः सर्वस्य जगतः**'' ''**प्रभुः प्रीणाति विश्वभुग्**'' यों श्रुतियों द्वारा ही अङ्गुष्ठमात्र प्रमाणवाले स्वरूपका ही विश्व भोक्तृत्वम् तथा ईशत्व कहा गया है, यज्ञस्वरूप ही विश्वभोक्ता है, उसकेलिये ही सकल अन्न एवं सर्वपशु हैं 'अङ्गुष्ठ' पद, सर्वत्र अङ्गुष्ठके शिरोभागको कहता है।।१९।।

इस प्रकार उत्पत्तिसे आधिदैविकका स्वरूप कहा ज्ञानसे स्वरूप कहनेकेलिये उस स्वरूपका भगवत्व बतानेके वास्ते कहते हैं कि इस स्वरूपके कालादि परिच्छेदक नहीं है अतः सूक्ष्मस्वरूप हैं उसी सूक्ष्मस्वरूपकी इस श्लोकमें स्थूलता निरूपण करते हैं:

तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत!।
गजमात्रं प्रववृधे तदद्भुतम् अभूद् महत्।।२०।।

हे भारत! उसके देखते हुए आकाशमें स्थित वह वराहका बालक निश्चयसे हाथी जितना बढ़ गया वह बहुत अद्भुतलीला हुई।।२०।।

वह ब्रह्मा चारोंतरफ देख रहा था बिना जवनिका(पर्दे) दिए हुए उस वराह ने दूसरा बड़ारूप ग्रहणकर लिया जो कि लोकके पर्देके सिवाय नहीं होता वह पहलारूप अंगुष्ठमात्र था जिससे हाथी जितना हो गया पहले रूपको छिपा लिया यों नहीं, क्योंकि आकाशमें स्थित था एवं क्षणमात्रमें गज सा महान् बन गया, आकाशमें स्थित होनेसे किसी प्रकारका आवरण नहीं हो सकता था लौकिक काल भी व्यतीत न हुआ आवरण भी नहीं था तो भी वृद्धि हो गई यह

वराह बालक आकाशस्थ होनेसे [१]ककड़ीकी तरह नहीं बढ़ा था, तथा सामुद्रिक [२]पक्षीके अण्डेकी तरह भी नहीं बढा था इसलिए आकाशस्थ एवं क्षणमात्रमें बढ गया यों कहा है सो तो प्रसिद्ध है इसमें प्रमाण कहनेकी आवश्यकता नहीं है भारत! यह संबोधन विश्वासके लिए दिया है इसी तरह माहात्म्यज्ञानपूर्वक श्रोताके दोषका परिहारकर अब स्थूल रूप कहते हैं 'गजमात्रं प्रववृधे इति' हस्ती जितना साठ वर्षका हो गया अथवा वैष्णवशास्त्रमें प्रसिद्ध गजेन्द्र मात्र पदसे उसको निश्चितता बताई गई है, नहीं तो दूसरे क्षणमें उससे भी उतना और बढ़ जावे, इन्द्रिय और अर्थके संयोगमें क्षण बीत जानेसे एकक्षण कहना व्यर्थ हो जावे, इसलिये 'प्रववृधे' पदसे बताया है सर्व अवयवोंमें एक ही क्षणमें यथायोग्य वृद्धि हो गई यही अद्भूतता थी.

जहां देखते हुए हो कोई युक्ति ध्यानमें न आई और कार्य होना दिख रहा था वह ही अद्भुत था 'महत्' पदसे यह सूचित किया है कि वह कार्य महान् होनेसे जैसे समुद्र सम्पूर्ण नहीं दिखता है कि कितना है वैसे भगवान्का शरीर सम्पूर्ण कितना है वह देखनेमें नहीं पाया।।२०।।

१.ककड़ीकी बेलकी तरह एक रातकी अवधिमें नहीं बढ़ा था परन्तु क्षणमात्रमें बढ़ा.

२.समुद्री पक्षी उड़ते-उड़ते अण्डे देता है वह अण्डा नीचे पहुंचनेके पहले ही फूटकर उसमेंसे पक्षी निकलकर उड़ने लग जाता है उतना समय भी वराह बालकको बढ़नेमें नहीं लगा-प्रकाश.

तब वस्तुके निर्णय करनेकेलिए ये विचार करने लगे यों इस श्लोकमें कहते हैं:

मरीचिप्रमुखैर्विप्रैः कुमारैर्मनुना सह।
दृष्ट्वा तत्सौकरं रूपं तर्कयामास चित्रधा।।२१।।

ब्रह्मा वैसे सूकर स्वरूपको देखकर, मरीचि जिनमें मुख्य है वैसे ब्राह्मण तथा कुमार एवं मनुके साथ अनेक प्रकारसे तर्क करने लगा।।२१।।

वहीं तीन प्रकारके ब्रह्मा पुत्र थे १.ब्राह्मण, २.क्षत्रिय ३.यज्ञोपवीतवाले सनकादि कुमार, जिनमें मरीचि ही ब्राह्मणोंमें मुख्य था. यज्ञोपवीत अष्टमवर्षमें होता है वे सनकादि तो पांच ही वर्षके थे भगवद् स्मरणसे गिनि हुई क्षणोंसे पांच वर्ष आयु होती है, कर्म नियामक काल वह है जिसमें देहोपभोग हुआ हो अतः पांच वर्षके होनेसे अनुपनीत थे जो विशेष प्रकारसे पूर्ण करते हैं वे ब्राह्मण 'विप्र'

कहलाते है. मनु क्षत्रिय था. इसी तरह तीनमार्गोंमें स्थित सबके साथ अनेक प्रकारसे जुदी-जुदी तरह, ब्रह्मा तर्क करने लगे. 'धा'प्रत्यय व्याकरण नियमानुसार संख्याके नानात्व दिखानेकेलिए दिया जाता है वह सूकररूप कैसा है, वराहरूपकी लोकमें निन्दा है, क्योंकि जैसे मधु और कैटभ दैत्यकी उत्पत्ति मलसे हुई है वैसे ही इस वराहकी भी मलसे उत्पत्ति हुई होगी वराह दैत्य है यह भी श्रुतिसे सिद्ध है जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि '**वराहोऽयं वाममोषः**' यह 'वराह' देवद्रव्यका चोर है और '**पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः**' पशुओंका जो क्रोध है वह वराह है अतः यह वराह पशुओंके क्रोधका अवतार होगा इसी तरह ब्रह्मा मरीचि आदिकोंसे अनेक प्रकारसे तर्क करने लगे 'तर्क' पदका अर्थ है जो पदार्थ प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा हो उसका उपपत्तिपूर्वक(युक्तिपूर्वक) निर्णयकर निश्चय करना जिस पदार्थकी कल्पना करने पर दृष्ट अर्थ सिद्ध हो जावे वहां(अर्थात् चालू विषयमें) कोई भी पक्ष सिद्ध नहीं हुआ इसलिए 'चित्रधा' यों कहा है।।२१।।

जब लोक एवं वेदानुसारी तर्क पदार्थनिर्णय नहींकर सका तब ब्रह्माने अलौकिक प्रकारसे पदार्थका निर्णय करनेका विचार किया वह कहते हैं:

किमेतत् सूकरव्याज सत्त्वं दिव्यम् अवस्थितम्।
अहो बताश्चर्यम् इदं नासाया मे विनिःसृतम्।।२२।।

अहो! वराहके आकारवाला कौनसा दिव्य प्राणी आकाशमें स्थित है जिससे खेद और आश्चर्य दोनों हो रहे हैं क्योंकि ऐसा दिव्यरूप मेरी नासिकासे प्रकट हुआ है।।२२।।

सूकराकार तो केवल व्याज(मिष) है, वस्तुतः यह अलौकिक सत्त्व है न कि प्राकृत है, इसका अलौकिकपन बताते हैं 'अहो' पद आश्चर्यसूचक है और 'बत' खेद प्रकट करता है. तेज तथा प्रागल्भ(चालाकी) आदि देखनेसे मालूम होता है कि हम लोगोंसे भी विशेष अलौकिक तेजादि इसमें है इससे जाना जाता है कि कुछ कारणभूत अलौकिकता ही यह है किन्तु इसकी सूकरता अतिआश्चर्य प्रदर्शित करती है फिर खेद इसकी महत्ता और निरूपतासे होता है, दूसरा आश्चर्य प्रकट करते हैं काल, कर्म और स्वभावसे महान् भी हीनभाव हो जाता है तो भी यह अति आश्चर्य है जो ही मेरे नासापुटसे ये प्रकट हैं. पुरुषसे सूकर पैदा नहीं होते हैं उसमें भी फिर नासिकासे, इससे यों सूचित किया है कि उत्पत्ति स्थान(योनि) भी विजातीय नहीं है अर्थात् लौकिक(सूकर) न होकर अलौकिक है।।२२।।

अन्य(दूसरा) आश्चर्य इस श्लोकमें बताते हैं:

दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलोपमः।
अपि स्विद् भगवानेष यज्ञो मे खेदयन् मनः।।२३।।

अङ्गुष्ठके शिरो भाग मात्रसे जो पहले देखनेमें आये वे ही एकक्षणमें पर्वतसे गिरी हुई बड़ी-बड़ी शिला जैसे बन गये, निश्चय वास्तवमें यह यज्ञ भगवान् ही मेरे मनको खिन्न करते हुए लीलाकर रहे हैं।।२३।।

अङ्गुष्ठ(अंगुठे)का शिर उत्तम भाग है इतना ही इसके आकारका प्रमाण देखा गया है यों पहले दर्शन हुए, प्राकट्यका स्थान नासापुट भी इतना था इसलिये उसकी उपपत्ति(हेतुपूर्वकयुक्ति) बताई, अथवा ब्रह्माका ज्ञान कालादिसे अतीत इन्द्रियोंके विषयवाला होनेसे उसने समझ लिया अतएव कहा कि 'क्षणात्' क्षणमें ही ब्रह्माका वाक्य होनेसे लौकिक न्यायसे थोड़े समयमें विचारा हुआ नहीं है. पहाड़से जो स्थूल शिलाए गिरती हैं उनको गण्डशिला कहते हैं उनके समान वह आकार हो गया यों बहुत बड़े भारवाला है. यह जड़ पर्वतका दृष्टान्त आप (ब्रह्मा)के खेदकी सूचना देता है कारण कि स्वयं(ब्रह्मा) पर्वतरूप ही उसकी पांख वज्रसे कट जावे तो खेद ही उत्पन्न होता है इसी तरह आश्चर्य और खेद क्रमसे निरूपण किये इसी तरह अलौकिक प्रकारसे भी तर्क द्वारा पदार्थका निर्णय नहीं हो सका तब बीज क्या है? इसके तर्कसे निर्णय किया न कि प्रयोजनका दिव्य (अलौकिक) सत्व(प्राणी)का चालू विषयमें कोई प्रयोजन है. भूमिके उद्धारार्थ भगवान्का ध्यान किया जिससे वह(भगवान्) ही भूमिके उद्धारकेलिये इस प्रकारके रूपसे प्रकट हुए हैं. पुरुषोत्तम प्रभुका लोक और वेदमें निन्दित इस रूपमें प्रकट होनेका क्या कारण है इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'मे खेदयन् मनः' मेरे मनको खेदित करना ही कारण है 'अपि' शब्द सम्भावना अर्थमें दिया है, 'स्वित्' शब्द निश्चयके अर्थमें दिया है पहले बहुत पक्षोंके अनुमानपूर्वक विचार किये, किन्तु अन्तमें यह पक्ष ही निर्णीत हुआ, अतः भगवान् परमेश्वर हैं, उनके अनेक रूपोंमेंसे यह 'यज्ञ'रूप ही हो सकते हैं, क्योंकि वर्तमान कार्यकेलिये यह उपयोगी हैं, आकृतिसे काल और क्रोधके रूपवाले होनेसे दैत्यत्वकी सम्भावना हो सकती है, यों नहीं होवे तो दैत्यका वध न बने, कारणकि मर्यादामार्गमें यह ही नीति है कि क्रूरसे क्रूरका नाश किया जाता(होता) है, यह भूमि यज्ञरूप है, वराह भी यज्ञरूप है इसलिये उस स्वरूपसे ही इसकी रक्षा हो सकती है. भूमि पर यज्ञ करनेकेलिये

जो वेदी चाहिये वह दैत्य है अतः जब दैत्य वध करके लाया जाय तब देवोंका यज्ञ पूर्ण होता है.

ब्रह्माने ही सबको अधिकरणसहित यज्ञ दिये हैं, उन(असुर और देवोंके यज्ञों)के धनका चोर वराह हैं, वराह अब देवपक्षमें हैं, अतः वध नहीं किया, जब शत्रुपक्षमें होगा तब वध करने योग्य होगा. इस कारणसे इस प्रकारका रूप अवश्य धारण करना पड़ा है यों ब्रह्माको उपालभ्य देनेकेलिए यज्ञ भगवान्ने ही वराहरूप धारण किया है इसके सिवाय दूसरा कोई भी [१]बीज प्रयोजनको उत्पन्न करनेवाला हो नहीं सकता हैं।।२३।।

१.पृथ्वीको रसातलसे ले आना यह 'बीज' है बीज और प्रयोजन भगवान् ही सिद्धकर सकते हैं–प्रकाश.

यह भी एकपक्ष है. कार्य पूर्ण होकर फलका निश्चय होने तक ब्रह्माको विचार हो रहा, यह इस श्लोकमें कहते हैं:

इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जाऽगेन्द्रसन्निभः।।२४।।

ब्रह्मा पुत्रोंके साथ विचारकर ही रहे थे तब उस उत्तम पर्वतके समान भगवान् यज्ञपुरुष ने गर्जना की।।२४।।

वराह–हरि हैं, इसलिये दुःख हरण तथा गर्जना करना इनका स्वभाव है, अतः आपने(भगवान्ने) देखाकि ब्रह्मा मरीचि आदि पुत्रोंसे विचारकर रहे हैं किन्तु शीघ्र विचारसे कोई निर्णयकी उपपत्ति नहीं हो सकी है यों उनका हृदय जानकर भगवान् यह पुरुष(वराहरूप भगवान्) स्वभावानुसार गर्जना करने लगे. पहले पर्वतकी शिलाके समान भी फिर, वैसे ही बढ़ते हुए मेरु पर्वतके समान हो गये. भगवान् हैं अतः ऐश्वर्यादि प्रकट होनेसे हेतुकी स्फूर्ति न हुई अर्थात् अधिक बढ़नेसे प्रकट ऐश्वर्यादि गुणोंको छुपा न सके यज्ञांशमें वराहरूपता अधिष्ठाताके रूपमें तो पुरुषत्व था, इससे अर्धपुरुष वराह थे इससे ब्रह्माको आपने अपना पुरुषरूप भी दिखाया जिससे ब्रह्माका खेद भी प्रायः मिटा दिया, जैसे मेघसहित पर्वत गर्जता है, वैसे ही भगवान्ने अकेले ही गर्जना की, यह 'सं' शब्दका भावार्थ है।।२४।।

इस कारणसे ब्रह्माको हर्ष हुआ यों इस श्लोकमें कहते हैं:

ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान्।

स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः।।२५।।

सर्वसमर्थ प्रभुने दिशाओंमें प्रघोष करनेवाली अपनी गर्जनासे ब्रह्मा तथा उन द्विजोत्तमोंको हर्षित किया।।२५।।

'हरि' पदसे उनका स्वभाव प्रदर्शित किया है, 'तान्' पदसे यह प्रकट किया है कि उनको(परस्पर विचार विनिमय करनेवाले ब्रह्मा, मरीचि आदिको), ब्रह्माको दो तरहसे हर्ष हुआ कि इससे मुझे कार्यमें सहायक मिला और यह यज्ञ रूप हरि है इस ज्ञानसे दूसरा हर्ष हुआ. अन्य मरीचि आदिको एक प्रकारका हर्ष हुआ. इसलिये उनको पृथक् कहा है. उनको हर्ष क्यों हुआ? इस पर कहा है कि द्विजोत्तम होनेसे यह यज्ञ स्वरूप है इसलिये हर्ष हुआ. चौर्यकृत्य(चोरीके काम)के निराकरणकेलिए गर्जना की है, जैसे सर्वत्र दिशाओंमें प्रतिध्वनि पहुंचे, ऐसी ध्वनि कैसेकर सके जिस पर कहते हैं कि 'विभु' सर्वप्रकार समर्थ हैं।।२५।।

प्रसन्न होकर जो उन्होंने कार्य किया वह कहते हैं:

निशम्य तज्जेघर्घरितं स्वखेदक्षयिष्णु मायामयसूकरस्य।

जनस्तपः सत्यनिवासिनस्ते त्रिभिःपवित्रैर् मुनयोऽगृणन् स्म।।२६।।

सूकरको अपने खेदको नाश करनेवाली गर्जना सुनकर जन, तप और सत्य लोकवासी मुनियोंने पवित्र वेदत्रयीसे वराह स्वरूपकी स्तुति की।।२६।।

'घर्घरितं' घर्घर एक प्रकारकी गर्जनाकी ध्वनि है, यह सूकर जातिका अनुकर शब्द है. भाषामें 'घर' रहनेके स्थानको कहते हैं, इस ध्वनिसे यह सूचित किया है कि सर्वकेलिये घरों(मकानों)का प्रबन्ध करूंगा जिससे सर्व अपने घर बनाकर उनमें रहे अथवा शरीर एवं घर दोनों दूंगा यों करनेसे ही मेरा(ब्रह्माका) खेद नाशकर रहे हैं, सबकी स्थिति पृथ्वी पर ही होगी मनुष्योंको अन्नादिकी सिद्धि भी पृथ्वीसे ही होगी, अथवा सम्बन्धियोंके उद्धारके कारण वा अधिकारियोंका खेद मिटानेके कारण अथवा हमने जो अन्तिम निश्चय किया उसको स्वीकार करनेसे खेद निवृत्ति हुई.

पशुरूप धारणसे खेद निवृति कैसे हुई? इस पर कहा है कि 'मायामय सूकरस्य' दैत्योंको मोहित करनेकेलिये स्वेच्छासे रूपका दिखावा किया है क्योंकि यह वेदके कर्ममार्गमें अत्यन्त भ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं:

आलम्भने फले चैव यज्ञरूपे तथोद्गमे।

उपाख्यानेषु सर्वेषु भ्रमो वै जायते श्रुतौ।।का.१।।

आधिदैविकरूपेऽपि मोहकत्वं तथा सुरे।
यथा स्वस्मिन् नीचबुद्धिः ततोऽपि भगवत्युत।।का.२।।

जब यज्ञका स्वरूप वैसा प्रकट होता है तब वेदमें आलभन(पशुवध) एवं फल(यज्ञफल) सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न होता है।।१।।

जब यज्ञपुरुष भगवान् आधिदैविक स्वरूपसे प्रकट होते हैं तब भी असुरोंकी जैसी अपनेमें तीव्र बुद्धि होती है उससे भी विशेष नीच बुद्धि अपनेमें कराते हैं।।२।।

'सूकर' शब्दका अर्थ है प्रसव करनेवाला क्योंकि यह 'सूकर' पद 'षू प्रसवे' धातुसे बना है.

वेदा उत्पादिताः सर्वे मुक्त्यर्थं हीनभावताम्।
धारयिष्यन्ति समलास्ततः सूकर उच्यते।।का.३।।

सकल वेद तो मुक्तिकेलिए प्रकट किये हैं, किन्तु वे मलवाले हो हीन भावको प्राप्त करेंगे इस कारणसे सूकर कहलायेंगे।।३।।

जन, तप, और सत्यलोकके निवासी सात्त्विक कहे हैं. वे ही वह लोक प्राप्त करते है. इन तीन पवित्र वेदोंके मन्त्रोंसे मुनियोंने स्तुति की है, मुनियोंकी कथा तो भगवान्की प्रसिद्धि करनेकेलिये की है मनन करनेसे ज्ञान दृढ होता है 'स्मेति' का भावार्थ है कि यह प्रसिद्ध है।।२६।।

यों सर्वको जतलाकर जिस कार्यकेलिए अवतार धारण किया वह कार्य करने लगे जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

तेषां सतां वेदवितानमूर्त्तिः ब्रह्माऽवधार्यात्मगुणानुवादम्।
विनन्द्य भूयो विबुधोदयाय गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश।।२७।।

वेदमें कहे हुए समस्त यज्ञोंकेरूप भगवान्ने सत्पुरुषोंके अपने गुणोंका या फिर अनुवाद करते हुवे वेदका पूर्ण निश्चय किया, देवोंके उदयकेलिये, गजेन्द्रसम लीला करते हुए जलमें प्रवेश किया।।२७।।

स्तुति करनेवालोंके, यज्ञरूप भगवान्के गुणानुवादरूप वेदका निश्चय कर जलमें प्रवेश किया, वेदमें कहे हुए यज्ञोंके विस्तारवाली मूर्त्तिवाला अथवा जिसकी मूर्तिमें वेद विस्तृत है ऐसे भगवान् जैसे अनन्तरूप हैं वैसे वेद अनन्त शाखात्व है 'सतां' पदसे यह बताया है कि यों करनेमें तथा ज्ञानमें यही कारण है 'विनन्द्य' पदसे अभिनन्दन देना प्रकट किया है दुबारा अभिनन्दनका हेतु प्रत्येक

को अभिनन्दन देना है वेदकी तरह भगवान् भी दैत्यादिकोंका भी उपकार करेंगे क्या? इस शंका निवारणकेलिये 'विबुधोदयाय' देवोंके उदयकेलिये प्रकटे हैं. देवोंका ही उपकार करेंगे न कि दैत्योंका भी. भगवान् सर्वसमर्थ हैं एवं सर्वत्र गमन कर सकते हैं, तब पातालमें ही प्रकट होकर पृथ्वीको क्यों न ले आए? इस पर कहते हैं कि 'गजेन्द्रलीला' आपकी लीला गजेन्द्रके समान है वह कैसे? यहां गजेन्द्र जलमें प्रविष्ट हुआ और क्रीड़ा की, उसका अनुकरण करनेकेलिये अथवा गजेन्द्रका भक्तत्वप्रकट करनेकेलिये गजेन्द्रने भगवान्की ही लीला की थी।।२७।।

एका भगवतो लीला नानाकार्यप्रवर्तिका।
भक्तानां सर्वसौख्यार्थं लीलां चक्रे तथाविदाम्।।का.१।।

भगवान्की एक लीला अनेक कार्योंकी सिद्धि करती है भक्तोको सर्व प्रकारके सुख देनेकेलिए वैसे प्रकारकी लीला की है।।१।।

स्वरूप तथा क्रियाके वर्णनके भेदसे उस समयकी लीला सहित भगवन् मूर्त्तिका निम्न दो श्लोकोंमें वर्णन करते हैं उसमेंसे पहले स्वरूपका वर्णन करते है:

उत्क्षिप्तबालः खचरः कठोरः सटा विधुन्वन् खररोमशत्वक्।
खुराहताभ्रः सितदंष्ट्रवीक्षाज्योतिर्बभासे भगवान्महीध्रः।।२८।।

पूंछको ऊपरकर रखा है आकाशमें फिर रहें हैं भयानक केसरी सिंहका धुन्वन(गर्जना) करते हैं जिसकी त्वचा कठोर(सख्त) रोमोंवाली है खुरोंसे मेघोंको बिखेर रहे थे सफेद दाढवाले और प्रकाशित दृष्टिवाले भगवान् महीध्र सुशोभित हो रहे थे।।२८।।

जिस(वराह भगवान्)ने अपनी पूंछको ऊपरकर रखा है, आपकी पूंछ यज्ञकी दीक्षाका रूप है, वह(ऊपर करना ही) दीर्घ और कृशताका हेतु है एवं वही यज्ञमें उच्चताका कारण है, यों जतानेकेलिये ऐसा(ऊपर) किया है, आकाशमें विचरण करते थे वह ही सकल यज्ञके पदार्थोंमें प्रविष्ट होकर भी मानो संलग्न नहीं थे, इससे यह जताया है कि क्रियामय यज्ञ पशुओंमें प्रतिष्ठित हुए हैं पृथ्वीके उद्धारका कार्य कठिन है, ऐसे कार्य करनेकेलिये आप भी क्रोधरूप होनेसे कठोर(कठिन, सख्त) हो गये हैं, जिसकी त्वचा(चमड़ी) कठिन और रोमोंवाली है तथा यज्ञमें हिंसादि कार्य होनेसे कुशादि बहुत होते हैं जिससे शरीरका ऊपरका भाग त्वचा कठिन थी. शेष आकार तो वैसा ही था जैसे लोकमें प्रसिद्ध है जिसने खुरोंसे बादलोंको बिखेर दिया भगवान्के चार चरण सोमरूप मिलनेसे दो सोमोंके

होमरूप बनते हैं, इस(होम)से वहां ही पशु और सोम होकर सकल वर्षाका कार्य खतम हो जाता हैं क्योंकि सोमोंसे सर्व अन्नादि उत्पन्न हो जानेसे मेघोंकी आवश्यकता नहीं रहती है जिन मेघोंने बहुत जल बरसाया उनको दूर ही कर देना चाहिये नहीं तो वहां पर पृथ्वी स्थापित की जायेगी तो पृथ्वी स्थिर न रह सकेगी जल और मेघोंके मध्यसे स्थापन की जावे तो मेघ डुबों देंगें.

खुरोंसे दूर करनेके कारण उनका सर्वनाश न होनेसे मेघ दूसरे स्थानमें रहकर वृष्टि करते रहेंगे, जिसकी दंष्ट्रा(दाढ) सफेद है और दृष्टि ज्योति(प्रकाश) रूप ऐसे वराह भगवान् थे. वराह भगवान्के दंष्ट्रा एवं दृष्टिका कीर्त्तन पृथ्वीके स्थापन तथा शोषणकेलिये किया है और मृत्युके अतिक्रमणकेलिये एवं कृपादृष्टि डालनेकेलिये किया है.

अतः यह बता दिया है कि पृथ्वी पर ही मृत्युका उल्लंघन तथा भगवान्की कृपा हो सकती है. 'बभासे' पदका आशय है, सकल शास्त्रादि आपकी स्तुति करते हैं. 'महीध्र' शब्दसे जताया है कि भूमि उद्धारसे सर्वका उपकार किया है, इसलिये सर्वने स्तुति की है. समस्त 'महीध्र' लोकप्रसिद्ध 'पर्वत' है किन्तु यह तो भगवान् महीध्र हैं. इस कारणसे ऐश्वर्य आदि षड्गुण सम्पन्न होते हुए भी भारका वहन करते हैं. यह इनकी प्रकट दयालुता है।।२८।।

इस प्रकार ऊपर स्वरूपका वर्णनकर अब इस श्लोकमें क्रियाका वर्णन करते है:

घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन् क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्यामुद्वीक्ष्य विप्रान्गृणतोऽविशत्कम्।।२९।।

जिसके यज्ञ अङ्ग हैं और जिसने वराहकी आकृति दिखावे मात्रकेलिये धारणकी है अतः उस आकृतिके अनुकूल छलसे नाक द्वारा पृथ्वीके मार्गको सूंघने लगे. भयावनी दाढोंवाले होते हुए भी सौम्य नेत्रोंसे स्तुति करनेवाले विप्रोंको देखते हुये जलमें प्रवेश कर गये।।२९।।

नाकसे पृथ्वी कहां है, उसके मार्गको ढूंढ निकालनेकेलिये सूंघते हुए (वराह भगवान्) जलमें प्रवेशकर गये. सूंघनेका कारण यह था कि पृथ्वीका गुण गन्ध है इस गुणसे अन्य पदार्थोसे पृथ्वी पृथक् समझी जाती है जिस मार्गसे पृथ्वी गई है. उस मार्गसे ही जानेसे पृथ्वी सरलरीतिसे देखनेमें आयेगी क्योंकि वहां जल स्वल्प(थोड़ा) था विशेषरूपसे सूंघनेका कारण था वह(पृथ्वी) कहां है उसका

विचार करना यह केवल वराहरूपकी लीलाके दिखावेकेलिये ही था, वास्तवमें तो आप सर्वज्ञ थे किन्तु अवतार धारण किया था, अवतार दशामें जैसी देह धारण करते हैं, उस देहानुसार ही सकल चेष्टाकर दिखाते हैं इसलिये वराह देहानुसार चेष्टा दिखानेकेलिये आप नाकसे खूब भूमिको सूंघने लगे थे, क्योंकि सूंघनेसे ही पृथ्वीके मार्गका ज्ञान इस देहमें हो सकेगा.

यहां तो यह मीमांसाशास्त्र अर्थात् पृथ्वीको ढूंढ़नेका सूंघनेसे विचार करना केवल व्याजमात्र(दिखावा) ही है क्योंकि मीमांसा(विचार) शास्त्रमें कर्मकी प्रधानता है और यहां तो देवताकी प्रधानता है जिसका प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि 'स्वयमध्वराङ्गः' जो आप सर्व यज्ञरूप हैं अर्थात् इसके सर्व अङ्ग यज्ञरूप हैं 'अध्वर' पदका भावार्थ बताते हैं कि 'अध्वनि' मार्गमें 'रवो यस्य' जिसकी ध्वनि सर्वत्र हो रही है वह 'अध्वर' यज्ञ भगवान् हैं यज्ञके सिवाय कोई मार्ग नहीं है अन्य मार्ग टूटे-फूटे हैं ऐसे टूटे-फूटे यज्ञमार्ग भी अप्रमाणिक हैं इसलिये उनको बतानेके अर्थ 'अङ्ग' पद दिया है.

यद्यपि यह 'वराह'(यज्ञ) पशुओंका घातक है तो भी अन्तमें ज्ञान देनेवाला है अतः सबोंका उपास्य है यों जतानेकेलिये कहते हैं कि 'करालदंष्ट्रो-ऽप्यकरालदृग्भ्यां' भयानक दंष्ट्राओं(दाढोंवाला) होते हुए भी सौम्य नेत्रोंसे स्तुति करनेंवाले विप्रोंको देखते हुये जलमें प्रविष्ट हुये.

सबोंका सर्व प्रकारसे हित करनेवालोंमें जो है वह भगवान्का ज्ञान तथा कृपा ही है, इससे यह बताया है कि भगवान्का ज्ञान और भगवान्की कृपा होनेका कारण भक्ति है अर्थात् जो भगवान्की भक्ति करते हैं उनको ही ज्ञान एवं भक्ति प्राप्त होती है, यज्ञ भगवान्(वराहरूप) भक्तोंको ज्ञान प्राप्त कराके दूसरोंके उद्धारकेलिये आप 'कं' सुखमें प्रविष्ट होनेवालेकी तरह 'कं' जलमें प्रविष्ट हुए, जल सुख है।।२९।।

जलके अपराधी होनेसे जलके बीचमें उसको शिक्षा(दण्ड) दी, यों निम्न श्लोकमें कहते है:

स वज्रकूटाङ्गनिपातवेगविशीर्णकुक्षिः स्तनयन्नुदन्वान्।
उत्सृष्टदीर्घोर्मिभुजैरिवार्तश्चुक्रोश यज्ञेश्वर पाहि मेति ।।३०।।

वज्र समूहके समान अतिकठिन अङ्गोंके पड़ने(ऊपर गिरनेसे) जिसकी कुक्षि फट गई है वैसा वह समुद्र निःश्वास लेते हुए दुःखीकी तरह ऊपर अपनी

लम्बी तरङ्गरूपी भुजाओंसे महती ध्वनि करते हुए कह रहा था कि हे यज्ञेश्वर! मेरी रक्षा कीजिये।।३०।।

जिस जलमें भगवान् प्रविष्ट हुवे जिस जलने भूमिको डुबो दिया था वह समुद्र था उसके जलमें वह जिसका अङ्ग वज्र समूहके समान अति ही कठिन एवं चमकता हुआ श्रीअङ्ग था वह जलमें अचानक प्रविष्ट हुआ वज्रके सिवाय अन्य किसी पदार्थका तेज जलमें नहीं रह सकता है और अधिक भी नहीं होता है वह(वज्र) ही वज्र मेघोंसे जलको छुड़ाता है ऐसे सर्व वज्र यदि इकट्ठे हो जावे तो समुद्रका भी शोषणकर डाले, वज्र यदि कपटसे अचानक आकर गिरे तो स्वरूपको ही नाश कर डाले, ऐसे स्वरूपवाले इस प्रकरणमें भगवान् ही थे, ऐसे भगवान्के अंगका जो वज्रपातकी तरह अचानक एवं कपटरूपसे जोरसे ऊपरसे गिरना, गिरनेसे महान् वेगका होना उस वेगने जैसे बाण छेदकर निकल जाता है. वैसे ही इसने भी कुक्षि को चीर डाला, समुद्र भगवान्का कुक्षि है, कुक्षिसे ही कुक्षिका चीरना नहीं होता है यदि यों होवे तो अपनी कुक्षि पूरित न होवे.

'उदन्वान्' समुद्र जलवाला(जलमय) होता है. समुद्रके जलका स्रोत जहां रहता है वह 'कुक्षि' है, उस स्थान(कुक्षि)को चीरनेका आशय यह था कि समुद्रका जल बढ़े नहीं, बढ़ेगा तो पृथ्वी स्थिर नहीं रह सकेगी वैसा हुआ यों जतानेकेलिए उसके कार्यका वर्णन करते हैं. 'उत्सृष्टेति' तरंगरूपी भुजाएं ऊपर प्रसारित की हैं. अर्थात् फैलाई जिससे देखनेमें दुःखी जैसा लक्षमें आ(दिख) रहा है. 'आर्त्त इव' पदका भावार्थ है कि ये तंरगें ऊपरसे आके गिरने पर भी आनन्द देनेवाली जैसी होती है. जैसे स्त्रीका आलिङ्गन आनन्द देता है यदि सब जलका शोषण किया जाता तो स्वरूपका ही नाश हो जाता अतः कुक्षिके चीरनेसे वृद्धि रोक दी तब एकतरफ जलका शोषण और दूसरीतरफ वर्षाके होनेसे समता हो गई यदि यों न किया जाता तो भूमि स्थापना न हो सकती थी 'चुक्रोश' जोरसे चीख मारकर पुकारा यह स्पष्ट कही है. क्योंकि समुद्र देव होकर दैत्योंको आश्रय देवे तो उसको दण्ड देना ही चाहिये किन्तु समुद्र स्वयं देवता है इसलिए सर्व देवताओंके भोग करानेवाले भगवान्की प्रार्थना करता है कि 'यज्ञेश्वर पाहि मेति' हे यज्ञोंके ईश्वर प्रभु मेरी रक्षा करो समुद्र भी देवता है अतः ''**समुद्राय स्वाहा**'' इति ''**समुद्रियाभ्यः स्वाहा**'' इति यों श्रुतियां हैं, 'यज्ञेश्वर' सम्बोधन अपने साथ सम्बन्ध जतानेकेलिए दिया है. दैत्योंका हनन करने(मारने) पर भी मेरी रक्षा करो।।३०।।

इस प्रकार समुद्रको दण्ड देकर यह शिक्षा दी कि फिर पृथ्वीको नहीं डुबाना, स्वयं वराहने भूमिके उद्धारकेलिए प्रवृत्ति की वह इस श्लोकमें कहते हैं:

खुरैः क्षुरप्रैर्दरयंस्तदाप उत्पारपारं त्रिपरूरसायाम्।
ददर्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त।।३१।।

तीक्ष्णखुरोंसे जिस जलका पार दूर है ऐसे जलको विदारण करते हुए यज्ञवराहने रसातलमें पृथ्वी देखी जो भूमि जीवोंका आधार बनी है उस पर भविष्यमें सोनेकी इच्छावाले प्रभुने उसका(भूमिका) उद्धार किया।।३१।।

तीक्ष्णखुरोंसे उस जलको चीरते हुए जैसे उस जलका भी पार निकले यों करने लगें 'त्रिपरुः'अर्थात् यज्ञवराह भगवान् जिनके तीनपर्व हैं प्रत्येक पाद एक-एक पर्व है तथा एकपर्व मुख है इस तरह तीन पर्व हैं तथा यों सोमयज्ञकी प्रवृत्ति हुई है. **''पद्भ्यां द्वे सवने समगृणान् मुखेन एकम् इति श्रुतेः''** पादों(पैरों)से दो सवनोंकी और मुखसे एक सवनको स्वीकार किया है इसी तरह सोमकी प्रवृत्ति कराई है **''द्वौ स्तोमौ प्रातः सवनं वहतः''** इस श्रुतिसे प्रातःकालके सवनके दो रूप हैं. मुख भी दो होठोंके कारण द्विरूप है. रसातलमें स्थित पृथ्वीको देखा वहांसे उसका उद्धार किया अर्थात् उसको निकाला जिसमें कारण कहते हैं कि 'तत्र सुषुप्सुः अग्रे' उस पृथ्वीको विकार रहितकर उस पृथ्वीका अधिष्ठाता देवता भगवान्की शय्या होगी भार्या तो सिद्ध ही है. 'अग्रे' पदका तात्पर्य है. उद्धार करनेके अनन्तर भूमिका उद्धारकर उसके अधिष्ठाता देवता पर शयन करूंगा अर्थात् इसलिए भगवान् प्रलयमें शेष पर शयन करते हैं सृष्टिके समय फिर सकल पुरोंमें(देहोंमें) शयन करते हैं पुरुष शब्दका भावार्थ ही यह है. सर्व पुर(देह) निर्माणकेलिए भूमिका उद्धार करेंगे(करते हैं).

भूमि क्या है? जो बहुत शरीर धारण करेगी? इस शंकाके निवारणकेलिये कहते हैं कि 'यां जीवधानीम्' पृथ्वी सकल जीवोंका आधार है. वह ही समस्तोंके देहोंको रचती है. अतः उसके उद्धारसे सब जीवोंका उद्धार हो जाता है. इसलिए भगवान् स्वयंने इस(भूमि)का उद्धार किया है।।३१।।

पृथ्वीको इस प्रकार लेकर बाहर पधारते हुए भगवान्का निम्न श्लोकोमें वर्णन करते हैं:

स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां समुत्थितः संरुरुचे रसायाः।
तत्राऽददैत्यं गदया पतन्तं सुनाभसंदीपिततीव्रमन्युः।।३२।।

जघान रुन्धानमसह्यविक्रमं स लीलयेभं मृगराडिवाऽम्भसि।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन्।।३३।।

जलमें पूर्ण डूबी हुई पृथ्वीको अपनी दंष्ट्रा(दाढ)से बाहर निकालकर रसातलमें ही खड़े हुए वराह भगवान् सुशोभित होने लगे ऐसे भगवान्को देखकर आदिदैत्य गदा लेकर वहां दौड़ता हुआ आने लगा वह ऐसा था कि जिसका पराक्रम सहन न हो सके. बाहर आनेके मार्गको रोक लिया था, क्रोध तो पहले ही था किन्तु सुदर्शनने उस(वराह)के क्रोधको विशेष बढ़ाया था ऐसे उस(वराह)ने जैसे खेलता हुआ सिंह हस्ती(हाथी)को मार देता है वैसे ही जलमें दैत्यको मार डाला जैसे हस्ती जंगम(प्राणी)को चीरनेसे उसके रक्तके पङ्क(कीचड़)से गण्डस्थल और मुखसहित भी रञ्जित हो जाता है वैसे ही यह(वराह) भी हो गये।।३२-३३।।

'स्वदंष्ट्रया' वराह भगवान्ने अपनी दंष्ट्रा(दाढ़)से भूमिका उद्धार किया जिसका आशय यह है कि दैत्य अति बलवान होते हैं भूमिको यों ही लानेमें कदाचित् प्रतिबन्धकर डाले, जो वस्तु यम ले जाता है उसको कोई नहीं छुड़ा सकता है उसमें लेनेवाला आधिदैविक यम हो तो छुड़ाना असंभव हो जाता है. अन्यथा(दाढ पर न ले आवे तो) उसके रक्षक लानेमें विघ्न करते हैं, अतः यहां वराहजीका माहात्म्य बतानेकेलिये एक(दंष्ट्रा) कही है तथा पृथ्वीको उस पर ले जानेका यह भी भाव था कि पृथ्वीको देवताका संबंध है कि यह पृथ्वी जो निमग्न हुई है वह सहज(मामुली) असुर नहीं है.

निराधारकी गति निम्न होती है, पक्षियोंकी तरह ऊपर गति भी होती है किन्तु खड़ा होना नहीं होता है . उसमें भी यदि भार हो तो खड़ा हो ही नहीं सकता अतः भगवान् वराह उसको लेकर अच्छी तरहसे खड़े हो सुशोभित होने लगे, 'समिति' सुन्दररूपसे आये हुवे भी यदि भारसे आक्रान्त हो तो शोभता नहीं किन्तु यह(वराह भगवान्) भूमिके साथ स्त्रीकी तरह अन्तः(अन्दर)सन्तोष होनेसे और बाहर शोभासे भी सुशोभित होने लगे 'रोचनं' 'सं' शब्दका अर्थ है उसमें भी निम्न लोकसे उठा हुआ लोकमें शोभता नहीं है यह तो रसातलसे आये हैं यों कहनेसे बताया है कि पांच खण्डोंवाली पृथ्वीका उद्धार किया है.

'स्व' और 'दंष्ट्रा' इन दो पदोंसे आध्यात्मिक और आधिभौतिकने दैत्योंका निराकरण किया है, अब आधिदैविक दैत्यका निराकरण करते हैं

'आदिदैत्यं' इस पदमें 'आदि' पद देकर आधिदैविकत्व बताया है अथवा पहले ही दैत्यपनको प्राप्त हुआ है, 'गदया पतन्तं' कहनेसे उसकी शूरवीरता, भगवदीयता तथा अतिप्रतिप्रबन्ध करनेवाला है यों सूचित किया है.

सुदर्शनसे जिसका क्रोध विशेष प्रज्वलित होने(बढने) लगा है सुदर्शनसे क्रोधका उत्पन्न होना गदादिका प्रतिघात करनेवाला है यों सूचित करता है गदा आदि अस्त्रयुद्धमें निरर्थक हो गये यह देख भगवान्का ग्रहण किया हुआ सुदर्शन विचार करता है कि जो भगवान् बिना क्रोधके शान्तिसे ही मुझे शत्रु पर फेंकेंगे तो गदा आदि अस्त्रोंकी तरह मैं भी निकम्मा हो जाऊंगा इसलिये भगवान्में पहिले तीक्ष्ण क्रोध उत्पन्न करना चाहिये, इसलिये सुदर्शनने भगवान्का 'दैत्यने जो' ब्रह्मद्रोहादि दुष्कर्म किये थे वे स्मरण कराये तब भगवान्में तीक्ष्ण क्रोध उत्पन्न हुआ उसके उत्पन्न होते ही क्रोधसे सुदर्शनको फेंका जिससे फेंकना फलवाला हुआ. तीव्र क्रोध हुआ जिससे फलमें विलम्ब न हुआ इसलिये उस(दैत्य)को मारा क्रोधसे मारनेके कारण इसका फिर जन्म हुआ है.

दैत्यमें दोषके साथ गुण भी थे ऐसी अवस्थामें उसका सर्वथा नाश कैसे किया जिस शंकाका निवारण करते हैं कि 'रुन्धानं' भगवान्का मार्ग रोक लिया था, यदि मार्ग न रोकता तो न भी मारते, प्रतिबन्धक होनेसे अवश्य मारना पड़ा. भगवान् अचिन्त्यशक्ति है अतः तिरोहित हो जाते(छिप जाते) अथवा उसको किसी प्रकार ठग लेते, परन्तु मारा क्यों? इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि 'असह्य विक्रमं' भगवान् किसी दूसरेका पराक्रम सहन नहींकर सकते हैं, इसने अपना पराक्रम भगवान्को दिया जिसको सहन न करनेके कारण मार डाला. अपना अपराध करे तो उसको मारना नहीं चाहिये किन्तु दूसरी कोई शिक्षा देनी चाहिये यों भगवत् शास्त्र कहता है. दूसरे अपराधसे मारना चाहिये इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'सः' वह(वराह भगवान्) इस दैत्यके वधकेलिये ही प्रकटे हैं अन्यथा यदि यों न होता तो दूसरे प्रकारसे या इच्छासे भूमिको जलके ऊपर स्थापितकर देते अन्य कल्पकी व्यवस्थानुसार पृथ्वीको दूसरे स्थान पर धरकर पीछे आकर दैत्यको मारते? इस शङ्कामें उत्तर देते हैं कि 'लीलया' लीलासे यों किया, प्रभु जब सर्व समर्थ हैं तब उसे(दैत्य)ने जो पहले भक्ति की है वे उसका स्मरणकर उसको भक्त समझ उसको कृतार्थकर देते इस शङ्काका उत्तर देते हैं कि दोनोंने इस प्रकारके रूप ग्रहण किये थे, एक ने वध्यभावनावालारूप धारण किया दूसरे ने घातकभाव

वाला, अतः यही लीला करनी थी जिससे घातकभाववाले वराहने मध्यभाववाले दैत्यको मारा यह दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'इभं मृगराडिव' हस्तीको जैसे सिंह नाश करें. इससे दोनोंका सदाका विरोध है. यों सूचित किया है. दृष्टान्तसे प्राप्त भक्षण दोषका परिहार किया है. 'अम्भसि' पदसे दोनों स्थलचर होते हुए भी अपनी रक्षाकेलिये जलमें मारा नहीं खानेकेलिये लोकमें वह भी दिखाया इसलिये 'तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डः' इति उसके रक्तरूप कीचड़से जिसके गण्डस्थल और समग्रमुख(सारा मुह) लिप्त हो गया है इससे बलपूर्वक आगे आकर उसने पृथ्वीको पकड़ रखा यदि यों होता तो उसके उदरको नहीं चीरते, इसलिये कल्पान्तरमें उदर चीरना नहीं कहा है. उस हिरण्याक्षके उदर चीरनेसे जो खून निकला वह कुछ समय रहनेसे कीचड़ जैसा हो गया, जिससे गण्ड(गाल) पर्यन्त मुख लिप्त हो गया कारणकि मुख उसके उदरमें बहुत दूर चला गया था. जैसे उसके भीतर गया हुआ जीवतत्त्व अपने मुखमें आ जावे जो यों नहीं किया जावे तो इस(हिरण्याक्ष)ने भगवान् और भगवदीयोंका जो द्रोह किया था उससे इसका नरकमें पात होता अथवा नीचयोनि मिलती. अतः भगवान्ने कृपाकर इसको अपनेमें ही स्थापितकर लिया, इस अर्थको दृष्टान्तसे स्पष्ट करते है 'यथा गजेन्द्रः' जैसे गजेन्द्र, कमल आदि कन्दको अपनेमें समा लेता है 'इन्द्र' पदका तात्पर्य पदार्थ दूर भी मौजूद हो तो भो उसको समूल उखैड़ लेता हैं. यह जतानेकेलिये 'इन्द्र' पद दिया है. 'जगतीं' जिस पृथ्वीमें जङ्गम(प्राणी)देह उत्पन्न होते हैं वैसी पृथ्वीके भेदनमें अपने अभिलषित अपने जातीय देहके उत्पादक पृथ्वीके अवयव सहित कन्दका जैसे गजेन्द्र भक्षण करता है वैसे भगवान् भी हिरण्याक्षके जीव एवं उसके इन्द्रियवर्गको, उसके अग्रिम देहको उत्पादन करनेवाले अवयवों सहित विद्यमान देहका सम्बन्ध हटाकर आत्मसात् कर लिया(अपनेमें समा लिया) विशेष चीरनेका भावार्थ यह है कि दूसरोंके सम्बन्धको हटाकर अपना सम्बन्ध स्थिरकर आप ही उसको ग्रहणकर लेना।।३२-३३।।

इस प्रकार तीनतरहके(आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक) का निराकरण कहकर भूमिके उद्धारकी कथाकी समाप्ति करते हैं:

तमालनीलं सितदन्तकोट्या क्ष्मामुत्क्षिपन्तं गजलीलयाऽङ्ग!।
प्राज्ञाय बद्धाञ्जलयोऽनुवाकैः विरिञ्चिमुख्या उपतस्थुरीशम्।।३४।।

हे अङ्ग! (प्रिय) सफेद दांतकी कोटि(अणी)से श्याम पृथ्वीको हस्तीकी

लीलाकी तरह ऊपर धारण करनेवाले वराहके स्वरूपको पहचानकर ब्रह्मा जिनमेंसे मुख्य हैं ऐसे देव दोनों हाथ जोड़ अनुवाकोंसे प्रभुकी स्तुति करने लगे।।३४।।

'ईशमुपतस्थुः' इति सम्बन्ध भगवान्‌की स्तुति करने लगे यह अन्वय है उन(देवोंने) प्रभुत्व प्रत्यक्ष देखा, यह(वराह) यज्ञपुरुष है यों जानकर हाथ जोड़कर सब देव खड़े हो गये क्योंकि यज्ञके प्रारम्भमें हाथ जोड़ नमस्कार करनेकी आज्ञा है 'भुवनमसि'आप भुवन हो, इस मन्त्रमें इस प्रकार हाथ जोड़कर प्रणाम करनेकी आज्ञा है. यज्ञ प्रारम्भमें प्रातः प्रथम'अनुवाक' कहा जाता है इस समय काल समय काल नियामक न होनेसे 'अनुवाको'से ही कार्य किया गया है सबोंने अनुवाक कहे(किये) यागभेदसे भी बहुत होनेसे बहुवचन कहा है. वराह यज्ञस्वरूप आधिदैविक थे अतः देवोंमें ब्रह्मा मुख्य थे, उनका यज्ञत्व और ईशत्व सिद्ध करते हैं जिससे तमाल जैसी श्यामभूमिको सफेद दांतकी कोटि(नोंक) पर उठाते हुवे पधारते थे, पृथ्वी, तमालोंके कारण श्याम थी अथवा तमाल जैसी श्याम थी, 'तमाल' तम(अन्धकार)के समान वा अज्ञानके समान भयजनक श्याम वृक्ष होता है अतः सृष्टिमें अज्ञान और भय हेतु है. तात्पर्य यह है कि सृष्टिकी उत्पत्ति अज्ञानसे होती है एवं भयजनक है 'तम' अज्ञानरूप है वन वृक्षरूप भय हेतु है नील गुण भी श्रृङ्गारकी तरह रसजनक है, तीनोंके योगसे सर्ग(सृष्टि) रसाल (रसवाली) होता है सृष्टि उत्पादनकी सामर्थ्य बतानेकेलिये उसमें क्षमाधर्मका सम्बन्ध है यह बतानेकेलिये पृथ्वीका नाम 'क्ष्मा' कहा है, यह अब जीववाली नहीं है यह बतानेके वास्ते दांतको टोचके साथ सम्बन्ध बताया है. ये विशीर्ण नहीं हुई है यह दिखानेकेलिये दांतको श्वेत दिखाया है दंष्ट्रा भी अपनेको प्रिय है इसलिये उसको दांत कहा है 'कोटि' पद देकर भगवान्‌का माहात्म्य प्रकट किया है सकल ईशोंको भूमिमें अतिशय प्रेम है यह बतानेकेलिये संख्यावाचक 'कोटि' शब्दका प्रयोग किया है. 'उत्क्षेपणम्' ऊपर उठाना, इससे यह बताया है कि पृथ्वी अपनी इच्छासे नहीं आई है भूमिका वराहके दांतके व कोटिसे स्पर्श स्फेयसे उद्धृत वेदीकी तरह है इससे आपका ऐश्वर्य स्पष्ट ही है, 'गजलीलया'से भी ऐश्वर्य दिखा दिया है एवं यज्ञत्व तथा पूर्वोक्त भक्त कृपालुत्वका उपसंहारकर लिया है, अङ्ग! यह कोमल सम्बोधन परिज्ञान करानेकेलिये है।।३४।।

द्वादशार्कसमैः श्लोकैः कर्मनिर्णय उच्यते।

ब्रह्मादीनाम् उत्तमत्वात् द्विविधं कर्म रूप्यते ।।का.१।।

सूर्य १२ होते हैं अतः उनके समान श्लोकों अर्थात् १२ श्लोकोंसे कर्मके स्वरूपका निर्णय कहा जाता है ब्रह्मा आदि उत्तम है अतः कर्म भी दो प्रकारसे निरूपण करनेमें आता है, एक प्रकार प्रमाणानुकूल प्रमेयवाला कर्मका स्वरूप, दूसरा प्रकार स्वतन्त्र प्रमेयवाला कर्मका स्वरूप।।१।।

उभयोर्भगवत्त्वाय षड्भिः षड्भिर्गुणास्तथा।
प्रमाणेन प्रमेयेन निर्णयो द्विविधो यतः।
तत्र प्रमाणरूपं हि षड्भिरादौ निरूप्यते।।का.२।।

दोनों प्रकारके कर्म स्वरूप भगवद्रूप हैं यों बतानेकेलिये छः श्लोकोंसे उनके गुण इसी तरह वर्णन करते हैं क्योंकि प्रमाण तथा प्रमेयके कारण निर्णय दो प्रकारका होता है. जिसमें पहले प्रमाणरूप कर्मका छः श्लोकोंसे वर्णन करते हैं।।२।।

यद्यपि ब्रह्मा आदि देवता हैं तो भी यज्ञमें कार्यकर्ता होनेसे ऋषि बन जाते हैं क्योंकि यज्ञक्रियामें ऋषि ही प्रयोजक होते हैं, इसलिये 'ऋषयःऊचुः' कहा है ये ऋषि पहले यज्ञोंका सर्वोत्कृष्टत्व और प्रामाणिकत्व कहते हुवे नमस्कार करते हैं :

ऋषयः ऊचुः

जितं जितं तेऽजित! यज्ञभावन त्रयीं तनुं स्वां परिधुन्वते नमः।
यद्रोमगर्तेषु निलिल्युरध्वरास्तस्मै नमः कारण विग्रहाय ते।।३५।।

ऋषियोंने कहा, हे अजित! हे यज्ञोत्पन्नकर्ता! आपने जीता, जीता अर्थात् आपने सर्वथा जीत लिया, तीन वेदरूप अपने शरीरका धूनन करनेवाले आपको नमस्कार है, जिनके रोम कूपोंमें यज्ञ लीन होकर विराजे हैं, उन यज्ञके कारणरूप विग्रह(शरीर)वाले आपको नमस्कार है।।३५।।

आपने जीता ही जीता. वध करनेसे दोष उत्पन्न होता है तो भी 'यज्ञ' सिद्ध हो उसमें विघ्नकर्ता शत्रु को मार डालनेकी आज्ञा वेदमें दी गई है केवल शत्रु को जीत लो नही कहा है, अतः यज्ञकेलिये शत्रुको जीतनेसे आपने जय प्राप्तकी है किञ्च कालने यद्यपि सबको जीत लिया है तो भी आपने इस कालके मुखको भी तोड़कर उससे भक्षणकी हुई पृथ्वीको लौटाकर लाये अतः आपने जय प्राप्त की अथवा काल प्रलयके समयमें सब पदार्थोंको ग्रस लेता है उन सबको फिर आप उत्पन्नकर देते हो, यह समग्र वाक्य समूह निश्चित है इसलिए 'ते जितमेव जितम्'

यों दो बार जीत शब्द कहा है इसी तरह कदाचित् किसीकी जयादि क्रिया काकतालीय न्यायसे उत्कृष्ट एवं बहुत अर्थोंको सिद्ध करनेवाली होती है इससे जयका निर्धार नहीं होता है, यों शंकाकर कहते हैं, कि हे अजित! आप कभी भी किसीसे जीते नहीं गये हो, अतः ऐसी जय तो उसकी(अजितकी) सर्वदा ही होती रहती है सकल पदार्थ यज्ञोंसे उत्पन्न होते हैं किन्तु यह वराह भगवान् तो यज्ञोंको उत्पन्न करते हैं इससे भी इनके जयका निर्णय होता हैं यों स्तुतिकर प्रणाम करते हैं 'त्रयीं तनुपरिधुन्वते नमः' तीन वेदरूपी शरीरका धुनन करनेवाले स्वरूपको नमस्कार है इसके सिवाय अन्य साधारणरूपको नमस्कार नहीं करते इस स्वरूपको ही प्रणाम करते हैं क्योंकि यह वेदरूप है. अथर्वाङ्गिरसोंके मंत्र मुख्यतासे ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं अतः ब्रह्मोपयोगी होनेसे ज्ञानशेषत्व ही मानते हुए प्रमाणके मुख्यताके बिना शास्त्र निरूपक कर्ममें तीन वेदोंका ही निर्धार किया है, अतः वराहरूप त्रयीमय ही है. तीन वेदोंका उसके शरीरमें प्रवेश कहा है. उसका चारोंतरफ कम्पन वेदोंके विक्षेपकेलिये है. यदि यों न होवे तो वेदत्रयी चतुर्थवेदका शेष होनेसे वेदोंका यज्ञमें तात्पर्य हो न होवे यदि यों होवे तो सर्वकी मुक्ति ही हो जाय?

शरीरको चारोंतरफ धुनन करनेसे हीनभाव न हो जाय इस भयसे तथा प्रमाणको दृढ नहीं कर सकता है इस कारणसे प्रणाम करने लगे एवं यह(वराह) ही सृष्टिकर्ता है इसलिये भी नमन करने लगे इससे यह भी सूचित किया कि कृपाकर हमारे(ऋषियोंके)लिये वेदोंका भ्रमण न कराइये. शंका करते हैं कि वेदोंके भ्रमणसे आपकी क्या हानि होगी? योगसे यज्ञोंके दर्शनकर दर्शनके अनुसार उनकी क्रियाकर आप कृतार्थ हो जानोगे फिर क्यों डरते हो आप परिधुनन करोगे तो फिर योगसे भी यज्ञके दर्शन हमको न होंगे क्योंकि भगवान्के रोमोत्पत्तिके स्थान पर जो कूप(छिद्र) हैं वे विशाल खड़े हैं, धूननसे सर्वयज्ञ उनमें विलीन हो जाते हैं अर्थात् छिप जाते हैं.

वह(वराह) जलसे प्रकट हुवे हैं. शरीरके ऊपर धरे हुए वेदोंको धुननसे दूरकर देंगे, यज्ञोंने जाना कि हमको भी दूरकर देंगे, इस शंकासे श्रुतियोंसे सम्बन्धवाले होनेसे वराहसे भी सम्बन्धवाले यज्ञ भगवान्के विशाल रोमकूपोंमें छिप गये वहां उनकों रोमोंका आधार मिल गया है, रोम कुशरूप है उनमें श्रुतिके अनुसार गिरनेका भय भी यज्ञोंको न रहा, अतः सर्ववेदोंका तथा यज्ञोंका

कारणरूप वराहजी हैं वेद और यज्ञोंको प्रकट करनेवाला जिसका यह(वराह) श्रीअंग है उसको दूसरा कुछ भी कर सकनेमें अशक्त ऋषिगण 'नमन' ही करते हैं 'कारणसूकराय ते' यों पाठ हो तो भी यही अर्थ होता है।।३५।।

इस तरह पुरुषोत्तमपन, वेद एवं यज्ञरूपता और अपना स्वामी है यों सिद्ध करते हुए भी जो यों नहीं समझते हैं निम्न श्लोकमें उनकी निन्दा करते हैं:

रूपं तवैतन्ननु दुष्कृतात्मनां दुर्दर्शनं देव! यदध्वरात्मकम्।
छन्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वङ्घ्रिषु चातुर्होत्रम्।।३६।।

हे देव! यह जो आपका यज्ञ स्वरूप श्रीअंग है जिसकी त्वचामें छंद, रोमोंमें कुश नेत्रोंमें घृत, चरणोंमें चार होता या उनके कर्म विराजते हैं ऐसे दिव्य श्रीअङ्गका दर्शन पापियोंको नहीं होता है क्योंकि वे अधिकारी नहीं हैं।।३६।।

आपका यह दिव्य यज्ञात्मक श्रीअङ्ग निश्चयसे, जिनका शरीर पापसे संस्कृत भूमिके अवयवोंसे बना है वे पापीसे बना है वे पापी इसके दर्शन करनेके योग्य नहीं हैं जैसे दिवाभीत(घूवड़) सूर्यका स्वरूप देखने योग्य नहीं है ज्ञान और भजन तो दूर रहे, इससे कर्ममार्गमें किसी प्रकार हानि नहीं, जिसमें दो कारण हैं 'हे देव! यदध्वरात्मकम्'. १.देवस्वरूप पापियोंको दृष्टिगोचर नहीं होते हैं २.यज्ञ धर्मरूप होनेसे जहां अधर्म हैं वहां प्रकाशित नहीं होता है, यज्ञ सिवाय तो अन्य कोई अंश वराह देहमें नहीं है वे साक्षात् दिव्यरूप भगवान् यज्ञस्वरूप विष्णु ही हैं, अतः यह स्वरूप दुष्टोंको दुर्ज्ञेय आदि है कहकर, पहले उसका वेदत्व प्रतिपादन करते हैं. 'छंदांसि यस्य त्वचो' जिसकी त्वचामें गायत्री आदि सातों छन्द अथवा अनन्त छन्द भीतर बाहर व्याप्त हैं जिससे यह सूचित किया है कि इस स्वरूपमें सकल वेद स्थित हैं अथवा अर्थरूप वेद स्थित है छन्दोंके उपयोग करनेसे यह सूचना दी है कि यह 'यज्ञरूप' स्वरूप ही है तीन वेद तो उत्पत्तिके सम्बन्धसे श्रीअङ्गसे सम्बन्धित हैं ही, रोमोंमें कुश हैं, यज्ञके समस्त पदार्थ पुरुष(भगवान्)के अवयवोंसे उत्पन्न किये गये हैं वे उसके अधिष्ठाता देव वराहमें स्थापित किये हैं इसलिये सदैव उत्पन्न होते रहते है रोमोंकी उत्पत्तिका स्वरूप कहना चाहिये, कुशोंके अधिष्ठाता रोमोंके धूनन करनेसे जो रोम गिरे वे कुश और काशरूप बर्हिष हुए नेत्रोंमें घृत है घृत आध्यात्मिकरूप है, नेत्र आधिदैविकरूप है इसलिये घृत नेत्रोंमें धारण किया जाता है इसके नेत्रकी सत्यता और घृतका प्रजापतित्व तत्त्व सूचित किया है. 'तु' शब्दसे यह सूचित किया है कि दूसरे मत झूठे हैं ''वसन्तो

अस्यासीदाज्यम्'' वसन्त इसका घृत है. ''सरसमह वसन्ता य प्रायच्छत्'' वास्तवमें रससहित वसन्तको दिया, वसन्तको ऋतुराज होनेका वर प्राप्त हुआ है वह यहां उपयोगी नहीं है वराहके चरणोंमें चतुर्होत्र अर्थात् चार होताका वर्ग रहता है।।३६।।

इस तरह यज्ञके द्रव्य तथा ऋत्विजोंको वराहजीके देहमें स्थिति कहकर अब इस श्लोकमें फलसहित पात्रोंकी स्थिति कहते हैं:

स्रुक् तुण्ड आसीत् स्रुव ईश! नासयोरिडोदरे चमसाः कर्णरन्ध्रे।
प्राशित्रमास्ये ग्रसने ग्रहास्तु ते यच्चर्वणं ते भगवन्नग्निहोत्रम्।।३७।।

हे ईश! आपके मुखके अग्रभागमें स्रुक्(घृत होमनेका पात्र) है, नासिका छिद्रोंमें 'स्रुवा' सोम होमनेका पात्र है, उदरमें इडा(यज्ञीय भक्षणपात्र), कानके छिद्रोंमें(चमस) है, मुखमें 'प्राशित्र'(ब्रह्म भागपात्र), कण्ठके छिद्र(जिससे ग्रास उदरमें जाता है)में ग्रहो(सोमपात्र) है. हे भगवान्! आपकी चबानेकी क्रिया वह 'अग्निहोत्र' है।।३७।।

यज्ञमें घृत होमनेके पात्र अनेक होते हैं फिर यहां एकवचन क्यों? इस शङ्काका निवारण करते हैं कि जातिके अभिप्रायसे अथवा अग्निकी जिह्वाके अभिप्रायसे एकवचन कहा हैं, 'स्रुवः' यह भी जातिकी अपेक्षासे एकवचन कहा है. 'स्रुवौ' अग्निहोत्र और दशपूर्णमासके भेदसे दो होते हैं . उदरमें इड़ापात्र है.

इस भगवान्में सर्वत्र यज्ञमें यज्ञके सर्वपात्रोंमें स्थित रहनेका सामर्थ्य है यह दिखानेकेलिये 'ईश!' सम्बोधन दिया है, इडापात्रका उदरमें स्थान व प्रवेश इसलिये है कि इड़ानाड़ीका भाग भी उदरमें प्रविष्ट है दोनोंकी आकृति भी समान है, 'चमसा' चमस सोमपानके पात्र होते हैं कर्णरन्ध्र आधिदैविक है उस चमसमें यशकी स्थापना की है, उसकी यदि आध्यात्मिक प्रकारसे व्याख्या की जावे तो प्राणत्वसे निरूपित होती है तो भी यशोरूप हैं इसलिये वह कर्ण द्वारा पेय है, अतः चमसोंका कर्णरन्ध्रोंमें स्थापन है (प्राशित्र) अर्थात् ब्रह्मपात्र वह मुखके छिद्रमें (ग्रसनेके स्थान)में रखा है क्योंकि जो ब्रह्मका भाग होता है वह दांतोसे छुआ भी न जाय ऐसे ग्रसा(निगला) जाता है, ग्रसनक्रियाके समयमें सर्वग्रह(इन्द्र वायु आदि देवपात्र हो) जिह्वा(जीभके) मूलमें विराजते हैं. 'तु' शब्दसे पात्रोंका निवारण करते हैं क्योंकि इसलिए वाक्यके मध्यमें 'तु' शब्द दिया है. ग्रसन क्रियारूप है अतः सोमादिको अथवा उनके पानको ग्रह समझना. जिसे

आप(भगवान्)का चबाना ही अग्निहोत्र कर्म है. वेद अग्निहोत्ररूप फलवाले हैं, इस वाक्यानुसार सर्वयज्ञोंका अग्निहोत्रमें समावेश होनेसे चर्वणत्व है।।३७।।

१.होम करनेके बाद शेष द्रव्य रहता है वह जिस पात्रमें रखकर परस्पर बांट लेते हैं उस पात्रको 'इडा' कहते हैं–प्रकाश.

इस श्लोकमें [१]अधिकरणसहित क्रियाएं भगवान्में स्थित बताते हैं:

१.क्रियाका अधिकरण 'अग्नि' है उसके साथ–प्रकाश.

दीक्षानुजन्मोपसदः शिरोधरं त्वं प्रायणीयोदयनीयदंष्ट्रः।
जिह्वा प्रवर्ग्यस्तव शीर्षकं क्रतोः सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि ते।।३८।।

दीक्षाके अनुसार क्रमपूर्वक आपके जन्म होते हैं. गरदन उपसद है आपकी दोनों दाढें प्रायणीय और उदयनीय इष्टियां हैं जिह्वा प्रवर्ग्य है(एक प्रकारका यज्ञमें होनेवाला कर्म है) आपका मस्तक यज्ञरूप है, सभ्य आवसथ्य और चिति आपके प्राण हैं।।३८।।

भगवान् वराहरूपसे अब प्रकट हुए हैं, फिर यजमानरूपसे प्रत्येक यज्ञमें प्रकट होते हैं, कारणकि 'यज्ञ' यजमान है, यह जो दीक्षित है वह गर्भ है. सोम ले आने पर पूर्ण तेजस्वी होते ही हैं, यों ये श्रुतियां कहती हैं, दीक्षा संस्कारका आशय है कि यजमान(दीक्षा लेनेवाले)में दीक्षाका जो देवता है उसकी स्थापना करना वह आशय इष्टिसे वा क्षीरादिसे सिद्ध होता है. उपसद ग्रीवा(गरदन) है वह शिरोधर शब्दसे कही गई है ग्रीवाने शिरको धारणकर रखा है इस व्युत्पत्तिसे शिरोधरका अर्थ ग्रीवा अर्थात् गरदन होता है. श्रुति कहती है ''ग्रीवा उपसदः'' अर्थात् गरदन प्रायणीय तथा उदयनीय इष्टियां हैं उपसदके आदि प्रारम्भमें सोम लानेसे पहले और सोम(होम)के अनन्तर जो क्रिया होती है उन दोनोंका द्रव्य एक और देवता भी एक होता है तथा पात्र भी एक होता है, कालकी संज्ञाके भेदसे केवल कर्मका भेद है, ग्रहोंको मुखमें स्थापित करनेसे प्रायणीय तथा उदयनीय दोनोंको दोनों पार्श्वों(बाजूओ)में रखना उचित ही है, दोनों दिशाओंका ज्ञान कराते हैं अतः दाढ़रूप है, क्योंकि मृत्यु द्वारा हत(मरी हुई) दिशाओंका उनको ही ज्ञान है यदि यों न हो तो भवाटवी न्यायानुसार जैसे धूलिसे भरे नेत्रोंवाला दिशा नहीं जान सकता है और भटकता ही रहता है वैसे ही वह भव संसाररूप वनमें भटकता ही रहता है. मृत्यु ही दिशाओंका ज्ञान कराती है प्रवर्ग्यपात्र, जिस कर्ममें उस पात्र द्वारा दूधका होम किया जाता है वह कर्म आध्यात्मिक है, होमानन्तर जो ज्वाला निकलती है,

उसको आकृतिकी समानतासे जिह्वा कहा है वह ही फिर प्रवर्ग्य क्रतु(सोम)रूप आपका शिर माना गया है इस प्रकार वराह भगवान्के श्रीअङ्गमें समस्त क्रिया स्थित है यह दिखाकर अब उनके अधिकरणकी स्थितिका वर्णन करते हैं ''सभ्यावसथ्यं चितयोऽसवो हि त'' सभ्य आवस्थ्य और चितियों आपके प्राण हैं. जिस अग्निमें होम करनेमें नहीं आता है उस अग्नि को 'सभ्य' कहा जाता है जिस अग्निकी केवल उपासना की जाती है वह 'आवस्थ्य' अग्नि है, इन दोनों अग्नियों को ईटोंकी वेदीकी आवश्यकता नहीं है अतः ये जूदी कही गयी है ''अग्निहोत्रे दर्शपूर्णमासयोः पशुबन्धे चातुर्मास्येषु'' इति श्रुतेः. अग्निहोत्रमें, दर्श अमावस्या और पूनमके इष्टि यज्ञोंमें एवं पशुबन्धन यज्ञमें तथा चातुर्मास्यमें इन यज्ञोंमें ईटोंकी वेदी(कुण्ड)में अग्नि स्थापनकी आज्ञा हैं अतः शालामुखीय और धिष्ण्यं अग्नियोंकी स्थापना भी कुण्डोंमें करनी यह स्पष्ट ही है. दक्षिणाग्नि तथा प्राजहितग्नि भी कुण्डों वा वेदियों पर धरी जाती है, 'शामित्र' अग्नि तो 'प्राजहित' अथवा 'आहवनीय' अग्नि है, अग्निको मन्थनकर निकालना तो अनुकल्प है 'प्रसवः' पदका अर्म प्राण है, पुरुषमें नव प्राण हैं, कारण अग्निके स्थान भी नव हैं. गार्हपत्य अग्निका स्थान दशवां है।।३८।।

इस श्लोकमें नामोंका आशय स्पष्टकर बताते हैं:

सोमस्तु रेतः सवनान्यवस्थितिः संस्थाविभेदास्तव देहधातवः।
सत्राणि सर्वाणि शरीरसन्धिस्त्वं सर्वयज्ञक्रतुरिष्टिबन्धनः।।३९।।

'सोम' तो आपका वीर्य है, सवन अवस्थाएं हैं, पृथक्-पृथक् संस्थाएं आपके देहकी धातुएं हैं सर्व यज्ञ आपके देहके सन्धि स्थान(जोड़) हैं आपके बन्धन(नसें) सर्व यज्ञ और ऋतु हैं।।३९।।

'सोमः' शब्दसे सोम यज्ञ कहा है ''सोमेन यजेत्'' इस श्रुतिमें 'सोमः' पद मत्वर्थके अश्रयवाला होनेसे 'सोम' शब्द सोम ओष धवाचक है अतः इस पक्षानुसार देवतापनसे सृष्टि करनेवाला होनेसे वीर्यत्व कहा है. ग्रहपक्षमें सोम गिना जावे तब विकाररहित सोमको 'वीर्य' कहना चाहिये, सवन(सोमवती बेल)से सोमरस निकालनेको सवन कहते हैं वह प्रातः, मध्यान्ह और संध्याको तीन समय निकाला जाता है अतः सवन तीन कहे हैं. आपको जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिकी तीन अवस्थायें ये तीन सवन हैं अग्निष्टोमादि संस्थाएं(सोमयज्ञके प्रकार) तीन पांच या सात हैं उनके सब ही भेद आपके शरीरकी धातुएं हैं. चर्म, मांस और अस्थि ये

तीन, पांचके पक्षमें चमड़ी, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा आती है सातके पक्षमें चर्म और रुधिर(रक्त)का भी समावेश करना, संस्थाके चार भेद माननेके पक्षमें ऊपरकी तीन और चौथा रुधिर लेना है, सर्व प्रकारके विचारसे आपके देहकी धातुएं ही सकल संस्था(सोमयज्ञके प्रकार)के भेद हैं, एक दिनसे लेकर एक सहस्र वर्ष पर्यन्तके समस्त सत्र उनके जो भी भेद हैं वे सब आपके शरीरकी अस्थियोंके सन्धि स्थान हैं, सर्व यज्ञ एवं क्रतु आप ही हैं यज्ञ १७ हैं तथा १२ दिन चलनेवालोंमेंसे आरंभकर अश्वमेघ पर्यन्त एक ही वेदीमें धरी हुई अग्निवाले यज्ञ क्रतुएं हैं अमावस्या और पूर्णिमाके इष्टि होम हैं ये समस्त आपके बन्धन(नसों) मांसपेशियां है।।३९।।

इस तरह वराहके देहमें सबका स्थान कहकर निम्न श्लोकमें इस विषयका उपसंहार करते हुए वराह भगवान्को प्रणाम करते हैं:

नमो नमस्तेऽखिलमन्त्रदेवताद्रव्याय सर्वक्रतवे क्रियात्मने।
वैराग्यभक्त्यात्मजयानुभावितज्ञानाय विद्यागुरवे नमो नमः।।४०।।

समस्त मन्त्र देवता, द्रव्य, ऋतु और क्रियारूप आपको बार-बार प्रणाम है वैराग्य, भक्ति अन्तःकरणकी जयसे आप ज्ञान स्वरूपका अनुभव कराते हो, विद्याप्रद गुरु भी आप ही हैं अतः गुरुरूप होनेसे भी आपको पुनः-पुनः प्रणाम है।।४०।।

वह वराह स्वरूप अपने और अपने भोगका फल स्वरूप होनेसे उनको दो बार प्रणाम कहकर आदर प्रदर्शित किया है. ये कोई दूसरेरूपवाले नहीं हैं यों दिखनेकेलिये 'ते' पद दिया है अर्थात 'आपको'. इषेत्वादि सकल मन्त्र, वसु आदि देवताओं व्रीहि(चावल) धानादि द्रव्य, देवताके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर द्रव्य देवताओंको दिया जाता है इसी प्रकार अलौकिक यज्ञ मन्त्र देवता तथा द्रव्यात्मक होता है. पुरुषका प्रयत्न तो लौकिक है अतः वह चेष्टारूप तथा प्रत्यक्ष होनेसे यज्ञ नहीं है. 'सर्वक्रतवे' सर्व क्रतुरूप यज्ञोंके जो भी भेद हैं उन सबके आप ही रूप हैं ऐसे आपको प्रणाम है, 'क्रियात्मने' क्रियारूप आपको नमस्कार है. चेष्टा भी यज्ञके आविर्भावमें कारण होती है क्रिया भी इन्द्रियातीत(अलौकिक) है यों कितने ही मानते हैं वास्तवमें तो मन्त्ररूप स्थानवाली क्रिया यजमान(यज्ञ) ये आविष्ट भगवान्में वहां ही अन्तर्भूत हो जाती है.

इसी तरह सर्वत्र क्रियारूपत्व और स्वर्गादि साधकत्वरूपसे नमस्कारकर

ब्रह्ममीमांसाके अनुसार वेदर्थरूप भी यह ही है यों कहते हैं १.वैराग्य अर्थात् विषयोंसे तृष्णाका मिट जाना २.भगवद्गुणानुवाद श्रवण और उसमें स्नेह(भक्ति) ३.आत्मजयः अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाले ये तीन ही हैं, इसलिये इनसे अनुभवमें आया हुआ ४.जो ज्ञान अर्थात् ब्रह्मात्माका अनुभव, ऐसे ज्ञानरूप आपको प्रणाम है ५.'विद्या' अर्थात् वाक्य एवं अर्थके ज्ञानरूप उपनिषद् ६.वैसा ज्ञान करानेवाले गुरु उत्तरकाण्डमें षड्गुण भगवद्रूपकी इतनी सामग्री है काण्डके भेद होनेसे फिर प्रणाम करते हैं।।४०।।

इस प्रकार छः श्लोकोंसे यज्ञ स्वरूपत्वका प्रतिपादनकर अब इस श्लोकसे लेकर छः श्लोकमें प्रकृत विषय(चालू प्रसंग)के उपयोगी आधिदैविक रूपका निरूपण करते हैं:

दंष्ट्राग्रकोट्या भगवंस्त्वया धृता विराजते भूधर ! भूः सभूधरा।
यथा वनान्निस्सरतो दता धृता मतङ्गजेन्द्रस्य सपत्रपद्मिनी ।।४१।।

हे भूमिको धारण करनेवाले भगवान्! आपने जिस पर्वत सहित पृथ्वीको अपने दाढ़ोंको आगेवाली नोंक पर धारण किया है वह ऐसे सुशोभित हो रही है जैसे वनसे निकले हुवे मदमस्त गजेन्द्रके दांतों पर रखी हुई पत्र सहित कमलिनी शोभती है।।४१।।

दाढ़का अग्र भाग उसकी कोटि(लोक) उस पर भूमिको धारण किया है वह क्रिया असम्भव दीखती है, ऐसी शंका निवारणकेलिये 'भगवान्' विशेषण दिया है, आप ऐश्वर्य आदि छः गुणोंसे युक्त हैं. अतः आप पृथ्वीको ऊंचाकर ले जा सकते हैं, इस क्रियामें आप(भगवान्)का ही प्रयत्न है इसलिये कहा है कि 'त्वया घृता' हे भगवान् इस भूमिको धारण आपने किया है अर्थात् दाढ़ने धारण की है उसमें भी दाढ़के अग्रभाग(नोक)से बिंधी हुई होनेसे तो भूमि शोभासे हीन हो गयी होगी? यह शंका मिटानेकेलिये कहते हैं कि 'विराजते' विशेष शोभित हो रही है. भूधर! यह सम्बोधन वराह और पृथ्वीका सम्बन्ध दिखाकर माहात्म्य प्रकट करनेकेलिये दिया है दूसरे भूधर(पर्वत) इसके समान नहीं हैं यह सिद्ध करनेकेलिये कहा है कि 'समूधरा' पर्वतों सहित भूमिको आपने उठा ली है. पर्वतों सहित भूमि तो सम नहीं होती है कहीं नीची कहीं ऊची होती है. अतः वह शोभा रहित होती है, इस शंकाका उत्तर इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें दृष्टांत द्वारा देते हैं कि जैसे वनसे(जलसे या स्थल परसे) कमलिनीको लेकर अथवा वनसे उसकी रक्षार्थ

निकलते हुये 'मत्त' गजेन्द्रके दान्तमें पकड़ी हुई पत्तों सहित कमलिनी (शोभा देती है वैसे ही वराह शोभित थे) गजेन्द्रसे भगवान्केलिये उठाई हुई जो कमलिनि है वह शोभती रहती है और कुम्हलाती भी नहीं(इस कथनमें किसी प्रकारका विवाद नहीं है) वैसे ही यज्ञकेलिये यज्ञरूप वराहसे धारण की हुई भूमि सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करने वाली है, भर्ताके साथ है और पतिसे सम्मानित हुई. ऊपर बाहर निकलती हुई जैसे कैलाशके शिखर पर मेघ शोभते हैं, वैसे शोभित हो रही थी(है).(वराह भगवान् पृथ्वीको धारण किए हुए ऐसे शोभते थे) जैसे प्राकृत वनसे निकले हुए हस्ती (हाथी)से धारण की हुई है. कमलिनि शुभ्र(श्वेत) अधिकरण आसनवाली होनेसे लोक उसे आश्चर्यसे यह अद्भुततासे ऐसे देखने लगे जैसे चित्रमें अंकित हो जावे वैसे विराजते हुए शोभित थे. प्रकृत(बाल) प्रसंगमें वराहको गजेन्द्र और पृथ्वीको कमलिनिकी उपमा दी गई है।।४१।।

इस प्रकार भगवान्के सम्बन्धसे भूमिकी अतिशय सुन्दरता कहकर, भगवान्ने भूमिकी सुन्दरता अपनेलिये बढ़ाई है,(ऐसी शंका हो तो) भगवान्में इस दोषका परिहार, करनेकेलिये इस श्लोकमें भगवान्का रूप सौंदर्य वर्णन करते हैं:

त्रयीमयं रूपम् इदं च सौकरं भूमण्डलेनाऽथ दता धृतेन ते।
चकास्ति शृङ्गोढघनेन भूयसा कुलाचलेन्द्रस्य यथैव विभ्रमः।।४२।।

आपके दांतों पर रखे हुए भूमण्डल सहित आपका यह वेदत्रयी सुन्दररूप ऐसे शोभा दे रहा है जैसे पर्वतोंके शिखरों पर छायी हुई मेघमालासे उत्तम पर्वतोंके कुलकी शोभा होती है।।४२।।

यद्यपि यह स्वरूप वराहका है तो भी(ये) वेदत्रयीरूप होनेसे उत्तम स्वरूप वाले हैं एवं सुशोभित हो रहे हैं, फिर भी दांत पर भूमि मण्डलको धारण करनेसे अब दूसरे प्रकारसे विशेष सुशोभित हो रहे हैं. वेदादिके प्रकाशसे तो स्वरूपका अलौकिक माहात्म्य है न कि लौकिक माहात्म्य है. यह तो भूमण्डलको दांतके कोण पर स्थापन करनेसे लोक प्रसिद्ध ही है. अलौकिककी अपेक्षासे भी अधिक है, जैसे जीवित अश्वोंकी अपेक्षा भी चित्रोंमें चित्रित अश्वोंकी शोभा विशेष होती है क्योंकि चित्रमें रंग अन्य रंगोंसे मिलनेसे दूसरे रूपको धारणकर विशेष शोभावाले होते हैं. इसी ही भावको वर्णो(रंगों)से हुए विशेष शोभाका दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं कि 'शृंगोढघननेनेति' पर्वतको 'श्वेत' शिखर पर छाये हुए श्याम मेघोंसे मेरूपर्वत उसी तरह शोभायमान होता है, उसमें

भी जो परस्पर प्रेमातिशयसे सजीव हो विलास करते हैं तो विशेष आनन्द तथा शोभा होती है. दृश्यमान (प्रत्यक्ष)रूपकी तरह होता यह अभूतोपमा 'विभ्रम' शब्दसे कही है।।४२।।

इसी तरह पति और पत्नीके आपसके सम्बन्धसे दोनोंकी शोभा हो रही है यों कहकर उसका मातृ-पितृपना सिद्ध करती हुई पृथ्वीकी स्थापना करनेकी प्रार्थना इस श्लोकमें करते हैं:

संस्थापयैनां जगतां सतस्थुषां भवाय पत्नीमसि मातरं पिता।
विधेम चाऽस्यै नमसा सह त्वया यस्यां स्वतेजोऽग्निमिवारणावधाः।।४३।।

स्थावर(अचल) और जंगम(चल) प्राणियोंकी उन्नतिकेलिए एवं सुख पूर्वक रहनेकेलिए जो आपकी पत्नी और जगत्की माता है उस पृथ्वीकी अब स्थापना करो, कारणकि आप पिता हैं, जिस तरह आपने अरणिमें अग्नि स्थापित की है वैसे ही इस(भूमि)के भीतर भी(आपने) अपना तेज स्थापित किया है अतः आपके साथ इसको भी हम प्रणाम करते हैं।।४३।।

हे नाथ! आप पिता हैं, अतः सर्वकी माता और आपकी पत्नी इस भूमिको स्थावर एवं जङ्गम प्राणियोंके सुख और उन्नतिकेलिये अच्छे प्रकारसे स्थापित करें. जैसे लोकमें भी पिता, पुत्रोंके रक्षार्थ स्त्रीको घरमें बिठाकर आप विदेश जाता है वैसे ही आपको भी करना चाहिये क्योंकि आप सबके पिता हैं. यों प्रार्थना करनेसे यह सूचित किया है कि प्रत्यूपकार(उपकारके बदले)की अपेक्षा(चाह) न रखकर ही आपको इसकी यहां स्थापना करनी चाहिये और यह वैसे ही सर्व जगत्की पालना करे यों निरूपण किया है, तो भी हम इस ऋणसे अपने को छुडानेकेलिये पूर्ण काम आप दोनोंको नमस्कार करनेके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकते हैं. आपके साथ इसको भी प्रणाम करते हैं. सर्व प्रकारसे नमन करेंगे, यहीं तात्पर्य है. 'नमसा' अव्यय है. इससे कर्तव्यका निर्देश भी किया है. तात्पर्य यह है कि प्रणाम पूर्वक पूजा करे भक्ति तथा यज्ञ करते हुए आपके आज्ञाकारी होकर रहेंगे किन्तु अन्य विशेष कारण यह है कि यह गर्भिणी है. अतः इसकी स्थापना करनी आवश्यक है.

यह भूमि भगवान्के समान विशेष कृतिवाले, भक्तिकी सिद्धि करनेवाले व प्रचार करनेवाले महापुरुषोंको प्रकट करेगी इस अभिप्रायसे कहते हैं 'यस्यां स्वतेज्या' जिसमें आपने अपना तेज स्थापित किया है आप दोनों मार्गोंके प्रवर्तक

हैं? जैसे अश्वत्थे(पीपल)में वेदत्रयीरूप अग्नि(तेज)को रखा है वैसे ही इस भूमिमें भी अपना तेज(पुरुषोत्तम) प्राकृति अथवा पुरुषाकृतिरूप धरा है।।४३।।

इस प्रार्थनाको करनेके अनन्तर कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा है इस अभिप्रायसे वराहजीके किये हुवे पूर्व चरित्रोंका अनुवाद करते हुए स्तुति करते हैं:

कः श्रद्दधीताऽन्यतमस्तव प्रभो! रसां गताया भुव उद्बिर्हणम्।
न विस्मयोऽसौ त्वयि विश्वविस्मये यो मायया इदं ससृजेऽतिविस्मयम्।।४४।।

हे प्रभो! रसातलमें गई हुई भूमिको वहांसे बाहर लानेका कार्य आपके सिवाय दूसरा करेगा इस पर कौन विश्वास करेगा? क्योंकि ऐसे विस्मयकारक कार्य तो आप ही कर सकते हैं कारण कि ऐसे विस्मय(आश्चर्य)कारक कार्य तो आप ही कर सकते हैं जिन आपमें विस्मयरूप विश्व रहता है और इस विस्मय(आश्चर्य)रूप जगत्को आपने अपनी इच्छारूप मायाशक्तिसे रमरणार्थ तथा सबको आश्चर्यमें डालनेकेलिये बनाया है किन्तु आपमें किसी कार्यका होना आश्चर्यकारक नहीं हैं।।४४।।

आपके सिवाय दूसरा कोई महान् पुरुष पृथ्वीको रसातलसे ले आया है यदि दूसरे यों कहे तो भी उन पर कौन विश्वास करेगा? आपका माहात्म्य, वाणी और मनसे अगोचर(नहीं जाना जाय ऐसा) देखकर भी आसुरीजीवोंको भूमिके उद्धार कार्य पर विश्वास नहीं होता है, वे समझते हैं कि हम ऐसे शक्तिशाली उत्तम होते हुए भी यहां कार्य नहीं कर सकते हैं तो यह भूमिके उद्धारकी असम्भावना युक्त कथा कल्पित(बनावटी) होनेसे मिथ्या है, कभी भी ऐसा जगत्में नहीं हुआ है उनके ऐसे वाक्योंसे दूसरे भी भ्रमित(शंकाशील) हो जाते हैं जब दूसरोंने यह कार्य किया यों ही नहीं मानते हैं तो स्वयंका करना तो दूर ही रहा आपमें तो यह कार्य आश्चर्यका हेतु नहीं है 'न विस्मयोऽसे', इस पक्तिमें यह आशय प्रकट किया है कि यह भूमिका उद्धार करना आपमें विस्मयरूप नहीं है, इससे आश्चर्य भी नहीं होता है और आपके गर्वका कारण भी वह नहीं है, उसमें कारण बताते हैं कि 'विश्व विस्मय' 'इति' आपका प्रकट किया हुआ यह विश्व ही विस्मयरूप है जैसे रेत(वीर्य)रूप जलसे मयूर आदि एवं पुरुष आदि उत्पन्न होते हैं अथवा बीजों वृक्षादि उत्पन्न होते हैं, ऐसा विश्व ही आपका विस्यमरूप कार्य है और विश्व ही आश्चर्यरूप जिसमें हैं. यह पद माहात्म्यसूचक है इससे भी दूसरा विशेष माहात्म्य है, वह 'यो मायेदमिति' इस पदसे प्रकट करते हैं कि यह ही जगत् मायासे

स्वप्नावस्थामें प्रत्येक पुरुषको पृथक्-पृथक् प्रकारसे क्षण-क्षणमें खेल खिलाता है 'सृजत' ऐसा पाठ हो वहां भी आपकी लीला अतिविस्मय करानेवाली है पर्वतके नोक पर समुद्र, दिनको तारोंका देखना अपना कटा हुआ सिर देखना आदि यह सब स्वयं उस ही रूपसे देखता है।।४४।।

आप लोगोंको ज्ञान वा मोक्ष देना है. जिसकेलिये अधिकार प्राप्त करना चाहिये तो फिर कैसे? स्तुति करके ही शांत हो जाते हो इस शंकाका उत्तर इस श्लोकमें देते हैं:

विधुन्वतो वेदमयं निजं वपुर्जनस्तपःसत्यनिवासिनो वयम्।
सटाशिखोद्धूतशिवाम्बुबिन्दुभिर्विमृज्यमाना भृशमीश पविताः।।४५।।

हे ईश! जब आप अपने वेदमय श्रीअङ्गको हिलाते हैं, तब आपके गरदनके बालोंसे उड़ती हुई शीतल कल्याणरूप जलकी बूंदें पड़ती हैं, जिनसे जनलोक, तपलोक, सत्यलोकमें रहनेवाले हम पवित्र हो जाते हैं।।४५।।

हे ईश! जलसे प्रकट यह आपका वेदमय अङ्ग जब आपने हिलाया तब आपकी गरदनबालोंसे निकलती हुई कल्याणकारक जलकी बूदें बार-बार हम पर पड़ती थी, जिनसे हमारे शरीरसे घर्षण(घिसने)से स्वच्छ होनेके साथमें हम बाहर और भीतरसे पवित्र हो गये हैं, जो इस तरह पवित्र हो जाते हैं उनको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है जब मुखसे मन्त्रोच्चारण करने तथा हाथसे मार्जनादि करनेसे लोक निश्चयपूर्वक पवित्र हो जाते हैं. तो वेदमय शरीरसे वेंदोंके अर्थरूप कुशोंसे, कण्ठसे निकलते हुए पवन(श्वास)से, मुष्टिके समान सुन्दर आकृतीवाले स्वरूपसे, वहां भी आपके हिलानेसे प्रकट कल्याणरूप जलकी बूदोंसे मार्जन (स्नान) हो तो कैसी पवित्रता होगी? कही नही जाती है, जन, तप और सत्यलोक तीनोंको ग्रहण इसलिये किया है कि तीनों लोकोंके निवासियोंका अधिकार समान सिद्ध है।।४५।।

इस तरह भगवान्की स्तुतिकर, स्तुतिका उपसंहार करते हुए निम्न श्लोकोंमें स्तुति स्वल्पका है. अपने इस दोषको मिटाते हैं:

स वै बत भ्रष्टमतिस्तवेषते यः कर्मणां पारमपारकर्मणः।
यद्योगमायागुणयोगमोहितं विश्वं समस्तं भगवन्! विधेहि शम्।।४६।।

जो मनुष्य असीम कर्म(लीलाओं)वाले आपके अनन्त कर्मोंका पार (अन्त) जानना चाहता हैं. वह वास्तवमें भ्रष्ट मति(बुद्धि)वाला है. यह सम्रस्त

विश्व आपकी योगमायाके गुणोंके सम्बन्ध होनेसे मोहित हो गया है. अतः हे भगवन्! आप कल्याण करो।।४६।।

आपके गुणोंके वर्णित स्तोत्रमें स्वल्प या बहुत यह विभाग करना व्यर्थ है. क्योंकि आपके गुण असीम होनेसे उनका वणन हो नहीं सकता जैसे अपनी बुद्धिके अनुसार ही सम्पूर्ण प्रत्येक वर्णनकर सकता है. वैसे हमने भी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया है. यदि कोई डींग मारता है कि मैं समस्त भगवच्चरित्र कहूंगा यों कहकर कार्य प्रारम्भ करता है, वह निश्चयसे भ्रष्ट मति(पागल) है. जो भ्रष्ट होता है. उससे मर्यादादि नहीं रहती है. इसलिये इसका खेद है. भगवान्के गुणोंमें बुद्धि(चित्त)को बढ़ाते हुए भी भ्रष्टबुद्धि हो जाती है. भ्रष्टबुद्धिका यही प्रमाण (सबल) है कि असीम कर्मवाले प्रभुके कर्मोकी सीमा करना चाहता है. यदि अपने कहे अनुसार भगवान्के गुणोंका अन्तकर दिखावे तो वह बुद्धि उत्तम कही जावे वह होता नहीं अतः वह बुद्धिभ्रष्ट है. विशेष क्या कहें, जो कर्म(लीलाएं) अब तक हुई हैं अन्त कोई नहीं पा सका है; तो होनेवाले कर्मोकी गतिको कौन जान सकता है? कारणकि, प्रभु अपारकर्मा हैं इसमें भी जो सर्वज्ञ वेद हैं अथवा वे जो भगवद्भावको प्राप्त हैं वे भले कहे(जो वस्तुतः वे भी यों नहीं कहते हैं) शेष जो मायासे मोहित हैं वे कैसे कह सकते हैं? जगत्में सब ही मोहित हैं, वह बताते है 'यूथोगमाया गुण योगमोहितं' जिस कारण योगमायाके सत्वादि गुणोंसे सम्पर्क होनेसे समस्त ही विश्व मोहित है. वह भगवान्की योगमाया जगत्की रचनादि करनेवाली है. अतः अपने कार्य सिद्धिकेलिये सबको मोहित करती ही है, इस कारणसे मायासे मोहित मनुष्य स्वरूपको ही नहीं जानते हैं, तो फिर भगवद् गुणोंको कैसे जान सकेंगे? आप भगवान् हैं अतः आप सबका पालन(कल्याण) करो, पहले कहे वाक्य दयाजनक (पैदा करनेवाले) हैं।।४६।।

उनकी की हुई स्तुति सफल हुई यों इस श्लोकमें कहते हैं:

मैत्रेय उवाच

इत्युपस्थीयमानस्तैः मुनिभिर्ब्रह्मवादिभिः।
सलिले स्वखुराक्रान्ते उपाधत्ताऽविताऽवनिम्।।४७।।

मैत्रेयजी कहने लगे कि हे विदुरजी! उन ब्रह्मवादी मुनियोंसे इस प्रकार स्तुति किये गए सर्व रक्षक प्रभु अपने खुरोंसे जलको स्थगितकर उस पर भूमिको स्थापित करने लगे।।४७।।

'इति' शब्द समाप्ति बताता है अथवा इस प्रकार कहता है, उन मुनियोंसे इस तरह उपस्थानविद्यासे मुक्ति किये हुए प्रभुने ब्रह्मवादियोंके वचन असत्य न होने चाहिये इसलिये अपने खुरोंसे जलको स्थिरकर उस पर भूमिको धरा क्योंकि आप सबोंके रक्षक हैं. जलको खुरोंसे स्थिर किया कारणकि जलमें मर्यादा एवं भय था शायद फिर पृथ्वीको न डूबो दे इसलिये अब खुरोंसे जितना भाग आक्रान्त हुआ(घिर गया) वह देवतारूप हो जानेसे भूमिको भयकर्ता नहीं रहा इसलिये अब कोई चिन्ता नहीं है।।४७।।

इस प्रकार भगवान्के चरित्र कहकर इस श्लोकमें उपसंहार करते हैं:

स इत्थं भगवानुर्वीं विष्वक्सेनः प्रजापतिः।
रसाया लीलयोन्नीताम् अप्सु न्यस्य ययौ हरिः।।४८।।

इस तरह रसातलसे खेलते हुवे लायी हुई भूमिको विष्वकसेन प्रजापति भगवान् जल पर धरकर आप(हरि) पधार गये।।४८।।

'इत्थं' इसप्रकार रसातलसे पृथ्वीको(ऊपरके लोकमें) जल पर धरकर आप अन्तर्धान हो गये यों वाक्यका सम्बन्ध है. अकेले कैसे पृथ्वी ले आये और अकेलोंने कैसे धर दी? इन शंकाओंको मिटानेकेलिये 'विष्वकसेन' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आप एकांकी(अकेले) नहीं हैं. इन भगवान्के चारों तरफ सकल कार्य करनेकेलिये बड़ी ही सेना मौजूद है. जल पर धर देनेका कारण बतानेकेलिये 'प्रजापति' विशेषण दिया है. और आप अन्तर्धान हो गये जिसका कारण 'हरि' शब्दसे बता दिया है, यदि आप पधारते नहीं तो प्रजा स्वतन्त्रतासे व्यवहार नहीं करा सकती थीं।।४८।।

यह प्रकरण समाप्त हुआ इसकी सूचना देनेकेलिये तीन लोकोंसे इस प्रकरणके श्रवणका फल कहते हैं:

य एवमेतां हरिमेधसो हरेः कथां सुभद्रां कथनीयमायिनः।
शृण्वीत भक्त्या श्रवयेत वोशतीं जनार्दनोऽस्याशु हृदि प्रसीदति।।४९।।

जिस किसीकी भी यदि हरिमें बुद्धि है, वह जब कथनीय मायावाले हरिकी कल्याणरूप कमनीय कथाका भक्तिसे श्रवण करता है अथवा अन्योंको श्रवण कराता है, तब जनार्दन भगवान् उस पर अपने हृदयमें शीघ्र प्रसन्न होते हैं।।४९।।

जो इसके पहले कही हुई भगवान्की सृष्टिरूप लीलाका श्रवण करे या

जो करावे उन दोनों पर भगवान् प्रसन्न होते हैं. यह फल है. भगवान्की प्रसन्नताको फल कहनेसे दुःख निवृत्तिको क्यों नहीं फल कहा जाता है? इस शंका पर कहते हैं कि 'हरिमेधसो हरे' भगवान्के विषयवाली अर्थात् जो बुद्धि भगवान्में ही आसक्त है. वह अपनी ही बुद्धि स्वयं समस्त दुःखोंका हरणकर लेती है. ऐसे मनुष्यके दुःखोंका स्मरण न करने पर भी भगवान् स्वतन्त्रतापूर्वक स्वतः(अपने आप) हर लेते हैं. जब यों दुःखकी निवृत्ति स्वतः सिद्ध है तो उसको फलरूप कैसे कहा जावे? तो स्वर्ग आदिको फलरूप क्यों नहीं कहा जाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं, कि 'सुभद्रां' अर्थात् सकल स्वर्ग आदि सुखोंसे भी भगवत्कथा विशेष कल्याणरूप हैं. अर्थात् पूर्णानन्दरूप है. आप यों कैसे कहते हो? सर्वत्र स्वर्गादि ही फलरूपसे कहे हैं इस पर 'कथनीय भायिनः' विशेषण दिया है. इस आपकी मायाके गुण सब गा रहे हैं. सुखपूर्वक बोल रहे हैं शास्त्रमें विधान है कि श्रवण और कीर्तनसे धर्म होता है. धर्मसे ही अभ्युदय(उन्नति) और निःश्रेयस(मोक्ष) प्राप्त होता है. केवल श्रवण और कीर्तन धर्मसे सिद्धिके निराकरणकेलिये श्रवण-कीर्तनका भक्तिपन प्रसिद्ध करनेके लिये मध्यमें 'भक्तया' पद दिया है. जिसका तात्पर्य है 'भक्तया' प्रेमसे अर्थात् श्रवण-कीर्तन भी प्रेमसे करने पर भक्तिरूप होते हैं और तब आनन्द देते हैं. अतः एवं यहां 'शृण्वीत' और 'श्रवयेत' ये दोनों क्रियाएं वैदिक कही है जिसका अर्थ(भाव) है. सुने और सुनावे प्रत्येक फल देनेवाली है इसलिये 'वा' पद दिया है. श्रवण तो कथाके स्वरूपकी सुन्दरतासे होता है. वह 'उशती' पदसे सूचित किया है. 'उशती'का अर्थ कमनीय है. प्रभुका नाम यहां जनार्दन देकर सूचित किया है कि वे अविद्यानाश करनेवाले भगवान् हैं उनका हृदय ही प्रसन्न होता है जिसका भाव है कि हृदयकी प्रसन्नता ही सम्पूर्ण प्रसन्नताकी सूचक है।।४९।।

उससे क्या हो? ऐसे प्रश्न पर निम्न श्लोक कहा है:

तस्मिन् प्रसन्ने सकलाशिषां प्रभौ किं दुर्लभं ताभिरलं लवात्मभिः ।
अनन्यदृष्ट्या भजतां गुहाशयः स्वयं विधत्ते स्वगतिं परः पराम ।।५०।।

सकलके आशिषोंके देनेकी शक्तिवाले प्रभुके प्रसन्न होनेके बाद क्या नहीं मिल सकता है अर्थात् सब कुछ प्राप्त होता है. अतः तुच्छ कामनाओंसे कौनसा प्रयोजन है? हृदयको जाननेवाले प्रभु पुरुषोत्तम स्वयं अनन्य भक्तोंको अपना परम पद स्वतः देते हैं।।५०।।

प्रभु प्रसन्न हो पहले यही दुर्लभ है यदि वे प्रसन्न हुए तो बादमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है. जिसमें कारण है कि आपको सब आशिषोंको देनेमें शक्तिशाली विषेशण दिया है इसलोक एवं परलोकके फल, मोक्षादिके प्रभु स्वामी, अर्थात् नियन्ता हैं, इससे यह बताया है कि उस भगवान्के प्रसन्न होने पर सब कुछ सिद्ध ही हुआ है यों समझ लेना चाहिये भगवद्भक्तोंमें भी सर्व विषयोंका सुख नहीं दीखता है, अर्थात् उनको भी सर्व सुख प्राप्त नहीं है. उसका 'ताभिर्लवात्मभिरलं' क्या कारण हैं? इस पर कहते हैं कि उन क्षण मात्र सुखाभास देनेवाले विषयोंसे कोई प्रयोजन नहीं है, तो अचानक कभी उत्पन्न विषयोंकी इच्छा भक्तोंको पूर्ण नहीं होगी इसका उत्तर देते हैं. 'अनन्यदृष्टया' वे भक्त हरिके सिवाय कुछ नहीं चाहते हैं, उनकी दृष्टि तो केवल आनन्दरूप हरिकी लीलाओंमें ही है, और भगवान् भी 'गुहाशय' हैं जिससे उनके हृदयके भावोंको जानते ही हैं, अतः स्वयं ही उनकी वैकुण्ठ नामवाली गति करते हैं. 'पर' पदसे पुरुषोत्तमका सूचन किया है. 'परां' पदका आशय है कि अपने समान उनको बना देते हैं. अर्थात् जैसे स्वयं भगवान्के योगमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं है वैसे ही भक्तके भी भोगमें कमी नहीं करते है किन्तु अनन्य दृष्टि(भाव)से भजन करना चाहिये, भगवान् प्रसन्न हो उनको किसी प्रकार श्रम न होवे इस भावनासे ही भगवान्की सेवा चाहिये।।५०।।

यदि यों है तो बताइये कि भगवत्कथा श्रवणसे उत्तमफल कैसे प्राप्त होगा? इस पर उत्तरमें यह श्लोक कहते है:

को नाम लोके पुरुषार्थसारवित्पुरा कथानां भगवत्कथासुधाम्।
आपीय कर्णाञ्जलिभिर्भवापहामहो! विरज्येत विना नरेतरम्।।५१।।

संसारमें नरेतर(पशुओंके) सिवाय, पुरुषार्थके सारको जाननेवाला कौन मनुष्य होगा जो भव(संसार)को नाश करनेवाली पुराने भगवच्चरित्ररूप सुधाका कर्णपुटोंसे स्वल्प(थोड़ा) भी पानकर फिर उनसे मनको हटा सके?।।५१।।

कथाश्रवणसे महाफल प्राप्ति हो ऐसा उपाय कहिये जिसके उत्तरमें कहते हैं कि इस विषयमें उपाय नहीं करना चाहिये क्योंकि कथा श्रवणमें कथाकी सुन्दरता हेतु(कारण)है और महाफलदाता है. जो भगवत्कथा श्रवणके रसिकजन हैं वे स्वतः उसमें प्रवृत्त हो जाते हैं. जो बैल हैं वे उपेक्षणीय ही(तिरस्कारके पात्र) है यदि कहो कि कथाश्रवण प्रवृत्त हो कुछ समयके बाद उस कथाका त्यागकर दूसरे रसमें प्रविष्ट होते हैं. उनकी अन्यरसमें निवृत्ति होवे तदर्थ तो उपाय कहना

चाहिये इस पर कहते हैं कि ऐसा कोई है ही नहीं, यों निरूपण करते हैं कि 'कोनाम' कौनसे प्रसिद्ध पुरुषका मन कथासे उठ गया है, वे बताइये तो सही? लोकमें माहात्म्य जानकर भी स्वतन्त्र होकर पुरुषार्थोंके सारको विभागके जानकार होकर भी भगवान्के पुराने चरित्रोंकी सूधाका पानकर, प्रसंगानुसार भगवत्कथाका श्रवणकर उसकी मधुरता तथा मृत्यु निवर्तकत्व जानकर उसमें भी भगवत्कथा वाचकके मुखसे निकली हुई सुनते हुए अक्षर और मात्राके आशय भी न छूटें ऐसी अवस्था हो तो फिर कैसे मनुष्य उससे विराम पावे? कोई नहीं, सिवाय उसके कि जिसने इस रसका पान न कर ब्रह्मसायुज्य नहीं पाया है, क्योंकि यह कथा संसार(आवागमन)को मिटानेवाली है.

लोकमें कथासे विरक्तजन भी देखनेमें आते हैं. इस पर 'अहो' पद कहा है कि यह तो आश्चर्य है, मनुष्य होकर कथासे विरक्त है इसका कौनसा कारण हैं, इस जिज्ञासाके होने पर स्वतः स्फुरित हेतु कहते हैं कि वह प्रायः नर(मनुष्य) ही नहीं है, किन्तु वानर(बंदर) या अन्य कोई पशु आदि है।।५१।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके तेरहवृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय १४

दितिका गर्भ धारण

वर्णिता सर्गलीलाऽत्र त्रिविधा भगवत्कृता।
उपोद्घातस्तु तस्या वै, मतान्तरमिहोच्यते।।का.१।।

इस स्कन्धके बारह अध्यायोंमें भगवान्‌की की हुई तीन प्रकारकी सृष्टिका वर्णन किया. फिर उस लीलाका तेरहवें अध्यायमें उपोद्घात कहा, अनन्तर उस उपोद्घातकी लीलासे सम्बन्धवाला मतान्तरका यहां निश्चयसे कहा जाता है।।१।।

लौकिकी चाऽन्यभाषा च समाधि : पोषिके तु ते।
ते प्रमाणमभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि।।का.२।।

लौकिकी और परमत्तभाषा, वे दोनों भाषाएं समाधिभाषाकी पोषक हैं. वे दोनों अभिप्रायसे प्रमाण हैं, समाधिभाषाकी तरह पूर्णतः प्रमाण नहीं है।।२।।

यदेव भिन्नरीत्याऽत्र रूप्यते तन्मतान्तरम्।
न तद्विरोधो दोषाय पदशास्त्रार्थयोः क्वचित्।।का.३।।

पृथक् प्रकारसे कहा गया है वह ही 'परमत' है. यदि उस(परमत)में शास्त्र तथा अर्थसे विरोध देखनेमें आवे तो उससे कुछ दोष नहीं समझना चाहिये।।३।।

कामेन क्रोधलोभाभ्यां कर्ममार्गादिनाशनम्।
वर्ण्यते येन जीवानां मुक्तानाम् इह सम्भवः।।का.४।।

काम, क्रोध और लोभसे कर्ममार्ग आदिके नाशका वर्णन करनेमें आता है जिससे यहां मुक्तजीवोंकी उत्पत्ति होती है।।४।।

सर्गस्थित्यन्तकथनं त्रिभिस्तेषां निरूप्यते।
अतः षड्भिरिहाध्यायैः सर्गोपोद्घात उच्यते।।का.५।।

मुक्तजीवोंकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश प्रथम तीन अध्यायोंमें कहा है, अतः यहां छः अध्यायोंसे सृष्टिका उपोद्घात कहा है।।५।।

मतान्तरे शिवोत्कर्षो ब्राह्मणोत्कर्ष एव च।
भक्तस्य विष्णोश्चैवाऽत्र लीला व्यामोहिका मता।।का.६।।

यह मतान्तर है. इसमें चार कारण बताये हैं: १.शिवका उत्कर्ष २.ब्राह्मणोंका उत्कर्ष ३.भक्तकी लीला और ४.विष्णुकी लीला मोहमें डालनेवाली है।।६।।

अन्यथा भगवल्लीला सर्गो नैव भवेद्ध्रुवम्।
चतुर्दशे तु कामेन कर्मनाश इहोच्यते।।का.७।।

[१]यदि यों न होवे तो यह सृष्टि भगवान्‌की लीला न बने. चौदहवें अध्यायमें कर्मका नाश 'काम'से हुआ है।।७।।

१.जो कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका नाश न हो तो भगवान् अवतार ही न लेवे, जो व्यामोहिका लीला न करें तो मुक्तजीव उत्पन्न न होवे तो सृष्टि कर्मसे ही हुई मानी जावे और भगवान्‌की लीलासे न होय.(प्रकाश)

आधारकथनं त्वादौ गर्भे जीवस्य संक्रमः।
तामसः काम एषो हि ततोऽत्र शिवसंकथा।।का.८।।

पहले आधार(गर्भस्थितिका आश्रय दिति)का वर्णन किया है और जीवका गर्भमें आना बताया है, यह काम तामस है जिससे यहां शिवकी कथा कही गई है।।८।।

क्रोधोऽपि कामसबन्धी प्रसादो भक्तिहेतुकः।
पूर्वाध्याये वराहस्य चरित्रं तु निरूपितम्।।का.९।।

क्रोध भी कामका सम्बन्धी(साथी) है, भक्तिका कारण प्रसन्नता है पहले अध्यायमें वराहका चरित्र कहा ही है।।९।।

वहां(तेरहवें अध्यायमें) हिरण्याक्षका वध संक्षेपमें कहा है भगवान्‌की युद्धलीलामें विदुरका मन आसक्त है इसलिए विस्तारसे वह चरित्र पूछता है.

श्रीशुक उवाच

निशम्य कौषारविणोपवर्णितां हरेः कथां कारणसूकरात्मनः।
पुनः स पप्रच्छ तमुद्यताञ्जलि न चाऽतितृप्तो विदुरो धृतव्रतः।।१।।

शुकदेवजीने कहा कि जिसकी देहमें यज्ञ मौजूद हैं ऐसे सूकररूप हरिकी कथा बिदुरजी कोषारविसे सुनकर भी फिर हाथ जोड़ नम्रतासे वह कथा विशेषरूपसे पूछने लगे क्योंकि कथासे पूर्ण तृप्त नहीं हुवे थे तथा कथा श्रवणका ही व्रत धारण किया था।।१।।

मैत्रेय नाम न कहकर कोषारवि पिताके नामसे पूछनेका कारण यह है कि पिताके सम्बन्ध दिखाने पर युद्धलीला जिसके सुननेकी मुझे इच्छा है वह बताएंगे 'हरेः' पदसे यह सूचित किया है कि भगवान्‌की युद्धलीला है यह क्लेश नहीं देगी किन्तु आनन्द ही देगी किन्तु कारणभूत जो सूकरयज्ञ है वह जिसकी देहमें है यों

कहनेसे यह सूचित किया है कि विदुरजीने वराहावतारका स्वरूप जाना है, यद्यपि वराहावतारकी कथा पहले पूछी एवं सुनी भी है तो भी फिर दूसरे प्रकारसे पूछते हैं, 'उद्यताञ्जलिः' जैसे हाथ जोड़कर किसी वस्तुकी भीख मांगी जाती है, उसी तरह ही कथा सुनानेकी प्रार्थना करते हैं यों प्रार्थना करनेका कारण यह है कि कथा श्रवणसे पूर्ण तृप्त नहीं हुए हैं विदुरजीने देश तथा कालको जाननेसे निपुणता प्राप्त की है, यह प्रश्न साधारण रीतिका नहीं किन्तु आवश्यक है जिसका कारण यह है कि विदुरजीका हरिकी कथा ही सुननी अन्य कुछ नहीं सुनना ऐसा व्रत लिया हुआ था, अतः उसको सुने बिना इसकी स्थिति नहीं रहती।।१।।

पहले संक्षेपमें कही हुई कथा चालू प्रसंगमें भी उपयोगी होनेसे फिर भगवत्कथाका अनुवाद करता है फिर कहकर सुनाता है:

विदुर उवाच

तेनैव तु मुनिश्रेष्ठ! हरिणा यज्ञरूपिणा।
आदिदैत्यो हिरण्याक्षो हत इत्यनुशुश्रुम ।।२।।

विदुरजीने कहा हे मुनिश्रेष्ठ! उस ही यज्ञरूप हरिने आदिदैत्य हिरण्याक्ष का वध किया यों सुना है।।२।।

विदुरजीने कहा मुनिश्रेष्ठ! इस सम्बोधनसे यह बताया है कि इनको(मैत्रेयजीको) इस विषयका ज्ञान है 'तेनैव' उस(वराह)ने 'हरि'(दुःखहर्ता) होते हुए वधका कार्य किया जो उनके विरुद्ध है. हरि होके इसका(हिरण्याक्षका) वध कैसे किया? हरि तो सबके दुखोंको मिटाते हैं. इस विरोधके मिटानेकेलिये बहुत कहना चाहिये, 'यज्ञ रूपिणा' हरि होते हुए भी यज्ञरूप थे हिरण्याक्ष दैत्य था, अतः मारना आवश्यक था 'आदिदैत्यः' इन दो पदोंसे मारना या न मारना दो भाव बताए हैं 'आदि' शब्दसे न मारनेका भाव बताया है क्योंकि यह दैत्योंकी आदिमूल होनेसे इसके वधसे दैत्योंकी जड़ नष्ट हो जायेगी. 'हिरण्याक्ष' नामसे सूचित किया है कि इसके नेत्र हिरण्य(अमृत)रूप हैं यह भी इसके न मारनेका कारण बताया है किन्तु इससे उसको मारना चाहिये यों भी सूचित किया है, क्योंकि इसकी दृष्टि जिस पृथ्वी पर पड़ेगी वह अमृतमय हो जायेगी तो फिर सृष्टि हो नहीं सकेगी[१] अनुश्रवणं उच्चारणके बाद भ्रमसे सुना हो अर्थात् पूर्णरीतिसे (समझसे) सुननेमें नहीं आया हो तो इसका उत्तर देना असम्भव है।।२।।

१.हिरण्यका अर्थ अमृत है जब सृष्टिके जीवों पर हिरण्याक्षकी अमृतमयी दृष्टि पड़ती तो

वे अमर हो जाते जबकि सृष्टिमें मरणधर्म मुख्य है इस प्रकार सृष्टि नहीं बन सकती थी.

वराहजीने हिरण्याक्षका वध इसलिए किया कि वह आपके कार्यमें प्रतिबन्धक होनेकेलिये आया था, अतः विदुरजी पूछते हैं कि वह कैसे प्रतिबन्धक हुआ?

तस्य चोद्धरतः क्षोर्णीं स्वदंष्ट्राग्रेण लीलया।

दैत्यराजस्य च ब्रह्मन्! कस्माद्धेतोरभून्मृधः।।३।।

हे ब्रह्मन्! अपनी दंष्ट्राकी नोकसे खेलमें पृथ्वीको ऊपर ले आते हुए उस(वराह)की दैत्यराज(हिरण्याक्ष)से किस कारण लड़ाई हुई?।।३।।

दोनों(वराह और हिरण्याक्ष)केलिये एक ही षष्ठी विभक्तिसे यह सूचित किया है कि दोनोंका सम्बन्ध दृढ एवं समान है एकने रमण करते हुए अपना कार्य पूर्ण किया है, अर्थात् वराहजीकेलिए भूमिका उद्धार खेलके समान था और दूसरे हिरण्याक्षको सर्वपदार्थ स्वतः प्राप्त थे क्योंकि दैत्यराज था अतः परस्पर युद्धका कोई कारण नहीं था फिर भी लडे जिसका क्या कारण था? इसी प्रकारका प्रश्न है।।३।।

मैत्रेयजीने देखा कि विदुरकी वृति भगवत्कथा श्रवणकी ही है अतः उसका अभिनन्दन इस श्लोकमें करते हैं:

मैत्रेय उवाच

साधु वीर! त्वया पृष्टमवतारकथां हरेः।

यत्त्वं पृच्छसि मर्त्यानां मृत्युपाशविनाशिनीम्।।४।।

मैत्रेयजीने कहा–हे वीर! तुमने जो प्रश्न किया है वह श्रेष्ठ है क्योंकि भगवान्के अवतारकी कथा पूछी है. भगवत्कथा, मरनेवालोंके मृत्युपाशको तोड़ देती है अतः प्रश्न तो साधु है ही, पूछनेवाला भी साधु है।।४।।

हे वीर! इस सम्बोधनसे यह प्रकट किया है कि मरनेवालोंकी मृत्युको नाश करनेवाली कथामें मनको लगाना ही वीरत्व है वह तुमने किया है अतः तुम वीर हो, लोकमें यदि कोई थोड़ासा भी मन भगवत्कथामें लगावे तो कृतार्थ हो जावे इसलिए तुमने श्रेष्ठ प्रश्न किया है. पूर्वोक्त कर्म ही साधु(श्रेष्ठ) है यों दिखाया है, सर्वथा हि वह वाक्य पृथक् है प्रश्नकी श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हैं कि, हरिकी कथाका ही प्रश्न किया है जो भी साधु है वे दूसरोंके दुःखोंको मिटाते हैं. विषय साधु(श्रेष्ठ) होनेसे प्रश्न भी साधु हो जाता है. विषय भगवत्कथा है वह साधु इस

कारणसे है कि मरणशीलोंकी मृत्युका नाश करती है।।४।।

भगवत्कथा मृत्युके बन्धनकी नाशकारिणी है इस श्लोकमें यह सिद्ध करते हैं:

ययोत्तानपदः पुत्रो मुनिना गीतयाऽर्भकः।
मृत्योः कृत्वैव मूर्ध्न्यङ्घ्रिमारुरोह हरेः पदम्।।५।।

मुनिकी गाई हुई हरिकथासे उत्तानपदका बालकपुत्र मृत्युके शिर पर चरण धरकर हरिके पदको प्राप्त हुआ।।५।।

नारदमुनिकी गाई हुई कथा, सुख प्राप्त करनेकेलिये भी सुनकर, उत्तानपदके बालक पुत्र ध्रुवने देहसहित मृत्युके शिर पर चरण धरकर हरिके ध्रुव पदको प्राप्त किया जो वीर होता है वह ही अपने वीर्य(बहादुरीसे) कथामें चित्तको आसक्त करता है ध्रुवने तपस्या की, जिससे हरिपद प्राप्त किया होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि तपस्या तो पूर्व सिद्ध थी जिस कारणसे ऐसे महत्कुलमें जन्म हुआ था, तपस्यासे मृत्युका नाश नहीं होता है भगवत्प्रसाद(अनुग्रह) भी कथाका ही व्यापार(सम्बन्धी)होनेसे साधन है केवल साधन नहीं है, भला तभी भजनसे हरिपद प्राप्त हुआ होगा? यद्यपि माताने भगवद्भजनका उपदेश दिया किन्तु उसका भी निर्णय मुनिने ही किया, भजन और कथा श्रवणके प्राप्ति और अप्राप्तिका जब विवेकपूर्वक विचार किया जाता है तब यही सिद्ध होता है कि तपस्यादि मृत्यु पर विजय पानेमें अप्रयोजक है कथामें अभिनिवेश(प्रवेश) ही फलसाधक है. कथामें अभिनिवेश स्वरूप मध्यपाती होनेसे केवल कथा ही मृत्युसे विजय पानेका कारण है, अतः नारद जीसे दिया गया उपदेश समग्र ही मार्ग कथारूप हुआ, 'उत्तानपद' का भावार्थ है जिसका पाद(चरण)ऊंचा किया हुआ है पहले उसने भी उर्ध्वपाद हो तपस्या की थी यों समझा जाता है, ऐसे उसका भी नरकसे रक्षक ध्रुव हुआ, इसलिये अपने और दूसरेके पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली कथा ही है यों निरूपण किया है वह(ध्रुव) अब अर्भक(बालक) ही था काल आदि साधक नहीं थे. विमान आने पर मृत्युने समझा कि अब देहका त्याग करेगा अतः देहको लेनेके लिये मत्यु भी आगई, किन्तु उस(ध्रुव)की देह तो भगवत्कथासे व्याप्त थी जिससे भगवच्चरणारविन्दकी छायासे देह शान्तरूप हो गई थी इससे उसका त्याग हो नहीं सकता था, यद्यपि मत्यु ध्रुवकी देहको उठानेका प्रयत्न करे तो भी विमान तक पहुंचनेकी उसमें सामर्थ्य नहीं थी, इस

कारणसे ध्रुवने स्वयं मृत्युके सिर पर चरण धरकर उस ही शरीरसे विमान पर पहुंचा फिर विमान द्वारा ध्रुवलोकमें चढ़ गए अतः कथामें अभिनिवेश(प्रवेश) ही महाफल है, वह(अभिनिवेश) विदुरमें भी है इसलिए मैत्रेयजीने विदुरका अभिनन्दन किया है।।५।।

जिस कल्पमें वराह और हिरण्याक्षके युद्धकी कथा बहुत सुन्दर थी, उसका वर्णन करनेकेलिये निम्न श्लोकमें दूसरी प्रक्रिया(तरीका) प्रारम्भ करते है:

अथात्रापीतिहासोऽयं श्रुतो मे वर्णितः पुरा।
ब्रह्मणा देवदेवेन देवानाम् अनुपृच्छताम्।।६।।

अब इस विषयमें भी देवोंके देव ब्रह्माने जो देवोंके पूछने पर किया था वह इतिहास मैंने सुना है।।६।।

इस विषयमें भी यह इतिहास मैंने पहले व्यास वह पराशरसे सुना है क्योंकि इतिहास है, समाधिभाषा और मतान्तरके स्वरूपको स्पष्ट करते हैं, जिसमें वेदका सार समझाया गया हो वह समाधिभाषा जाननी चाहिये और जिसमें इतिहासका सार कहा गया हो वह मतान्तर जानना चाहिये यही विवेक है, इतिहास किसको कहा जाता है वह स्पष्ट करते हैं जो कुछ पूर्वके गर्वके हेतुवाले चरित्र हुए हैं, अथवा हास्यके हेतुवाले चरित्र हुए हैं और आश्चर्यमें चकित (गलनेवाले) चरित्र हुए हैं इत्यादि पहलेके हुए चरित्रोंको इतिहास कहा जाता है, 'अयं'का अक्षरार्थ यह है जिसका आशय जो सामने दिख रहा हो किन्तु इतिहास जो आगे(पहले) हुई बात है, अतः इसका आशय स्पष्ट करते हैं कि मेरी बुद्धि(समझ)में स्थित है अतः प्रत्यक्ष ही है आप कैसे कहते हैं? यह इतिहास है? जिसके समर्थनमें कहते हैं कि आगे देवोंके पूछने पर ब्रह्माने यह कथा सुनाई थी, अतः यह चरित्र हुआ है जिससे कहा जाता है कि यह पुरावृत्त अर्थात् इतिहास है. ब्रह्माने बालककी चेष्टा(क्रिया) वर्णन की है अतः हास्यका हेतु है, देवोंको कारणका परिज्ञान करानेवाली होनेसे गर्वका हेतु है. इस सर्गलीलामें उसका जन्म हुआ है जो 'जीव' मुक्त थे इसलिये आश्चर्यका हेतु है, देवोंने यह प्रश्न किया है? जिसका कारण 'जय-विजय' जो मुक्त जीव थे वे गर्भमें क्यों और कैसे आये? उनके जन्मका हेतु कहनेकेलिये यह अध्याय है तथा प्रकरणका उपोद्घात भी है जिससे ब्रह्माका न कहा हुआ भी अर्थ कहेंगे अथवा यह दूसरा पक्ष बताते हैं क्योंकि वहां कहा हुआ और सुना हुआ यों दो प्रकार बताये हैं, अतः उनमेंसे चित्त

खेंचकर पृथक् प्रकारसे हेतुकेलिये कहते हैं 'देवदेवेन' पदसे यह सूचित किया है कि ब्रह्मा देवोंका इष्टदेव होनेसे उसकी कही हुई वा सुनी हुई कथा प्रमाण ही हैं पूछनेवाले देव हैं अतः उन्होंने भगवत्कथामें ही प्रश्न किया है यों जाना जाता है।।६।।

इस श्लोकमें कारणरूप बनी हुई कथा प्रारम्भ करते हैं:

दितिर्दाक्षायणी क्षत्तर्मारीचं कश्यपं पतिम्।
अपत्यकामा चकमे सन्ध्यायां हृच्छयार्दिता।।७।।

हे जितेन्द्रिय! कामसे पीड़ित दक्षकी पुत्री दितिने सन्तान(पुत्र) प्राप्ति केलिये मरीचिके पुत्र कश्यपसे सन्ध्याके समय मिलनेकी प्रार्थनाकी।।७।।

दितिका दाक्षायणी विशेषणसे यह सूचित किया है कि दक्षकी पुत्री होनेसे पुरुष स्वभाववाली तथा ढीट थी, जिसका पिता प्राचेतस दक्ष भी गर्व दोषवाला था, बहुत पतिवाली स्त्रीका पुत्र था, यदि दिति ऐसे पिताकी पुत्री न होवे तो ऐसी ढीटाई न करे, विदुरको जितेन्द्रिय विशेषण देकर यह बताया है कि काम लीला होते हुए भी उसमें किसी प्रकारके कामका विकार उत्पन्न नहीं होगा.

कश्यपको मरीचिके पुत्र कहनेका आशय यह है कि वह कश्यप कामका अवतार था, कारणकि मरीचि मनसे उत्पन्न हुआ है, मन सङ्कल्प उत्पन्न करता है और संकल्प कामोत्पत्ति करता है, कामावतार होनेसे ही कश्यपमें क्षोभ उत्पन्न हुआ जिससे ही दितिकी इच्छा पूर्णकी, 'कश्यप' नामसे यह भी सूचित किया है कि ब्रह्माके शापरूप है जैसे कल्पान्तरमें मरीचिके छः पुत्र हुवे थे. उन्होंने ब्रह्माका उपहास किया था जिससे ब्रह्माके शापसे असुर हुए थे वैसे इस कल्पमें कश्यप भी मरीचिका पुत्र है यों कहकर, संयमी होनेके अभिमानवाले इसने भी ब्रह्माका उपहास किया है तब ही ब्रह्माने इसको भी शाप दिया है यों अनुमान होता है, इस कारणसे ही पौत्रीसे विवाह किया है, इस प्रकारके प्रसङ्गसे तथा कश्यप नामके अर्थसे भी यों जचता है ''(कश्यं)मद्यं पिबति इति कश्यपः'' शराब पीता है वह कश्यप दितिका पति था. इसलिये पत्नीकी प्रार्थनासे कामक्रीड़ामें प्रवृत्ति विशेष अयोग्य नहीं थी.

'न काश्चन परिहोत' यों वामदेव्य सामोपासन व्रत रखनेवालोंको शास्त्राज्ञा है कि कोई भी स्त्री काम तृप्तकाम शान्तिकेलिये आये तो उसका परित्याग न कर उसकी काम शान्ति करनी चाहिये यह भी जैसे अग्निहोत्र व्रत

धारियोंको अग्निहोत्र अवश्य करना धर्म है वैसे इस व्रतवालोंकेलिये यों करना धर्म है. यह धर्म नहीं था किन्तु विधर्म था इसलिए क्रोध उत्पन्न हुआ और सन्तानमें दोष उत्पन्न हुए. 'दिति' अपत्य(पुत्र)की कामनावाली थी, अतः वैराग्यसे वह मिटाई नहीं जा सकती थी, सन्ध्या समय निषिद्धकामको उत्पन्न करनेमें हेतु हे. 'हृच्छयः' काम हृदयमें ही रहता है उस समय ही प्रकट हुआ, जिससे दिति पीड़ित होने लगी अतः उसको रोक न सकी जिससे उसकी शान्तिकेलिये पतिको ही प्रार्थना की।।७।।

अग्निहोत्र कर्ममें प्रवृत्त कश्यपका नाश करनेकेलिये दिति प्रवृत्त हुई अतः निम्न श्लोकमें अग्निहोत्र कर्मका स्वरूप कहते हैं:

इष्ट्वाऽग्निजिह्वं पयसा पुरुषं यजुषां पतिम्।
निम्लोचत्यर्क आसीनमग्न्यगारे समाहितम्।।८।।

यजुर्वेदके स्वामी अग्नि जिह्वावाले यज्ञ पुरुषका दूधसे होमकर, सूर्यास्त समय होने पर, अग्निशालामें ध्यान करते हुए कश्यपको दितिने प्रार्थना की।।८।।

जिसकी(यज्ञपुरुषकी) अग्नि ही जिह्वा है जब शान्त हुई ज्वालावाली अग्नि फिर प्रज्वलित होकर प्रकाशमान होवे तो तब वह अग्नि देवोंका 'मुख' समझना और जब प्रकाशरहित नील ज्वालाका उदय हो तब वह अग्नि भगवान्की जिह्वा समझनी चाहिये, 'पयसा नित्यहोमः' अग्निहोत्रमें जिस दूधसे होम होता है 'रेतः सिञ्चति प्रजनने' उत्पत्तिमें वीर्यका सिञ्चन इसी तरह इसका प्रकृत(चालु) प्रसङ्गमें उपयोगीपन है. अग्निहोत्र चर्वण(अन्न)रूप तथा यज्ञरूप होनेसे 'पुरुषं इष्ट्वा' पुरुष(यज्ञपुरुष)को होमकर(पयकी आहूति देकर) यों कहा है, 'यजुषां पतिम्' इसलिए कहा है कि 'यजुर्वेदेनाग्निहोत्रम्' यजुर्वेदसे अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा है, होम करनेके दो समय बताये हैं, 'अस्तमिते होतव्यम्' सूर्य अस्त हो तब होम करना, 'सन्धौ होतव्यम' सन्ध्यासमयमें होम करना चाहिए, कश्यपने इस पक्षको लेकर होम किया था 'आसीनं' बैठे थे(ध्यान करते थे) इससे यह सूचित किया है कि होम करनेका समय नहीं था, यदि होम करनेका समय होता तो अग्नि प्रज्वलित होती थी कश्यप अभी तक अग्निशालामें ही थे, वहां कैसे बैठे थे इस पर कहते हैं कि, 'समाहितम्' अंतःकरणको सावधानकर अपने इष्ट(भगवान्)का ध्यानकर रहे थे।।८।।

दिति छः श्लोकोंसे कारणसहित अपने सम्बन्धकी योग्यता जताकर ही

सम्बन्ध करनेकी प्रार्थना करती है:

कामपीडाप्रतीकारो यशसाऽनुग्रहस्तथा।
वैषम्यस्य च निर्द्धारो द्वाभ्यामन्ते तु याचनम्।।का.१।।

१.कामसे उत्पन्न पीड़ा, २.उसका उपाय, ३.यशसे कृपा एवं दो श्लोकोंसे पक्षपातका निर्णय, अन्तिम श्लोकमें सम्बन्ध करनेकी प्रार्थना।।१।।

इस श्लोकमें दिति पहले सर्वके कारणभूत, कामपीड़ाको कहती है:

दितिरुवाच

एष मां त्वत्कृते विद्वन्! काम आत्तशरासनः।
दुनोति दीनां विक्रम्य रम्भामिव मतङ्गजः।।९।।

हे विद्वन्! जिस तरह मदमत्त हस्ती, केलेके वृक्षको मसल डालता है इस प्रकार इस धनुर्धारी कामदेवने मुझ दीन अबला पर आपकेलिए हमला किया है, जिससे मैं बेचैन बन गई हूं।।९।।

दिति दिखाती है कि, देवतारूप काम प्रत्यक्ष हो गया है कामशास्त्रमें कहा है कि काम पुरुषको ही पीड़ा करता है, न कि स्त्रीको क्योंकि स्त्रीजाति उसकी सेना है, काम तो पुरुषका ही पुरुषार्थ है, यदि यों न होता तो पुरुष स्त्रीके अधीन हो जाता. इसलिए तुझे(स्त्रीको) कैसे पीडा देता है? इस शङ्काको मिटानेकेलिए 'त्वत्कृते' पद दिया है जिसका भावार्थ है कि आपकेलिए मुझे पीड़ा दे रहा है कारण आपको पीड़ा देनेकी उसमें शक्ति नहीं है, अतः आपको पीड़ा हो इसलिए मुझे पीड़ा देता है जिस कारणसे ही मैं आपको बाधाकर रही हूं. 'विद्वन!' सम्बोधनसे यह बताया है कि आप सब जानते ही हैं अतः इस विषयमें कुछ विशेष निरूपण करनेकी आवश्यकता नहीं है, कामसे व्याकुलकी दशा कैसी होती है यह शास्त्र सिद्ध है आप विद्वान होनेसे उसको जानते ही हो, काम अब प्रकट हुआ हैं जिसका प्रमाण(सबूत) है धनुष लेकर खड़ा है ऐसी दशामें यदि मैं आपको बाधा न करूं तो काम जीते हुए मुझे मार डालेगा, कामका साक्षात्कार(प्रत्यक्ष दर्शन) कैसे कहती हो? जिसके उत्तरमें कहती है कि मैं उसकी सेनामें हूं इसलिए मैं समझ सकती हूं, इस कारणसे ही 'भ्रुवों'का भङ्ग होता है; दृष्टियां भी रसपूरित हो प्रकट होती हैं. इसलिये स्त्रियोंको कामका बाण कहा गया हैं, 'दुनोति' पद बताया है कि पीडाकर रहा है, 'दीनां' पदसे सूचित किया है मैं दीन हूं तो भी कामको दया नहीं आती है जिससे उसका(कामका) निर्दयीपन प्रकट होता है, एवं 'दीना' पदसे यह

भी सूचित किया है कि आप निर्दयी नहीं अतः आप दयाकर इस पीड़ाकी निवृत्ति कीजिये. 'विक्रम्य' इस प्रकार कामने जो हमला किया है उसका तात्पर्य है कि आप मुझसे सम्बन्ध करो यह कामका दृढ़ आग्रह है. 'रम्भामिव महाराजः' दृष्टान्तसे यह सूचित किया है कि काम, मुझे नाश करनेकेलिए प्रवृत्त हुआ है अतः आप दयालु हैं मुझे नाशसे बचाइये।।९।।

इस कारणसे मेरी उपेक्षा न कीजिए किन्तु मुझ पर कृपा कीजिये यों निम्न श्लोकमें प्रार्थना करती हूं:

तद्भवान् दह्यमानायां सपत्नीनां समृद्धिभिः।
प्रजावतीनां भद्रं ते मय्यायुङ्क्ताम् अनुग्रहम्।।१०।।

इस कारणसे प्रजावर्तः सौतोंकी समृद्धियोंसे जलती हुई मुझे आप कृपाकर बचाइए, आपका कल्याण हो।।१०।।

लोकमें सर्वत्र कामादि षट्विकार सर्वको पीड़ा करते हैं. मुझे तो सब मिलकर पीडा करते हैं यों जतानेकेलिए पहले कामबाधाका निरूपणकर अब मत्सरता बताती है, प्रजावाली सौतोंकी सुख समृद्धि देखकर जलती हुई मुझ पर कृपा कीजिये. 'आयुक्ताम्' आत्मनेपदी लोट्लकार है. जलनेका कारण सौतें हैं. फिर एक नहीं बहुत हैं और वे मुझसे विशेष सुख समृद्धिवाली हैं उसके साथ वे प्रजा(सन्तान)वाली भी हैं. अतः इन चतुष्टय दोषोंसे उत्पन्न मात्सर्यसे दाह हो रहा है, समृद्धि और प्रजाके दानसे भी अधिक(सम्बन्ध) दान दोगे तो दाहका अभाव तथा सुख प्राप्ति होगी, कहनेका यही भाव है, 'आपका कल्याण हो' पहले जो अपनेको बाधकपनसे निरूपण किया तथा प्रवृत्तिमें कदाचित् बाधा होवे यों प्रवृत्ति न करनी चाहिये इस शंकाको(आपका कल्याण हो) इस पदसे मिटाया है।।१०।।

आपकी कृपासे केवल दोषाभाव(दोष ही दूर) नहीं होगा किन्तु गुण भी होगा, यों इस श्लोकमें कहती है:

भर्तर्याप्तोरुमानानां लोकानाविशते यशः।
पतिर्भवद्विधो यासां प्रजया ननु जायते।।११।।

जिस स्त्रीका पति सम्मान करता है उस स्त्रीका यश लोकमें फैलता है, और जिस स्त्रीसे पति अपने समान पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है उस स्त्रीका यश तो लोकमें विशेषरूपसे प्रसरता है(फैलता है)।।११।।

'भर्तरि' शब्द सप्तमी विभक्तिमें सामीप्य बतानेकेलिये कहा है, पतिके

समीपमें अर्थात पति द्वारा जिन स्त्रियोंका आदर होता है उन स्त्रियोंका लोकोंमें यश फैलता है, तथा इसलिए भी यों कहा है कि, गर्भाधानादि संस्कारोंके समय पतिके साथ एक आसन पर बिठाकर उनका सम्मान(आदर) किया जाता है वह यश लोकमें फैलता है उसके प्रतिपादनार्थ कहते हैं कि, 'पतिर्भवद्विधा' जिन स्त्रियोंसे पति अपने जैसा पुत्ररूपसे अवश्य उत्पन्न होता है वह स्त्री ही स्त्री कही जाती है जैसा कि भगवति श्रुतिने कहा है ''तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायत पुनः'' वह ही स्त्री, स्त्री कहला सकती है जिससे पति स्वयं पुनः रूपसे उत्पन्न होता है।।११।।

इस तरह गुण और दोषका निरूपणकर अब नीतिका भी निरूपण दो श्लोकोंसे करती है:

पुरा पिता नो भगवान् दक्षो दुहितृवत्सलः।
कं वृणीत वरं वत्सा इत्यपृच्छत नः पृथक्।।१२।।

पुत्रियों पर प्रेम करनेवाले हमारे पिता प्रजापति दक्षने हमसे अलग-अलग पूछा कि हे पुत्रियों! आप किसको वररूपसे स्वीकार करती हो।।१२।।

विवाहसे पहले हमारे पिता दक्षने प्रत्येक पुत्रीसे अलग-अलग पूछा कि, आप किसको वर(पति)रूपसे पसन्द करती हो, हमारे पिता(दक्ष) 'भगवान्' अर्थात् सर्वसमर्थ हैं अतः आप मेरी प्रार्थना स्वीकार करो अन्यथा यों न हो जाय कि जैसे चन्द्रमाको शाप दिया वैसे आपको भी(शाप) दे डाले, यों कश्यपजीको भयकी सूचना देती हैं और वह 'दक्ष' अर्थात् वह चतुर है जिससे मलीनविद्या द्वारा अभिचार भी कर सकता है वह न कर डाले कारण कि उसका पुत्रियों पर स्नेह है जिससे वह उपेक्षा नहीं करेगा, पृथक् पूछनेका कारण यह था कि साथमें पूछनेसे दूसरोंके विचारका प्रभाव न पड़े स्वतंत्र अपने विचारानुसार कहे, 'नः' यह विभक्ति पृथक् देकर पुनरुक्तिदोषकी निवृत्ति की है, दितिने इस प्रकार कहकर कश्यपजीको सावचेत किया कि मेरे विचारानुसार क्रिया न करेंगे तो महान् उपद्रव होगा अतः मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिये।।१२।।

अब हमारे भीतर विषमता नहीं है किन्तु आपको है यों कहती है:

स विदित्वाऽऽत्मजानां नो भावं संतानभावनः।
त्रयोदशाऽददात्तासां यास्ते शीलमनुव्रताः।।१३।।

पुत्रियोंसे सन्ततिकी इच्छा रखनेवाले पिताजीने, हम पुत्रियोंके भावोंको जानकर हममेंसे १३ पुत्रियां आपको दी हैं जो एक समान स्वभावानुसार आचरण

कर रही हैं यदि पुत्रियोंको सन्तान न होवे तो कन्यादान ही व्यर्थ हो जाये।।१३।।

यदि आप प्रार्थनानुसार प्रवृत्ति नहीं करोगे तो वह नीतिके विरुद्ध होगा. यों सिद्धकर निम्न श्लोकमें प्रार्थना करती है:

अथ मे कुरु कल्याण कामं कञ्जविलोचन!।
आर्तोपसर्पणं भूमनमोघं हि महीयसि।।१४।।

हे कल्याणरूप! हे कञ्जविलोचन! अब मेरे कामको पूर्ण करो, हे भूमन्! महान् पुरुषोंको की हुई प्रार्थना निष्फल नहीं होती है।।१४।।

विरोध आदिके कारण भयपूर्वक कामपूर्तिमें प्रवृत्ति नहीं करनी(ऐसा विचार न करें). किन्तु इस प्रक्रियानुसार प्रवृत्तिको कीजिये, इसलिए ही 'अथ' शब्दसे पृथक् प्रारम्भ किया है, यद्यपि आपमें काम नहीं है तो भी मेरी कामनाको पूर्ण करो, 'कञ्जविलोचन' विशेषणसे यह सिद्ध किया है कि आप कमलनेत्रवाले हैं अतः आपका रूप इस विषय(कामपूर्ति)के अनुरूप है. 'आर्तोपसर्पणं' 'महीयसि' इन पदोंसे अपना दैन्य और कश्यपजीकी महत्ता, प्रकट की जिससे कहती हैं कि महापुरुषोंको जो प्रार्थनाकी जाती है वह निष्फल नहीं होती है वह कार्य भगवद्रूप होनेसे ही सर्वत्र छः श्लोकोंसे निरूपण किया है।।१४।।

धर्माद् दक्षात् ततो भीतो लोकानां निन्दनादपि।
कालकर्ममहादेवाद् अप्रवृत्तस्त्वसान्त्वयत्।।का.१।।

धर्म और दक्षसे एवं लोकनिन्दासे तथा काल, कर्म और महादेवसे डरे हुए भी कश्यपजीने काममें प्रवृत्ति नहीं की किन्तु दितिको आश्वासन दिया।।१।।

आश्वासन न दूंगा तो भगवान् भी कुपित होंगे. इस विचारसे कश्यपजीने उसको आश्वासन दिया, जिसका वर्णन इस श्लोकमें मैत्रयजी करते हैं:

मैत्रेय उवाच

इति तां वीर! मारीचः कृपणां बहुभाषिणीम्।
प्रत्याहाऽनुनयन्वाचा प्रवृद्धानङ्गकश्मलाम्।।१५।।

मैत्रेयजी कहने लगे हे वीर! (हे विदुरजी!) दितिने कामके वेगसे व्याकुल होनेसे बेचैन हो दीन बनकर कश्यपजीको बहुत प्रकारसे संबंधकेलिये प्रार्थना की थी जिससे मारीचने वाणीसे निम्न प्रकारसे उसको अश्वासन दिया।।१५।।

विदुरको सान्त्वन वचनोंमें भ्रम नहीं होवे इसलिए 'वीर!' सम्बोधन दिया है, 'मारीच' पदका अर्थ पूर्व किये हुवे अर्थके समान है. 'कृपणां' विशेषणसे

बताया है कि मैं गरीब हूं अतः मुझ पर दया कीजिए, बहुत प्रकारसे प्रार्थना करनेसे सूचित किया है कि मुझे भय है कदाचित् मेरी प्रार्थना स्वीकार न होवे, वाणीसे आश्वासन दिया, वैसी प्रवृत्ति नहीं की अर्थात् झूठा आश्वासन नहीं दिया सम्बन्ध तो किया जायेगा, जो यों न होवे तो रसाभास हो जाय, किञ्च बढ़ा हुआ काम बेचैन दशामें योग नहीं होता है क्योंकि वह रसप्रद नहीं अतः बेचैनी मिटानेकेलिए आश्वासन दिया गया है।।१५।।

काम, अभिमानसे अथवा कार्य पूर्ण हो जाने पर मिट जाता है, इसमें अब कार्य पूर्तिकेलिए सम्बन्ध करना अनुचित है, क्योंकि सन्ध्या समयमें सम्बन्ध करनेका शास्त्रोंमें निषेध है, अब छ श्लोकोंसे दितिमें अभिमान उत्पन्न करते है:

कश्यप उवाच

एष तेऽहं विधास्यामि प्रियं भीरु! यदिच्छसि।
तस्याः कामं न कः कुर्यात्सिद्धिस्त्रैवर्गिकी यतः।।१६।।

कश्यपजी कहते हैं, हे भीरु! (हे डरपोक!) जिस प्रिय सम्बन्धकी तू इच्छाकर रही है वह तेरा प्रिय करूंगा, जिस पत्नीसे त्रैवर्गिकी(अर्थ, धर्म और कामकी) सिद्धि होती है, उसका मनोरथ कौन ऐसा पति है जो पूर्ण न करे।।१६।।

प्राथितस्य परिज्ञानं हेतूक्त्या तस्य साधनम्।
स्त्रियाश्चतुर्भिः स्तोत्रं च प्रार्थना च निरूप्यते।।का.१।।

मांगे हुए विषयका ज्ञान और उसकी पूर्तिका कारण १६वें श्लोकमें कहकर अब १७से २० इन ४ श्लोकोंमें स्त्री जातिकी स्तुति और २१वें श्लोकमें प्रार्थनाका निरूपण है।।१।।

संसारदुःखतरणे हेतुः स्त्री स्वयमेव च।
अरातितरणे दुर्गमनन्तोपकृतिर्गृहम्।।का. २।।

संसारके दुःखोंसे तर जानेमें स्त्री साधन है यों १७वें श्लोकमें कहा है १८वें श्लोकमें स्त्री स्वयं है, १९वें श्लोकमें यह कहा है कि शत्रु(काम) पर विजय करनेकेलिए स्त्री ही दुर्ग(किला) है, २०वें श्लोकमें यह बताया है कि स्त्री अनन्त उपकार करनेवाला स्थान(घर) है।।२।।

एवम् उत्कर्षकथने साभिमाना भवेद् इति।
पश्चात् सम्प्रार्थनं युक्तं स्वकीर्तेर्हेतुतापि च।।का. ३।।

इस तरह स्त्रीका उत्कर्ष(महानता) सुननेसे दिति अभिमानवाली होगी,

इसलिए कश्यपजीने ये उत्कर्षके वाक्य कहे हैं, यों उसमें अभिमान उत्पन्नकर अनन्तर प्रार्थना करनी उचित है इसमें अपनी कीर्ति भी कारणरूप है।।३।।

तुम्हारे इस कामकी पूर्ति मैं अवश्य करूंगा. 'भीरु' पद दितिको विशेष उत्तम स्त्री कहकर महत्व दिया है शब्दकोषमें 'भीरु' स्त्रीको विशिष्ट (विशेष उत्तम) स्त्री कहा गया है तुम्हारा 'भीरुत्व' तो प्रकृत(चालू) विषयमें उपयोगी है, तू जो कुछ पुत्र, भोग और सम्पत्ति चाहती है वह देना मेरा आवश्यक कर्तव्य है जिसका समर्थन करते हैं, ''संवत्सरो वै प्रजापतिः'' इस श्रुत्यनुसार प्रजापति संवत्सर हैं १३ मासका संवत्सर होता है, इसलिए कश्यपजीका आनन्द तेरह प्रकारसे अवत्तीर्ण हुआ है, उनमें यह पुरुषोत्तममास (मलमास) रूप है सामान्यरूपसे तो स्तुति इसकी ही है कोई भी ऐसा नहीं है जो अपने आनन्दका अनुभव न करे क्योंकि स्त्री भार्या है अतः उससे त्रैवर्गिकी(अर्थ, धर्म और कामकी) सिद्धि होती है ये तीन पुरुषार्थ वह पुरुष सिद्धकर सकता है जिसने विवाहकर भार्याको साथ लिया है स्त्रीवालेके ही ये पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि तीनों मिले हुवे हैं परस्पर सम्बन्धवाले हैं स्त्री होने पर ही यज्ञरूप धर्मकी सिद्धि होती है, 'कांचनमश्चितं भवति यत् सङ्गेऽङ्गना' सुवर्णादि पदार्थ भी उसके पास इकट्ठा होता है जिसके साथ स्त्री है इस वाक्यानुसार पदार्थ पुरुषार्थ भी स्त्रीके अधीन है नहीं तो वह दुःखका हेतु होता है कामरूप समुद्रसे पार जानेकेलिये स्त्री ही नौका है।।१६।।

यों इसकी प्रार्थना अवश्य पूर्ण करनी है ऐसे कहकर, सकल दुःखोंको मिटानेवाली तू ही है यों उसकी स्तुति करते हैं:

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान्।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथाऽर्णवम्।।१७।।

जैसे नाव पर चढ़कर मनुष्य महासागरके पार पहुंच जाता है वैसे ही गृहस्थाश्रमवाला, ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंको आश्रय देता हुआ अपने आश्रम द्वारा दुःखोंके समुद्रसे पार पहुंच जाता है।।१७।।

अन्य आश्रमोंको अन्नादिसे आश्रय देनेवाला गृहस्थाश्रम ही है जो गृहस्थ नहीं है जिसके पास स्त्री नहीं है उसका अन्न ब्रह्मचारी आदिकेलिये भोजनके योग्य नहीं है क्योंकि वह विधुर होनेसे अग्निहोत्री नहीं है अतः गृहस्थाश्रमसे अन्य आश्रमोंका सहायक हो, अपने गृहस्थाश्रम द्वारा भूख-प्यास आदि दुःख समुद्रके पार पहंच जाना है, जैसे नौकाओंसे समुद्रको पार किया जाता

है अन्यथा अर्थात् नौकामें न बैठे तो मत्स्यादि ग्रस(निगल) जावें।।१७।।

और विशेष निम्न श्लोकोंमें कहते है:

याम् आहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि!।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः।।१८।।

हे मानिनि! जिसको(स्त्रीको) कल्याणकी इच्छावाले पुरुषका आधा अङ्ग(शरीर) कहा जाता है, अतः पुरुष अपनी गृहस्थीका भार उस पर डालकर आप निश्चिन्त होकर विचरता है।।१८।।

पुरुष स्त्रीको अपना आधा शरीर मानता है, बिना स्त्रीके पुरुष आधा है, पुरुष जीवरूपसे चिद्रूप है, देहरूपसे सद्रूप है शेष पूर्णता करनेवाला आनन्द उसमें नहीं है अतः आधा है वह पूर्ण तब होता है जब गृहस्थी होता है, स्त्री आनन्दरूप है उसको जब शास्त्रविधिके अनुसार भार्या बनाकर लाता है तब वह सच्चिदानन्दरूप होनेसे पूर्ण होता है, स्त्रीको आधा शरीर, इसलिए भी लोकमें कहा जाता है कि पुरुषके गृहस्थ कार्यका आधा भार स्त्री अपने ऊपर लेती है 'आहुः' इस क्रियासे बताया है यों कहते हैं इसलिए यह प्रमाण (सबूत) है 'हि' पदसे उपपत्ति कही हुई, **'प्रजापतिः अमृतम् आनन्द इत्युपस्थे'** भगवतीश्रुति कहती है कि उपस्थ (जननेन्द्रिय) प्रजापति अमृत आनन्द है. श्रुतिमें आनन्दकी उपासना करनेकी आज्ञा है वह आनन्दरूप स्त्रीकी ही की जाती है क्योंकि आनन्द देनेवाली वह ही है 'श्रेयस्कामस्य' पदसे कहा है कि किन्हीके मतमें भार्यासहित पुरुषको कर्ममें अधिकार है 'मानिनि!' सम्बोधनसे यह बताया है कि तुझे ऐसे दैन्यवचनोंसे प्रार्थना नहीं करनी चाहिए इस प्रकार स्त्री सुखका कारण है यों प्रतिपादनकर अब दुःखके मिटानेका कारण भी वह है यों सिद्ध करते हैं 'यस्यां' पुरुष संसाररूप भारका नित्य वहन करनेसे बैलके समान है वहां यदि भार्या(पत्नी) अनुकूल है तो वह समस्त भार अपने ऊपर ले लेती है इसको सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि लोक सिद्ध है स्त्री भार ले लेती है जिससे पुरुष स्वेच्छासे सुखपूर्वक परिभ्रमण करता रहता है भार वहन(उठाने या ले जाने)से मुक्त हो जाता है 'विज्वरः' पदका यह भी आशय है कि चिन्तारूप ज्वरसे छूट जाता है अन्यथा अर्थात् स्त्री सुलक्षणी नहीं है गृहका भार(कारोबार) अपने ऊपर नहीं लेती है तो पुरुष धनादि निमित्त सर्वत्र चिन्ता मग्न रहता है।।१८।।

निम्न श्लोकमें इससे भी विशेष कहते हैं:

यामाश्रित्येन्द्रियारातीन् दुर्जयान् इतराश्रमैः।
वयं जयेम हेलाभिः दस्यून् दुर्गपतिर्यथा।।१९।।

जिस विवाहित पत्नीकी मददसे हम इन्द्रियरूप शत्रुओंको, जो शत्रु दूसरे आश्रमोंमें नहीं जीते जा सकते हैं बिना श्रम सहजमें ही ऐसे जीत लेते हैं जैसे दुर्गपति(किलेका स्वामी) डाकूओंको अपने आधीनकर लेता है।।१९।।

जिस(भार्या)का आश्रय लेकर अन्यायसे मारनेवाले इन्द्रियरूप शत्रुओं को हम भार्याके साथ सहजमें ही जीत लेते हैं, वे शत्रु दूसरे आश्रमोंसे नहीं जीते जाते है, अतः अन्याश्रमोंसे दुर्जय(नहीं जीते जानेवाले) शत्रुओंको भार्यावाला पुरुष(गृहस्थी) ही जीत सकता है. कितनोंका मत है कि भार्यावाले पुरुषको इन्द्रियों बाधा(पीड़ा) नहीं कर सकती है शत्रु होने पर जय होती है, भार्यावाला उन(इन्द्रियों)की परवाह नहीं करता है इसलिये वे उसकी शत्रु नहीं हैं. शास्त्रानुसार शत्रु(इन्द्रियां) होते हुए भी बाहर सम्बन्ध द्वारा स्वकीय(अपना) आनन्दानुभव होनेसे सहज ही अवज्ञा कर इन्द्रियों पर जय पाई जाती है, जीतका आशय है कि दुःख देनेवाला दुःख न देवे अथवा दुःखदातामें दुःख देनेकी सामर्थ्य न रहे, यह ही जय(जीत) है, यहां बाधा(पीड़ा) न होना ही जय है यों कहनेकेलिए दृष्टान्त देते हैं 'दस्यून् दुर्गपतिर्यथा' जैसे दुर्गपति(किलेके स्वामी) चोरोंको अपने अधीनकर लेता है चोरोंकी जयसे कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है किन्तु वे जैसे पीड़ा न करें वैसे उनको किलेमें ही रखा जाता है जिससे वे अधीन हो वशमें हो जाते हैं, जय तो कदाचित् होती है शत्रुको एक बार जीता फिर प्रबल होकर वह चढ़ाईकर सकता है, अतः शत्रुको अपने वशमें कर लेना ही सत्य विजय है।।१९।।

और भी एक दिन भी पत्नी जो उपकार करती है पुरुष उसका प्रत्युपकार कर नहीं सकता है यों कहते हैं:

न वयं प्रभवस्तां त्वाम् अनुकर्तुं गृहेश्वरि!।
अप्यायुषा वा कात्स्न्र्येन ये चाऽन्ये गुणगृध्नवः।।२०।।

हे गृहेश्वरी! तुम जैसी भार्याके उपकारोंका बदला तो हम तथा अन्य गुणी जन इस आयुमें क्या परलोकमें भी पूर्णरूपसे चुकानेमें समर्थ नहीं हैं।।२०।।

पूर्व कहे हुए उपकारोंको करनेवाली तुम्हारा प्रत्युपकार करने(बदला चुकाने)केलिये हम समर्थ नहीं है जो कुछ उपकार किया जाता है जैसेकि श्रृङ्गारार्थ आभूषण देह पोषण आदि वह भी हमारे स्वार्थकेलिये है. हे गृहेश्वरी!(हे घरकी

मालिकिन!) इस पदसे भी यह विशेष बताया है कि अपने घरमें नित्यप्रति सर्व प्रकारके भोगोंको भोगनेवाला पुरुष कौनसा वा कितना उपकार कर सकेगा? यदि कहो कि स्त्री तो कुछ समय(युवावस्था में) ही योग्य है, बादमें उसका पालनादि पुरुष करता है वह प्रत्युपकार ही है, इसका निराकरण करते हैं 'कात्स्न्र्येनाऽपि आयुषा' पालनादि कोई बदला नहीं है, यों तो वह भी गृहकार्यादिसे उपकार करती ही रहती है अतः हम तो(क्या) किन्तु महत्ती(लम्बी) आयुवाले देव भी उसका बदला नहीं चुका सकते हैं.

'गुणगृध्नवः' पदसे यह सूचित किया है कि 'पुं' नरकसे बचानेवाले पुत्रको देनेके एक ही गुणसे जो वह उपकार करती है केवल उसका बदला भी हम पुरुष नहीं दे सकते हैं. अतः जिनको इस लोक तथा परलोकमें इसके गुणोंसे फल प्राप्तिकी इच्छा है, वे कृतज्ञ समझते हैं, कि भार्याके उपकारसे हम उऋण नहीं हो सकते हैं क्योंकि उसका बदला चुकानेमें असमर्थ हैं।।२०।।

इस प्रकार उसकी स्तुतिकर निम्न श्लोकसे कुछ समय ठहरनेकी प्रार्थना करते हैं:

अथापि कामम् एतं ते प्रजायै करवाण्यलम्।
यथा मां नातिवोचन्ति मुहूर्तं परिपालय।।२१।।

अब मैं तुम्हारी कामना पूर्ण करूंगा क्योंकि प्रजाकेलिये है अतः प्रजाकी तेरी कामना सम्पूर्ण पूरी करूंगा किन्तु दो घड़ी मुहूर्तमात्र ठहर जा, नहीं तो मेरी निन्दा होगी वह(निन्दा) न करावो।।२१।।

तुमने जो प्रार्थना की है वह तुम्हारी इच्छानुसार पूर्ण करनी है, खासकर वह प्रजा(सन्तान) उत्पत्तिकेलिए है तब तो अवश्य ही करनी है जिसे मैं पूर्ण करूंगा किन्तु जब तक सन्ध्याका समय पूरा हो तब तक मुहूर्तमात्र(थोड़ा समय) ठहर, कारणकि यह समय सम्बन्ध करनेका नहीं है यदि किया जायेगा तो मेरी निन्दा होगी वह न कराओ, हमारी जातिवाले सर्वज्ञ हैं धर्मशास्त्र जानते हैं उनसे कुछ छिपा हुआ नहीं है इसलिए वे इस संबंधको जान लेनेसे निन्दा करेंगे।।२१।।

इस तरह उसको(दितिको) प्रार्थनाकर उसे कालका स्वरूप दोषपूर्ण बताते हैं:

एषा घोरतमा वेला घोराणां घोरदर्शना।
चरन्ति यस्यां भूतानि भूतेशानुचराणि ह।।२२।।

यह समय अत्यन्त घोर है और घोर जीवोंका है, देखनेमें भी भयानक है इस समयमें भगवान् भूतनाथके अनुचर(भूतप्रेत आदि) घूमते रहते हैं।।२२।।

यह समय बहुत घोर है अतः इसमेंसे सर्व प्रकारके भोगोंका करना निषिद्ध है, घोर वेला(समय) भोगके योग्य नहीं है, देश और कालमें रहे हुए दोषोंको आवश्यक मिटाना(त्यागना) चाहिये, सकल कालोंमें संध्याकाल स्त्रीकी तरह रजस्वलावाली होनेसे भोगादि सर्वमें त्याज्य है. जैसे रजस्वला होनेके समयमें स्त्रीको रक्तस्राव होता है वैसे ही संध्या समयमें पुष्पिता(रजस्वला) होनेसे प्रत्यक्ष आकाशमें रजोरूप लालिमा दिखती है, संध्या समयमें ही रात्रि रजस्वला होती है अतः वह समय त्याज्य(छोड़नेवाला) है, कामादिको उत्पन्न करनेवाली होनेसे भयानक भी होती है इसलिये अतिशय 'घोरतमा' कही गई है, और घोर(डरावने) जो भूत-प्रेत आदि हैं उनसे सम्बन्धवाली भी है अर्थात् भूत-प्रेतादि उस समय विचरते(घूमते) हैं जिससे अन्धकार फैल जाता है और भयानक दिखता है. यदि कहो कि इन भूतादिको मंत्रों द्वारा दूरकर दो(तो) इस पर कहते हैं कि ये साधारण भूत प्रेत नहीं हैं किन्तु महादेवके अनुचर(सेवक) हैं, इसलिये इनको कोई हटा नहीं सकता 'ह' पदसे आश्चर्य प्रकट किया है कि अहो! तूने ऐसे समय ऐसी प्रार्थना कैसे की? जिससे अनिष्ट(बुरा) फल हो इस तरह कहकर दितिमें भय उत्पन्न किया है।।२२।।

इस(संध्या) समयका अधिष्ठाता देवता वह महादेव है जो काम नाशक है उसके समयमें(संध्यामें) यदि उसके शत्रु कामका आदर किया जायेगा तो वह मार डालेगा, यों भय उत्पन्न करते हुवे ६ श्लोकोंसे महादेवकी स्तुति करते है:

एतस्यां साध्वि! सन्ध्यायां भगवान् भूतभावनः।
परीतो भूतपर्षद्भिः वृषेणाऽटति भूतराट्।।२३।।

हे साध्वि! इस सन्ध्या समयमें भूतभावन भूतराज भगवान् महादेव अपने गण भूत-प्रेतादिसे वेष्टित(घिरे हुए)हो वृषभ पर बैठके घूमते रहते हैं।।२३।।

परिभ्रमो दर्शनं च सम्बन्धाभाव एव च।
मारणे हेतुत्रितयं दोषाभावाय चाऽपरे।।का.१।।

२३वें श्लोकमें महादेवका भ्रमण, २४वें श्लोकमें उनकी दृष्टि, २५वें श्लोकमें यह कहा है यज्ञशालामें किसीसे सम्बन्ध नहीं करना चाहिये शेष तीन श्लोकोंमें यह बताया है कि निर्दोष देव हैं।।१।।

दिति दूसरे स्थल पर चलनेकेलिये कह दे जिसको रोकनेकेलिए कहते हैं कि इस(संध्याके) समय महादेव भ्रमणकर रहे हैं अतः अन्यत्र जाना भी न हो सकेगा. साध्वि! इस सम्बोधनसे यह कहा है कि तू गुणवती है अतः इस निषिद्ध समयमें सम्बन्ध करनेसे रुक जा. महादेव भगवान् हैं, इसलिए उनकी गति कहीं भी जानेसे रोकी नहीं जा सकती. उनका घूमना उपकारका कारण है अर्थात् जीवोंके कल्याणकेलिए घूम रहे हैं क्योंकि भूतभावन(प्राणियोंके पालक) हैं. यदि सन्ध्या समयमें किसीका जन्म हो तो उसका ओर लोकनाश हो. अतः सब स्थलों पर सन्मार्गगामियोंको भोग करनेसे रोकनेकेलिए अपने साथ भूतोंके सभापतियोंको लेकर वृष(बैल) पर बैठकर भ्रमण करते हैं क्योंकि शंकर भूतोंके राजा हैं. सन्ध्या भूतोंका समय है. इसलिए अपने सेवकोंकी रक्षाकेलिए भूतराज भ्रमते(घूमते) हैं, यदि किसीको भी अन्याय(धर्म विरुद्ध आचरण) करता हुआ देखे तो उसको पार्षदों द्वारा शिक्षा दिलावें.

यदि धर्मात्मा भी इस समय अधर्म करे तो उसको भी मारते हैं. इस तरहकी सूचना देनेकेलिए धर्मरूप वृष पर चढे हैं. जब धर्मीको भी अधर्म करने पर शिक्षा(सजा) देते है तो वह दूसरे प्रकारके ऐसे अधर्मियोंकी कैसे पालना करेंगे? इस विषयकेलिए साक्षीपनकेलिए धर्मरूप बैलको साथमें लिया है।।२३।।

इस तरह शंकर भगवान्के घूमनेके कारण देशान्तरमें भी नहीं जा सकते. यों कहकर यहां, वह अब स्वभावसे स्थित होके देखते ही हैं जिसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

श्मशानचक्रानिलधूलिधूम्रविकीर्णविद्योतजटाकलापः।
भस्मावगुण्ठामलरुक्मदेहो देवस्त्रिभिः पश्यति देवरस्ते।।२४।।

जिन(शंकर भगवान्)का जटासमूह, श्मशानसे उठे हुए बवन्डर (आंधी)की धूलिसे धूसरित हो दिप्तीमय हो रहा है तथा जिसकी निर्मल सुवर्णसम देह भस्मसे ढकी हुई है वे तुम्हारे देवर महादेव अपने तीन नेत्रोंसे सकल कार्योंको देखते हैं।।२४।।

यह महादेव देव, तीन(गार्हपत्या, आहवनीय और दक्षिण) अग्निरूप नेत्रोंसे भी देखते हैं वह देव होनेके कारण इन्द्रियोंसे जो देखनेमें नहीं आता है उसको भी देखते है शंकरको दितिका देवर कहकर इसको(दितिको) लज्जा उत्पन्न करते हैं यदि कहो कि महादेव दितिका देवर कैसे? तो इसका समाधान करते हैं

कि एकके ही जामाता(जंवाई) होनेसे वे परस्पर भ्राता जैसा व्यवहार करते हैं अतः देवर हैं पति भी देवर कहा जाता है, महादेव भगवद्रूप होनेसे अग्निस्वरूप है, ''**तृतीयो अग्निष्टे पतिः**'' श्रुति कहती है कि तीसरा तेरा पति अग्नि है, इस श्रुतिके अनुसार शंकर दितिका देवर माना जा सकता है, दैत्योंको जो सुख दे, वह देवर अतः देवर होनेसे तेरा पूज्य है पूज्यका अपराध सर्व प्रकार अनर्थ करता है, जिनका स्वभाव ऐसा है कि मरे हुएके स्थान(श्मशान) पर क्रीड़ा करते हैं उनको किसीको भी मारनेमें, संकोच कैसे होगा? इस अभिप्रायसे कहते हैं कि, श्मशानसे उठे हुए बवडंरसे उठी हुई धूलिसे धूसरवर्ण हो दीप्तिमय हो रहा है जटाजूट जिसका, ऐसे वे महादेव प्रलयकर्ता हैं. उस प्रलयकी हेतु जटाएं है किन्तु वे जटाएं भस्मसे धूसरित हो प्रकाशित होनेके कारण अब प्रलय नहीं करती हैं अन्यथा प्रलयकर डाले, श्मशानकी भस्मके सिवाय दूसरी भस्म प्रलयके मेघों(शंकरकी जटाएं प्रलयमेघ है अतः उनकी जटाओंको)को स्पर्श भी नहींकर सकती है, बवंडर(तेजवायु)के सिवाय अन्य वायु चारोंतरफ भस्मका सम्बन्ध नहींकरा सकती है इस कारणसे उस प्रकारका भाव(स्थिति) उचित ही है.

निर्मल(शुद्ध) सुवर्ण(पीली) एवं रजत(चांदी जैसी सफेद) भस्मसे घर्षित होने पर चमकने लगते हैं वैसे ही महादेवकी सुवर्ण वा रजत समान देह, भस्म स्नानसे विशेष उज्ज्वल हुई है. इसलिए महादेवको भस्मकी सदैव अपेक्षा(जरूरत) रहती है, अतः स्वल्प(थोड़ा) अपराध होने पर भी मार डालते हैं, देवरकी उपपत्ति बताते हैं कि अन्यकल्पमें प्राचेतस दक्षकी ६० कन्याएं थीं तब सती महादेवको दी थी. उस पहले मन्वन्तरमें सतीका जन्म हुआ था दिति आदिका(जन्म) नहीं हुआ था, ''देवं पतिं रातीति देवरः श्वशुरो वा'' देव पतिको देवे यों देवर अर्थात् श्वशुर, वैसे ही मरीचिके भ्राता होनेसे महादेव भी देवर हैं, दिति जब कन्या थी तब महादेव की प्रार्थना की थी तब महादेवने पति दिया था इसलिए भी महादेव देवर है।।२४।।

इस प्रकार लज्जा और भयको पैदा किया किन्तु दितिके मनमें यों न आया हो कि सम्बन्धी होनेसे अपराध सहनकर लेंगे? जिसका भी इस श्लोकसे खंडन करते हैं कि उनको सम्बन्धकी अपेक्षा नहीं है:

न ह्यस्य लोके स्वजनः परो वा नाऽत्यादृतो नोत कश्चिद् विगर्ह्यः।
वयं व्रतैर्यच्चरणापविद्धाम् आशास्महेऽजां बत भुक्तभोगाम्।।२५।।

लोकमें उनकेलिए कोई अपना या पराया नहीं है और न कोई विशेष

आदरका पात्र है एवं न निन्दाके योग्य है, हम अनेक व्रतकर उस मायाको ही ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं जिसको उन्होने भोगकर फेंक दी हैं।।२५।।

'हि' पदसे यह सूचित किया है कि यह बात सत्य है कि जो उत्पन्न होता है या उसका किसीसे सम्बन्ध हो जाता है तो उसको सम्बन्धीकी अपेक्षा हो जाती है किन्तु यह अर्थ जीवमें चरितार्थ होता है महादेवजी तो ब्रह्म हैं. अतः ही उनका उनमें इन दोनोंका अभाव है जिससे उनको सम्बन्धीकी अपेक्षा नहीं है, इस कारण लोकमें कोई न अपना है और न कोई पराया(शत्रु) है, ये दोनों देहके(वा देहधारीके) धर्म हैं, अतः उनके ब्रह्म होनेसे इनकेलिए न कोई अत्यन्त स्नेहपात्र है और न कोई द्वेष पात्र(शत्रु) है, ये दोनों धर्म अन्तःकरणके हैं, जिसमें प्रेम है वही आदरणीय होता है और जिसमें स्नेह नहीं वह निन्दनीय होता है.

उनको विषयोंकी अपेक्षा होनेसे जो भी विषयों(भोग पदार्थों)को देगा और जो न देगा तो वह वैसा(स्नेह व अस्नेहका) पात्र बनेगा, यदि यों समझाया जाय तो उस पर इस प्रकारसे उत्तर देते हैं.

यद्यपि उनका स्वाभाविक विषयभोग है किन्तु उन्होंने त्याग दिया है, तो भी वह माया विषयरूप प्रकृति उनकी ही है, सब लोग उनकी दी हुई ही प्राप्तकर सकते हैं, जैसे महाराज अपनी विभूतिको जिसको दे वह उसका उपयोगकर सकता है.

इसलिये ही हम महादेवके सम्बन्धकी अपेक्षा(इच्छा) न कर पाशुपत आदि व्रतों द्वारा उनको प्राप्त करना चाहते हैं, जो ही प्रेमसे व्रतादिसे सेवा करता है उसको प्रसादरूपसे वह(समृद्धि आदि) देते हैं, वह प्रकृति भोगोंकेलिए उपस्थित शंकरके पैरोंमें पड़ती है किन्तु शंकरको अभिप्रेत(पसंद) न होनेसे पैरोंसे वे ठुकराकर फेंकते हुए जो (उन भोगोंको) चाहते हैं उन सबको ही दे देते हैं, आपने तो उसका भोगकर उसके दोष जान लिए इसलिए उसका त्याग किया है सबको उसकी अपेक्षा है, उसको किसीकी अपेक्षा नहीं है, सब आपके सेवक हैं अतः उपेक्षा(त्याग) भी नहीं है।।२५।।

तब निन्दित स्वरूपवाले महादेवसे क्या(कौन सा) लाभ? जो उसकी आप स्तुतिकर रहे हो? यों शङ्काका उत्तर देते हैं:

यस्याऽनवद्याचरितं मनीषिणो गृह्णन्त्यविद्यापटलं बिभित्सवः।
निरस्तसाम्यातिशयोऽपि यत् स्वयं पिशाचचर्यामचरद्गतिः सताम्।।२६।।

बुद्धिमान् पुरुष अविद्याके पर्देको हटानेकेलिए उनके निर्दोष आचरणोंको ग्रहण करते हैं सत्पुरुषोंकी कीर्त्तिवाले आपसे बढ़कर तो क्या परन्तु समान भी कोई नहीं है इनकी इस लीला कौन जान सकता है कि ये स्वयं पिशाचों जैसा आचरण क्यों करते हैं?।।२६।।

जिन महादेवजीके सब विषयको त्यागकर स्वात्माके चिन्तनरूप सुन्दर चरित्रोंको, मोक्षके उपायका अन्वेषण(शोध) करनेवाले बुद्धिमान अविद्याकी प्रकृत्तिको दूर करनेकेलिए ग्रहण करते है परन्तु जबतक मनुष्य महादेवजीकी तरह विषयोंका त्याग नहीं करता है तब तक ज्ञानकी प्राप्ति नहींकर सकता है.

भगवान् महादेवसे अनर्थ दूर भाग गये हैं तो भी लोक शिक्षाकेलिए आप पिशाचके समान आचरण करते है, मतान्तरके अनुसार बड़ा मनुष्य जब साधारण स्थिति धारण करता है तब मोक्ष पा सकता है. क्योंकि साधारण स्थितिसे अहंकार की निवृत्ति होती है उच्च स्थित्तिमें रहने पर अभिमान बढता है जो गिरानेवाला है अतः अभिमानसे निवृत्त रहनेकेलिए निम्न(नीची) स्थिति धारणकर दैन्य प्रकट करनेकी मनुष्यको शिक्षा देनेकेलिए महादेवजीने पिशाचोंका आचरण धारण किया है इसी तरह मनुष्योंको भी बैल, मृग और कौए जैसा आचरण करना चाहिए यों उपदेश दिया है।।२६।।

लोकमें निन्दित महादेवकी इस प्रकार स्तुति कैसे करते हो? इस पर यह श्लोक कहते हैं:

हसन्ति यस्याचरितं सुदुर्भगाः स्वात्मन्रतस्याऽविदुषः समीहितम्।
यैर्वस्त्रमाल्याभरणानुलेपनैःश्वभोजनं स्वात्मतयोपलालितम्।।२७।।

जो अज्ञानी पुरुष कुत्तोंके भोजनरूप देहको आत्म्य समझकर वस्त्र, आभूषण आदिसे इसको सजाकर लाड लडाते हैं वे अभागे अज्ञानी ही आत्माराम भगवान् महादेवके चरित्रके रहस्यको न जानकर आचरणकी निन्दा करते हैं ।।२७।।

महादेवजीके समान स्थानको प्राप्त करनेमें अशक्त ही उनकी निन्दा करते हैं, महादेवजीने तो ऐसे आचरणोंमें प्रवृत्ति सकल जगत्के लोगों पर उपकार करनेकेलिए की है वे निन्दक भाग्यहीन है, लोकमें सकलजन अपने समान और अपनेको पसन्द चरित्र देखकर स्तुति करते हैं यदि वह अपने चरित्रसे विपरीत है व अपनेको अभिलषिता(पसन्द) नहीं है तो उसकी निन्दा करते है व उस पर हंसते

हैं, महादेवजीके स्वरूपकी विलक्षणता(अलौकिकता) दिखाते है कि वे पूर्ण ज्ञानी आत्माराम है, 'आत्मन् रतस्य' आत्मामें रमण करते है, ऐसेकी जो निन्दा करते हैं, वे अज्ञ(मूर्ख) एवं बहिर्मुख हैं, इसलिए ही वे अविद्वान(अज्ञानी) हैं सुन्दर भगवच्चरित्रके आशयको जानते नहीं उस चरित्रकी विलक्षणता ही निन्दामें कारण है, वे निन्दक इसलिए हुए है जो उनका प्रेम विषयोंमें है १.वाग आदि वस्त्र, २.पुष्प ३.आभूषण(कङ्कण आदि) ४.चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ, ये ४ पदार्थ देहको लाड लडानेके कामके हैं. जो इस तरह देहको लाड लडाते हैं वे देहको ही आत्मा माननेवाले अज्ञानी हैं, यों निश्चय है, वास्तवमें देह तो कुत्तोंका भोजन है वह(देही) ग्राम(गांव)में ही जीवसे पृथक् होती है अतः वहां कुत्ते ही होते है गिद्ध आदि वहां नहीं होते है इसलिए 'श्वभोजनं' कहा है. केवल देहका लालन करनेसे धर्म होता हो सो वह तो होता नहीं, अतः 'श्व' पदसे भगवान्पनेसे, व उसके अधिष्ठातापनसे उपलालन नहीं होता है, यह सिद्ध किया है अन्यथा "**भोगैः आत्मानम् आत्मनि**" भागोंसे देहकी भीतरकी आत्माको लाड लडाना इस मतका विरोध होता है।।२७।।

महादेवजीको पिशाचचर्याका अभिप्राय इस तरहकी कल्पनासे क्यों करते हो यह क्यों नहीं स्पष्ट कहते हो कि दक्षके शापके कारण वैसे बने हैं इस प्रकारकी शङ्काका निवारण इस श्लोकसे करते हैं:

ब्रह्मादयो यत्कृतसेतुपाला यत्कारणं विश्वमिदं च माया।
आज्ञाकरी तस्य पिशाचचर्या अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम्।।२८।।

जिनकी(महादेवकी) बनाई हुई धर्म मर्यादाका पालन ब्रह्मा आदि देव भी करते है विश्वकी उत्पतिका कारण जो माया है वह जिनकी दासी है अर्थात् आज्ञाकारिणी है वैसे महादेव, पिशाचसम आचरण करते हैं यह आश्चर्य है, वस्तुतः भूमाकी यह(पिशाचचर्या) केवल अनुकरणमात्र ही है।।२८।।

यदि हम उत्कर्षका कारण न होवे तो शापसे ऐसे करते हैं माना भी जावे किन्तु लोकमें जो ब्रह्मा आदि देव सर्वसे उत्कृष्ट हैं वे भी महादेवकी मोक्ष पर्यन्त धर्मकी बनाई हुई मर्यादाका पालन करनेवाले हैं. इस विश्वको उत्पन्न करनेवाली माया जिनकी आज्ञाकारिणी दासी है, अतः यदि उस दासीको आज्ञा करे तो माया महादेवजीकेलिए कोटि ब्रह्माण्डोंको बना दे, इसी तरह जो विश्वके कारण मायाको तथा विश्वप्रवर्तक ब्रह्मादि देवोंको नियममें कर सकते है उनकी यह पिशाचचर्या

केवल अनुकरण स्वांग(नाटक) है. जैसे ब्राह्मण आनन्दकी धुनमें पिशाचादि वेष पहन स्वांग करता है यद्यपि वह वेष उसकेलिए जचता नहीं है वैसे महादेवजी भी स्वांगकर रहे हैं, क्योंकि आप(महादेव) भूमा होनेसे सबसे बड़े है अतः अन्य कोई बड़ा न होनेसे किसीको स्वांग द्वारा रसयुक्त(आनन्दित) करें, तो भी इस प्रकार स्वांग करते हैं यह आश्चर्य है यह बतानेकेलिए ही 'अहो' पद दिया है।।२८।।

महादेवकी भक्त दितिको महादेवके गुणादि बताकर उनके परायण करूंगा इस आशासे इतनी स्तुति की किन्तु कामान्ध दिति पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ जिससे सम्बन्धके आग्रहको त्यागा नहीं जिसका वर्णन करते हैं:

मैत्रयः उवाच

एवं संविदिते भर्त्रा मन्मथोन्मथितेन्द्रिया।
जग्राह वासो ब्रह्मर्षेः वृषलीव गतत्रपा ।।२९।।

मैत्रयजीने कहा कि पतिके इतना समझाने पर भी, काम पीड़िता दितिने निर्लज्ज हो वृषली(शूद्रा या वैश्या)की तरह ब्रह्मर्षि कश्यपजीका वस्त्र पकड़ लिया।।२९।।

दितिने जो वाणीसे प्रार्थनाकर मांगा था उसका उत्तर कश्यपजीने वाणीसे दे दिया. अतः अब वाणीसे प्रार्थनाका त्यागकर कायासे सम्बन्धकी चाहना प्रकट करने लगी. पतिके कहे हुवेका भाव मैंने नहीं समझा यों कहना उचित नहीं क्योंकि पतिदेवने वाद बहुत सुन्दर ढंगसे किया संवादकर समझाया जिससे अच्छी तरह समझ भी लिया तो भी कामदेवने इन्द्रियोंको मथनकर बेबसकर डाला था जिससे मूक चुप हो पतिका वस्त्र पकड़कर अपना भाव प्रकटकर दिया. इस प्रकारकी धृष्टता वृषली(वैश्या)से ही होती है वस्त्र पकड़ने पर कश्यपको क्षोभ न हुआ और न उसने इसका कोई दण्ड दितिको दिया, क्योंकि आप ब्रह्मर्षि थे वस्त्र ग्रहणसे दितिने अपनी काम पीडा प्रकट की है जिसको रोकनेमें उसने असमर्थता दिखाई है, दितिमें इस समय विवेक-धैर्य दोनों न रहे थे कारणकि मन्मथ(काम)ने उसकी इन्द्रियोंका मन्थनकर उनमें जोश उत्पन्नकर दिया था जिससे वह रुक न सकी वस्त्रको पकड़ लिया, क्योंकि वह एकान्तस्थल था वहां दूसरा कोई था नहीं केवल पति(कश्यप) थे इसलिए उसने ऐसे समयमें लज्जा छोड़नेमें संकोच नही किया।।२९।।

दितिके इस प्रकार(वस्त्र पकड़नेकी क्रिया) करने पर जो कुछ हुआ

उसका वर्णन इस श्लोकमें करते हैं:

स विदित्वाथ भार्यायाः तं निर्बन्धं विकर्मणि।
नत्वा दिष्टाय रहसि तयाऽथोपविवेश ह ।।३०।।

कश्यपजीने भार्याका निन्दनीयकर्ममें आग्रह जानकर कालको नमन करने लगे अनन्तर एकान्तमें उसके साथ सम्बन्ध किया।।३०।।

'अथ' पद देनेका आशय(भाव) यह है कि दितिने वञ्चन(ठगना) आदि तो किया नहीं है, वह भार्या है मैं पति हूं पतिसे कामेच्छा पूर्ण करनेकी आग्रह पूर्वक प्रार्थना की है इसमें वञ्चना(ठगना) नहीं है अतः भार्यात्वके कारण इसकी इच्छा पूर्ण करनी चाहिये. 'विकर्मणि' कर्मके नाश करनेमें तत्पर हुई है, किन्तु यों कालने कराया है यों जानकर कालको नमस्कार किया, 'गति' अर्थवाली क्रियामें द्वितीया एवं चतुर्थी विभक्तिका व्याकरणमें विधान है अतः 'दिष्टाय' चतुर्थी विभक्ति है 'रहसि' एकान्तमें अर्थात् अग्निहोत्रालयका त्यागकर अन्यगृहमें जाके 'अथ'का भावार्थ प्रकट करती है कि वेदोक्त प्रकारसे गर्भाधान करनेके योग्य आसन(सम्बन्ध) किया, 'ह' पदसे महान् पुरुष भी विकर्म(निन्द्यकार्य)में प्रवृत्त हुए है जिससे कर्मका नाश होता है अतः यह कार्य आश्चर्यकारक है।।३०।।

इस तरह गर्भाधान करनेके अनन्तर कश्यपजीने जो किया वह कहते हैं:

अथोपस्पृश्य सलिलं प्राणानायम्य वाग्यतः।
ध्यायन् जजाप विरजं ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।।३१।।

अनन्तर स्नानकर प्राणायाम किया एवं वाणीका नियमनकर अविद्या नाशक सनातन शुद्ध ब्रह्मज्योतिका ध्यान धरते हुए उसका जाप किया।।३१।।

'अथ' शब्दसे बताते हैं कि यह विषय पृथक् प्रारम्भ किया जाता है क्योंकि इसमें किये हुए विकर्मका प्रायश्चित कहा है तथा काम आदिका अभाव है, स्नानकर, दोषोंको भस्म करनेकेलिए प्राणायाम् किया वाणीका संयमकर लिया नहीं तो दितिको उपालभ्य आदि देते. 'ध्यायन्' ध्यान करने लगे, जिसका ध्यान किया वह स्पष्ट करते है कि सर्वप्रकाशक ब्रह्मज्योति जो भगवच्चरणारविन्द है एवं जो अविद्याका नाश करनेवाला है, अर्थात् प्रणव(अक्षरधाम भगवत् चरणारविन्द)का ध्यान करते हुए उसका जय करने लगे यों भावार्थ हैं।।३१।।

इस प्रकार ऋषिका प्रायश्चित कहकर उसके(दितिके) भी अपराधका यथोचित प्रायश्चित कहते है:

दितिस्तु व्रीडिता तेन कर्मावद्येन भारत !।
उपसंगम्य विप्रर्षिम् अधोमुख्यभ्यभाषत।।३२।।

हे भारत! इसी निन्दित कर्मके करनेसे दिति भी लज्जित हुई, अतः विप्रर्षि पतिके पास नीचा मुखकर यों कहने लगी।।३२।।

'तु' शब्दसे यह प्रकट किया है कि दितिके पहले भाव अब नही रहे हैं, अग्निहोत्रशालामें जो निन्दित कर्म(सम्बन्धकेलिए पतिका वस्त्र पकड़ लेने जैसे निन्द्यकर्म) किया जिससे लज्जित हो गई, दूसरा कोई कर्म निन्दित नहीं था. अतः उस प्रसिद्ध अपराधसे लज्जित होती हुई पतिके पास जा नीचे मुखकर बोलने लगी, विदुरको हे भारत! यह सम्बोधन भ्रम मिटानेकेलिए दिया है, जो भ्रान्त होता है वह ही सबको एक प्रकारका मानता है. कश्यपजीको 'विप्रर्षि' विशेषणसे यह सूचित किया है कि कश्यपजी कामनाओंकी पूर्ति करनेवाले तथा भविष्यके ज्ञाता हैं. दितिके नीचा मुख करनेसे निन्दितकर्म करनेका उसने प्रायश्चित किया है इसलिए मुझमें अब दूसरी शङ्का न समझनी चाहिये।।३२।।

दितिने जो इस प्रकारका प्रायश्चित किया वह स्मृतियोंमें कहा हुआ प्रायश्चित नहीं था कारण कि इसने शास्त्र निषिद्ध आचरण नहीं किया था काल भी कर्मका अंग होनेसे साक्षात् अधर्मका हेतु नहीं है जैसे बिना कालके किया हुआ धर्म न करनेके समान है, इसी तरह गर्भ स्थापनका समय न हो उस कालमें गर्भ स्थापना भी अस्थापनाके समान है, गर्भ स्थानमें केवल कालका बाधकपन नहीं हैं क्योंकि कर्म तथा स्वभाव उसमें बलिष्ठ है और दैत्योंके स्वभावमें श्रद्धा होती है अतः काल अधिष्ठाता देव महादेव कदाचित् गर्भका नाशकर डाले, उसमें भी यदि ब्राह्मणका क्रोध भी हो तो मार ही डाले, इसलिए ब्राह्मण क्रोध न करे ऐसी प्रार्थना करनेकेलिए उसको(कश्यपजीको) महादेवका भक्त जानकर ब्याज(मिष बहाने)से महादेवकी प्रार्थना करती है, यह प्रार्थना किसी निमित्तसे होनेके कारण निम्न श्लोकमें वह निमित्त कहकर उसका अभाव इच्छित है यों पहले बताती हैं:

दितिरुवाच
मा मे गर्भमिमं ब्रह्मन् भूतानामृषभोऽवधीत् ।
रुद्रः पतिर्हि भूतानां यस्याऽकरवमंहसम्।।३३।।

दितिने कहा हे ब्रह्मन! भूतोंमें श्रेष्ठ रुद्र मेरे गर्भका नाश न करे क्योंकि रुद्र प्राणीमात्रके पति हैं जिसका मैंने अपराध किया है।।३३।।

इस उत्पन्न गर्भका रुद्र नाश न करे, हे ब्रह्मन्! इस सम्बोधनसे कश्यपजी को यह सूचित किया है कि उसके प्रतिकार करनेकी शक्ति आपमें है 'भूतानाम् ऋषभः' पदसे यह बताया है कि महादेव भूतोंके स्वामी हैं अतः उनके कहनेसे मार डाले अथवा भूत ही गर्भमें प्रवेशकर उसका(गर्भका) स्रावकर देवे, महादेव प्रजाके उत्पादक(पैदा करनेवाले) हैं वह अपनी प्रजाको कैसे मारेंगे, इस पर कहते है 'सः भूतानां पतिः' जो भी उत्पन्न हुए हैं उनके वे स्वामी हैं, क्योंकि आप भी बालक हैं अतः रोदन करने व करानेके कारण ही रुद्र है. गर्भमें स्थित रोता नहीं है गर्भसे बाहर आने पर ही रोता है. अतः गर्भ उसका नहीं, इसलिए गर्भका नाशकर दे, इसी तरह गर्भनाशमें युक्ति बताकर अब नाश करनेका कारण बताती है कि ''यस्य अकरवम् अंहसम्'' जिस(महादेव)का मैंने अपराध किया है।।३३।।

इस तरह अपना विचार कहकर उसकी सिद्धिकेलिए रुद्र(महादेव)की प्रार्थना करती है:

नमो रुद्राय महते देवायोग्राय मीढुषे।
शिवाय न्यस्तदण्डाय धृतदण्डाय मन्यवे।।३४।।

रुद्र, महान्, देव, उग्र, कामनापूरक, कल्याणरूप, जिसने दण्ड देना त्याग दिया है, किन्तु दुष्टोंका दमन करनेकेलिये दण्ड धारणकर रखा है तथा क्रोधरूप ऐसे विविध लीलारूप महादेवको नमस्कार है।।३४।।

महादेव त्रिगुणात्मक है क्योंकि अहङ्कार तीन गुणवाला हैं, अतः नव(नौ) विशेषणोंसे उनकी प्रार्थना की है, महान् पुरुषोंको प्रसन्न करनेका तरीका उनको प्रणाम करना ही है.

१. 'रुद्राय' पदसे यह प्रकट किया है कि आप भूतोंके दुःखोंको सहन न करनेसे रोये थे ऐसे दयालु स्वरूप आपको नमस्कार है अब ऐसी कृपा मुझ पर भी कीजिये.

२. 'महते' आप उदार हैं, उदार अपराध क्षमा करते हैं आप भी मेरे अपराधोंको क्षमा करोगे उदारस्वरूप आपको प्रणाम है.

३. 'देवाय' पदसे यह सूचित किया है कि आप 'देव' होनेसे अपराधोंको अवश्य क्षमा करोगे अतः देवरूप आपको प्रणाम है, यों तामसादि तीन भाव कहे.

४. 'उग्राय' नाम द्वारा प्रकट करती है कि अन्यके कहनेसे मारेंगे यह शङ्का भी असत्य है क्योंकि आप उग्ररूप हैं जिससे आपको कोई कुछ भी नहीं कह

सकता है, तभी तो प्रार्थना करने पर भी मार डालेगा, इस शङ्का निवारण केलिए कहा है कि केवल उग्र नहीं है किन्तु सबकी कामनाके पूरक भी है.

५. 'मीढुषे' विशेषणसे स्पष्ट किया है कि कामनाओंको पूर्ण करनेवाले श्रेष्ठ पति भी हैं अतः आपको नमस्कार है.

६. 'शिवाय' विशेषणसे बताती है कि आप केवल फलदाता नहीं किन्तु कल्याण रूप होनेसे 'फलरूप' भी हो अतः फलदाता एवं फलरूप आपको प्रणाम है. कल्याणरूप होनेसे कल्याण करोगे. अब तीसरी पंक्तिमें सत्त्वादिभाव प्रकट करते हैं, महादेवने दक्षको मारा तब महान् उपद्रव हुआ देखकर दण्ड देना छोड़ दिया.

७. 'न्यस्तदण्डाय' विशेषणसे प्रकट किया है कि तब तो प्रार्थना करनी व्यर्थ है इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि दुष्टोंके दमनकेलिए दण्ड धारणकर रखा है.

८. 'धृतदण्डाय' इस विशेषणसे स्पष्ट किया है. हे ब्रह्मन्! यदि आप कहो कि तब तू स्वतः(अपने आप) उनको प्रार्थनाकर मेरे आगे कहनेसे क्या लाभ? इस पर ९वां विशेषण देती है.

९. 'मन्यवे' क्रोधके रूप(विशेषण)से समझाया है कि वह ब्राह्मणके क्रोधका स्वरूप है. ब्राह्मणके क्रोधसे प्रकट होता है अन्य प्रकारसे नहीं अतः आपके प्रसन्न होने पर वह मारनेसे रुकेंगे अन्य प्रकारसे नहीं।।३४।।

इस प्रकार नमस्कार करनेसे रुद्रको प्रार्थनाकर पहलेके अपराध मिटाये, अब पतिको प्रसन्न करना चाहती है किन्तु जबतक अहंकार है तबतक पति प्रसन्न नहीं होते अतः अहंकार निवृत्तिकेलिए महादेवजीको ही प्रार्थना करती है:

स नः प्रसीदतां भामो भगवानुर्वनुग्रहः।
व्याधस्याऽप्यनुकम्प्यानां स्त्रीणां देवः सतीपतिः।।३५।।

वे महादेवजी हम पर प्रसन्न होवें क्योंकि मेरे बहनोई हैं. जबकि हम स्त्रियों पर व्याध भी दया करता है(वे) तो सतीके पति दयालु, स्त्रियोंके देव और मेरे बहनोई होनेसे अवश्य कृपा करेंगे।।३५।।

पूर्वमें जिनका वर्णन किया है वे महादेव हम पर प्रसन्न हों, कारण कि मेरे बहनोई हैं, केवल आप प्रसन्न हो यों नहीं किन्तु मेरे पतिको भी मुझ पर प्रसन्न करें, ऐसी शक्ति आप(महादेव)में है इसलिए भगवान् विशेषण दिया है अपराध करने पर यदि दण्ड न दिया जाय, यह ही बहुत है अपराधी पर कृपा कैसे की जायेगी? इस पर कहती है कि आप महान् अनुग्रह करनेवाले हैं अतः प्रार्थना

सुनकर केवल शिक्षा ही करते हैं यों नहीं है किन्तु फल(सुख आनन्द) भी देते हैं, फिर विशेष तो यह है कि हम पर तो कृपा करनी ही उचित है क्योंकि हम स्त्रियां है. अर्थ(द्रव्य)केलिए हिंसा करनेवाला व्याध भी हम पर दया करता है कारण द्रव्य पुरुषार्थसे काम पुरुषार्थ विशेष है वह पुरुषार्थ तब सिद्ध होता है जब स्त्री विद्यमान हो. स्त्री ही संसारमें आनन्द देनेवाली है. सबको आनन्द देकर भी स्वयं(खुद) अपना कोई मतलब सिद्ध नहीं करती है अतः स्त्रियां दयाके योग्य हैं.

महादेवजी! आप तो स्त्रियोंके देव हैं इसलिए ही स्त्रियां गौरीका पूजन आपके साथ ही करती हैं अथवा महादेव! आप ही देव होनेसे क्रीड़ा करनेवाले हैं विशेषता यह है कि सतीके पति होनेसे स्त्रियोंके स्वभावको पहचानते हैं।।३५।।

इस तरह महादेवजीकी स्तुति होने पर कश्यपजी आधे प्रसन्न हुए अतः क्रोध तथा प्रसाद दोनों किये यों निम्न श्लोकमें कहते हैं:

मैत्रेयः उवाच

स्वसर्गस्याशिषं लोक्याम् आशासानां प्रवेपतीम्।
निवृत्तसन्ध्यानियमो भार्याम् आह प्रजापतिः।।३६।।

मैत्रयजी कहने लगे कि जब प्रजापति कश्यपजीने सन्ध्याकालके कर्मसे निवृत्त होकर देखा कि दिति कांप रही है और सन्तानके इसलोक और परलोकके सुखकी प्राप्तिकेलिए प्रार्थनाकर रही है तब उसको निम्न प्रकारसे कहा।।३६।।

अपने गर्भकेलिए लोक प्रसिद्धि शुभकामना चाहती हुई भी इसलिए कांप रही थी कि कुसमयमें धारण किये हुऐ गर्भका क्या होगा इस विचारसे विशेष कांप रही थी उस समय कश्यपजी सन्ध्या समयके कर्मसे निवृत्त हो गये थे सामने भार्याकी यह दशा देखी मनमें आया कि भार्या है अतः इसको शिक्षार्थ अवश्य कहना चाहिए कश्यप प्रजापति है अतः उनके वचन कठोर होंगे यदि कठोर बचन न कहे तो संसारमें समस्त स्त्रियां यों करने लग जायगी. दया करनी और इस तरह कहना भी आवश्यक होनेसे यह कथन समीचीन(श्रेष्ठ) है।।३६।।

पहले 'अप्रायत्याद्' आदि निम्न चार श्लोकोंसे दितिके किये हुए दोषोंके फलका वर्णन कश्यपजी करते हैं:

कश्यपः उवाच

अप्रायत्याद् आत्मनस्ते दोषान् मौहूर्तिकादुत।
मन्निदेशातिचारेण देवानां चैव हेलनात्।।३७।।

कश्यपजीने कहा कि तुम्हारा चित्त रजस्वला होनेसे मलिन था वह समय भी अशुद्ध था मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया तथा देवोंका भी तिरस्कार किया।।३७।।

भविष्यतस्तवाऽभद्रौ अभद्रे! जाठराधमौ।
लोकान् सपालानंस्त्रींश्चण्डि! मुहुराक्रन्दयिष्यतः।।३८।।

हे अभद्रे!(दुष्ट स्त्री) जठरके दोषसे तुझे दो अधम(नीच) पुत्र उत्पन्न होंगे. हे चण्डी! वे लोकपालों सहित सकल लोकको रुलायेंगे।।३८।।

मेरी कृपा होने पर भी अवश्य फल विपरीत ही होगा जिसके चार कारण हैं १.तेरा शरीर अपवित्र था, कारणकि संयम रहित तथा रजस्वलावाला था २.समय संध्यारूप होनेसे दूषित था यह दोष था ऐसे समयमें उत्पन्न दुष्ट होता है वो जीता नहीं. 'उत' शब्द अपि(भी) अर्थमें है सूतककी तरह एक दोष दूसरेको मिटा नहीं सकता है किन्तु वह भी उसमें मिल जाता है ३.मेरी आज्ञाका पालन न करना,'उत' शब्द देहलीदीपक न्यायानुसार उत्तरार्द्धसे भी सम्बन्धवाला है ४.देवोंकी अवहेलना, देव पदसे भूत एवं गार्हपत्यादि अग्नियोंकी अवहेलना (तिरस्कार) करना है।।३७।।

इस प्रकारके चार दोषोंके कारण तुझे जो दो पुत्र होंगे प्रत्येकमें दो दोषका प्रभाव पड़ेगा हिरण्याक्षमें पहले दोष प्रभाव डालेगें जिससे वह शीघ्र मरेगा तथा तप आदि नहीं कर सकेगा दितिको 'अभद्रे' सम्बोधनसे यह सूचित किया कि यद्यपि पुत्रमें माता-पिता दोनोंका अंश होता है तो भी ये मातृदोषसे ही दुष्ट हुवे हैं अतः वे 'अभद्र'(अकल्याणकारी) हुवे हैं. ''**माता भस्त्रा पितुः पुत्रः**'' माता चर्मकी थैली है अतः पुत्र पिताका है इस शास्त्र वचनानुसार बीज शुद्ध होने पर ये दो दोषवाले(दुष्ट) कैसे(क्यों) हुए? इस शङ्काको मिटानेकेलये 'जाठराधमौ' पद कहा है जठरके दोषसे अधम हुए हैं जैसे उत्तम बीज शुद्रामें प्रविष्ट होने पर शुद्रत्वको प्राप्त होता है वैसे ये भी हुवे हैं दोनोंके दोष बताते हैं लोकपालों सहित लोकोंको रुलायेंगे जिसका कारण रुद्रके कालमें उत्पन्न होना है 'चण्डी' सम्बोधनसे उसका स्वभाव कोपयुक्त बताया है, अतः यह दोष भी तुम्हारा ही है।।३८।।

इस प्रकार उनका एक दोष कहकर इस श्लोकमें तीन दूसरे दोष कहते है:

प्राणिनां हन्यमानानां दीनानाम् अकृतागसाम्।
स्त्रीणां निगृह्यमाणानां कोपितेषु महात्मसु।।३९।।

जब वे निर्दोष और दीन प्राणियोंका संहार करेंगे, तथा स्त्रियों पर अत्याचार करेंगे एवं महात्मा इनके अत्याचारोंसे कुपित होंगे।।३९।।

दीन प्राणी दोषवाले हों तो भी उनका वध करना उचित नहीं है परन्तु ये तो निरपराधोंका वध करेंगे यह एक दोष स्त्रियों पर अत्याचार करना दूसरा दोष 'निगृह्यमाणानां' पदसे सूचित किया है कि पतिव्रताओंका पातिव्रत्य छुडाएंगें. तीसरा दोष, महात्माओंकी भगवत्सेवा आदि सत्कर्मोंमें प्रतिबन्ध डालेंगे जिससे वे कुपित होंगे।।३९।।

यों ४ दोष होने पर "**भक्तद्रोहे वधः स्मृतः**" भक्तके द्रोह करने पर वध कहा है इस वाक्यानुसार, परमेश्वर उनका वध करेंगे यों कहते हैं:

तदा विश्वेश्वरः क्रुद्धो भगवांल्लोकभावनः।
हनिष्यत्यवतीर्याऽसौ यथाद्रीन् शतपर्वधृक्।।४०।।

जैसे इन्द्र पर्वतोंका नाश करता है वैसे क्रुद्ध विश्वपति, लोक पालक भगवान् अवतार धारणकर इनका नाश करेंगे।।४०।।

इनको भगवान् मारेंगे जिसका कारण बतानेकेलिये 'विश्वेश्वर' पद दिया है. जगतमें दो ईश्वर नहीं होते हैं किन्तु भक्तोंको पीड़ित देखकर कुपित 'भगवान्' शब्दसे यह सूचना दी है कि इन्होंने वैकुण्ठमें भी अपराध किया था जिससे यह योनि ली है अब भगवान् उस अपराधसे प्राप्त योनिसे उनको छुड़ाना चाहते हैं.

आप, लोकोंका पालन करनेवाले हैं अतः मर्यादा रक्षार्थ भी वध करना आवश्यक है स्वामी स्वयं सेवकका वध करे यह उचित नहीं है अतः वराह तथा नृसिंहरूपसे प्रकट होकर मारेंगे. 'असौ' पदसे सूचित किया है कि वह यहां ही विराजते हैं इसलिए पापियोंका वध करना उनकेलिये आवश्यक ही है, 'शतपर्वधृग्' पद देकर दृष्टान्त द्वारा इसकी आवश्यकता सिद्ध करते हैं जैसे प्राणियोंके क्लेश निवृत्यर्थ इन्द्रने वज्रको हाथमें लेकर भारसे उड़ते हुवे पर्वतोंकी पांखोंको काट डाला. वैसे ईश्वरको भी लोककल्याणार्थ इनका वध करना आवश्यक है।।४०।।

पतिसे इस कर्मका अनिष्ट फल सुना, किन्तु विष्णुभक्त होनेसे पुत्रोंका भगवान्से सम्बन्ध सुननेसे प्रसन्न हुई अतः उसका अनुमोदन करती है:

दितिः उवाच

वधं भगवता साक्षात् सुनाभोदारबाहुना।

आशासे पुत्रयोर्मह्यं मा क्रुद्धाद् ब्राह्मणात्प्रभो!।।४१।।

दितिने कहा हे स्वामिन्! मैं भी चाहती हूं कि मेरे पुत्रोंका वध भगवान्के साक्षात् स्वहस्तसे हो किन्तु क्रुद्ध ब्राह्मणसे न हो।।४१।।

कश्यपजीने पहले कहा है कि तेरे पुत्र महात्मा ब्राह्मणोंको कुपित करेंगे अतः दिति कहती है कि वह ब्राह्मणोंका कोप शाप न दिलावें यदि वे शाप देंगे तो उनके शापसे भगवान् वध करेंगे तो फल श्रेष्ठ नहीं होगा इसलिए ब्राह्मणोंके शापसे प्रेरित भगवान् वध न करें केवल स्वेच्छासे भगवान् स्वयं ही वध करें यों प्रार्थना करती हूं. 'साक्षात्' पदका भावार्थ है अपने सुदर्शन या हस्तकमलसे वध करें कालादिसे वध न करावे. क्योंकि आपश्रीका हस्त ही मोक्ष सर्व पुरुषार्थ सिद्ध करनेवाले हैं मैं ऐसी आशा करती हूं यद्यपि यह आशा पूर्ण होना दुर्लभ है तो भी हे स्वामी! आपमें ऐसी सामर्थ्य है जिससे भगवान् मेरी आशा पूर्ण करेंगे, कुपित ब्राह्मणसे पुत्रोंका वध नहीं चाहती हूं अतः कृपाकर ऐसा वर दीजिये।।४१।।

ब्राह्मणसे वध अत्यन्त(बहुत ही) निन्दित है यों कहनेकेलिये इस श्लोकमें कारण बताती है कि परलोकमें रुकावटकर्ता है:

न ब्रह्मदण्डदग्धस्य न भूतभयदस्य च।
नारकाश्चानुगृह्णन्ति यां यां योनिमसौ गतः।।४२।।

जो जीव ब्राह्मणोंके शापरूप अग्निसे दग्ध हुआ(जला) है और जो प्राणियोंको भयकर्ता है वह किसी भी योनिमें होगा तो भी उस पर नारकी जीव अनुग्रह तो क्या, उसका स्पर्श भी नहीं करते हैं।।४२।।

ब्राह्मणके दण्डसे अर्थात् ब्राह्मणके शापरूप अग्निसे डण्डा मजबूत काष्ठ(लकडी)का होता है उसके भीतर रही हुई अग्नि सर्व प्रकारसे जलाती रहती है कारण कि जो ब्राह्मण दण्डसे दग्ध है वह ही प्राणियोंका भयकर्ता होता है अर्थात् डराता रहता है ऐसे जीवके सिवाय दूसरा खुद दुःखका जानकार होनेसे अन्य किसीको दुःख देना नहीं चाहता है. ब्राह्मणोंके शाप मिलनेसे ज्ञानादि नष्ट हो जाते हैं जिससे वह यों कर सकता है अर्थात् दूसरोंका भयकर्ता बन सकता है, अथवा यह भी नारकी स्पर्श नहीं करते हैं जिसका पृथक् कारण है, 'च' पदसे उनको भगवान्के द्वेषी कहा है.

नरकनिवासी भी उसके सम्बन्धियों पर तथा उन पर अनुग्रह नहीं करते हैं यहां दी हुई छठी विभक्ति द्वितियार्थमें है 'च' पदका आशय है कि नारकियोंके

सिवाय दूसरे भी उसका स्पर्श नहीं करते हैं अथवा 'च' पद 'भी' अर्थमें दिया है जिसका आशय है कि अन्य तो स्पर्श नहीं करते हैं किन्तु नरकवासी भी उसको छूते नहीं, यह ब्रह्मदण्डसे दग्ध आदि जिस-जिस योनिमें भी गया हो तो अस्पर्श्य ही होता है.

नरकवासी दो प्रकारके होते हैं (१)स्थान भेदवाले (२)जुदी-जुदी योनि वाले. उसमें योनि भेदमें दैहिक सम्बन्ध अधिक होता है जिससे कदाचित् अनुग्रह हो जावे ऐसे विचारका निषेध ''यां यां योनिम् असौ गतः'' पदसे करते हैं, किसी भी योनिमें हो तो उस पर अनुग्रह(स्पर्शादि) नहीं होता है।।४२।।

कश्यपजी दितिको भगवद्भक्ता जानकर और यों करने से(वर देनेसे) बीजकी भी सार्थकता होगी अतः निम्न श्लोकोंसे वर देते हैं:

कश्यपः उवाच

कृतशोकानुतापेन सद्यः प्रत्यवमर्शनात्।

भगवत्युरुमानाच्च भवे मय्यपि चादरात्।।४३।।

कश्यपजी कहने लगे कि तुमने किये हुए कर्मका शोक तथा पश्चाताप भी किया एवं अपराधकी क्षमा मांग ली इसलिए और भगवान्में बहुत आदर करनेसे एवं महादेव तथा मुझमें आदर करनेसे(श्लोक ४४से सम्बन्ध)।।४३।।

वर देते है, तेरा पौत्र वैष्णव होगा, इनमेंसे पहले माता(दिति)के छः गुण कहते हैं. जो कर्म किया उसका शोक करने लगी अरे! मैंने अपना पुरुषार्थ नाशकर दिया जैसा पुत्र नाशमें शोक किया जाता है वैसा शोक किया, इसी तरह भोग सिद्ध करने पर तथा गर्भ होने पर भी शोक हुआ, फिर शोकके साथ पश्चात्ताप भी किया कि मैंने ऐसा कार्य क्यों किया? शोक और पश्चात्ताप करनेका साथमें कहनेका भाव यह है कि कर्ताको शोक तथा पश्चात्तापमें समान दुःख प्राप्ति हुई है अन्य गुण ३ कहते है. विनयके साथ आगमन तथा क्षमा प्रार्थना करना, भगवान्में विशेष आदर जैसेकी लोकमें जो पुत्रको मारता है वह शत्रु तथा धिक्कारका पात्र माना जाता है यहां तो पुत्रवधकर्ता साक्षात् भगवान् हों ऐसी आशा करती है जिससे भगवान्में आदर तथा प्रेम प्रकट किया है जिससे यह ४ महान् गुण हैं दूसरे दो बताते हैं महादेव तथा मुझमें आदर जैसे 'न मे गर्भम्' पदसे महादेवजीमें आदर प्रकट किया, तथा 'प्रभो' सम्बोधनसे मेरा आदर सूचित किया है अथवा ब्राह्मणकी विशेषता दिखाई है।।४३।।

कारणे षड्गुणाः क्षेत्रे कार्ये बीजस्वभावतः।

अष्टादशगुणा जाताः ते कीर्त्यन्ते क्रमादिमे।।का.१।।

जो क्षेत्र(माता)में छः गुण हुवे, बीज स्वभावसे वे कार्य(पुत्र)में अठारह गुणा हो गये उनका क्रमशः इन श्लोकोंमें वर्णन किया जाता है।।१।।

पुत्रस्यैव तु पुत्राणां भवितैकः सतां मतः।

गास्यन्ति यद्यशः शुद्धं भगवद्यशसा समम्।।४४।।

तुम्हारे एक पुत्रके चार पुत्रोंमेंसे एक पुत्र ऐसा होगा, जिसका मान सत्पुरुष भी करेंगे, जिसका शुद्ध यश भक्तजन भगवान्के गुणोंके साथ गायेंगे।।४४।।

इन छः गुणोंके कारण बडे पुत्रोंके चार पुत्रोंमेंसे एक(तीसरे)का सत्पुरुष आदर करेंगे, यों कहनेसे वंशकी वृद्धि भी कही है 'सतांमतः' शब्दसे प्रामाणिकता व्यक्त की है नहीं तो 'सन् सत्तमः इति वा' श्रेष्ठ या श्रेष्ठ कहते हैं 'मत पद तो उत्तमतामें प्रमाणरूपता' प्रकट करता है इससे भगवन्मार्गमें वह प्रमाणरूप है यों निरूपण किया है.

अब प्रमेयता कहते है 'गास्यन्ति' पदसे सूचित करते हैं कि वह ही ऐसा होगा जो उससे किसी समय भी साधन वा फलमें विरुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होगी अतः वही प्रमेय(ज्ञेय) योग्य है, अतः जब भगवद्यश गाया जाता है तब उनका आधार लेकर ही प्रह्लादका यशोगान किया जाता है आधार और आधेय और दोनों प्रकार समान होनेसे दोनोंमें समता है. भक्त ही भगवद्यशके आधार हैं यों पहले कहा गया है.

प्रह्लादका यश शुद्ध है. यह अन्योंसे विशेष है क्योंकि अन्योंका यश पूर्ण शुद्ध नहीं है 'समम्' कहकर यह सूचित किया है कि, स्वल्प आधार नहीं किन्तु पूर्ण है अथवा 'भगवद्यशसा' पदसे 'करण'को सूचित किया है और शुद्धत्व तथा समत्व भी इस पदसे प्रकट किया है.

दैत्योंका यश प्रायः विषम(समान व शुद्ध नहीं) होता है, मतान्तर होनेसे तुल्यता दिखानेमें भी दोष नहीं है, जैसे "**पुण्यश्लोको नलो राजा**" नलराजाको पुण्यश्लोक कहा जाता है वैसे प्रह्लादके यशको भगवान्के कहनेमें दोष नहीं है इसलिए ही लोक इस प्रकार प्रह्लादके गुण गान करेंगे।।४४।।

इस तरह साधारणरीतिसे प्रमेयपनको सिद्धकर अब निम्न श्लोकमें विशेष

प्रकारसे सिद्ध करते हैं:

योगैर्हेमेव दुर्वर्णं भावयिष्यन्ति साधवः।
निर्वैरादिभिरात्मानं यच्छीलम् अनुवर्तितुम्।।४५।।

जैसे अशुद्ध सुवर्ण(सोने)को अग्निमें डालकर तथा कल्कादि धातुओंसे शुद्ध किया जाता है वैसे साधुजन उसके स्वभावका अनुकरण करनेकेलिए वैरादि दोषोंको त्याग अपने अन्तःकरणको शुद्ध करेंगे।।४५।।

जैसे कुन्दन करनेवाले जब पहले स्वर्णको कल्क आदि धातुओंसे शोधकर सर्व प्रकार शुद्ध बनाते हैं तब स्वर्ण विजातीय तथा सजातीय पदार्थोंको अपनेसे सम्बन्ध करा सकता है तथा हीरेकी तरह सामान्य भी अपनी जातिवाला हो तो उसका भगवान्के साथ सम्बन्ध करा सकता है अर्थात् कसौटी किया हुआ हल्का सोना भी भगवान्को होरेकी तरह धराया जाता है अतः सत्पुरुषको अपना अन्तःकरण शुद्ध करना चाहिये जैसे सुवर्णमें मिली हुई रजतादि धातुओंको निकालकर उसको शुद्ध किया जाता है वैसे वैरादि दोषोंको अन्तःकरणसे निकालकर उसको शुद्ध करना चाहिये, जिससे यह निश्चय हो जाय कि अन्तःकरणमें अब वैरादि दोष नही रहे हैं प्रह्लादमें तो जन्मके साथ ये गुण निर्वेदत्व आदि मौजूद थे इसलिए "**चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वात्**" इस सूत्र न्यायानुसार 'चित्स्वरूप होनेसे उसमें उस स्वरूपसे ही भोग करते हैं' तदनुसार(चैतन्यको) भगवान्के चैतन्यके समान किया जाता है अथवा भगवान्के अनुग्रहसे भगवद्भाव सम्पादन किया जाता है, तथा साधुपनकेलिए अथवा अन्योंमें भगवद्भाव उत्पन्न हो इसलिए प्रह्लादके समान आपको भी सम्पादन करना है. इसलिए कहते हैं कि जैसे स्वर्णको शुद्ध करते हैं, वैसे परोपकारी साधुजन भी प्रह्लादके स्वभावानुसार आचरण करनेकेलिए अपने अन्तःकरणको निर्वेर आदि गुणोंसे पूर्णकर वैरादि दोषोंको निकाल देते हैं।।४५।।

इस प्रकार प्रमेयत्व निरूपणकर अब फलत्वका निरूपण करते हैं:

यत्प्रसादाद् इदं विश्वं प्रसीदति यदात्मकम्।
स स्वदृग्भगवान्यस्य तोष्यतेऽनन्यया दृशा।।४६।।

जिनकी कृपासे उन्हींका स्वरूपभूत यह विश्व प्रसन्न हो रहा है वे स्वयं प्रकाश स्वरूप भगवान् उस भक्तको अनन्य दृष्टिसे प्रसन्न होंगे।।४६।।

भगवान् जिससे प्रसन्न होंगे, यद्यपि सबकी आत्मा आप होनेसे स्वरूपसे

सर्वदा सर्वथा प्रसन्न ही हैं तो भी साधनसे प्रसन्न हुए, प्रसन्न कहे जाते हैं उस साधनका स्वरूप बतलाते है 'यस्य अनन्यया दृशा' जिस भक्तकी दृष्टि सर्वत आपमें ही लगी हुई है अन्यत्र किसी प्रकार भी नहीं जाती है, अर्थात् [1]चौंतीस दृष्टियां जीवकी होती हैं वे सर्व भगवान्में आसक्त हों, तब पूर्णसाधन होता है जिससे प्रभु प्रसन्न होते हैं ये ३४ ही जब भगवान्में लगी हो तब वह अनन्यभक्त सर्वभावसे प्रसन्न समझा जाता है, जब इस प्रकार भक्त सर्वभाववाला होता है तब भगवान् प्रसन्न होते हैं.

भगवान्की प्रसन्नताको ही फलरूप कैसे कहते हो? जब विश्व ही फलरूप है यदि विश्व फलरूप न होवे तो भगवान् भी विश्वमें रमण न करे इसलिए कहा है कि जिस भगवान्के प्रसाद(अनुग्रह)से यह विश्व ही प्रसन्न(आनन्दित) होता है भगवान्का अनुग्रह(प्रसन्नता) ही विश्वकी प्रसन्नता है, अनुसन्धानके भेदसे ही कार्य-कारणभाव है, यदि यों न होवे तो कार्यमें दूसरे साधनकी अपेक्षा हो जाय, इसलिए भेद मिटानेकेलिए कहते हैं 'यदात्मकम्' यह विश्व भगवद्रूप ही है अतः भगवान्के प्रसन्न होने पर यह भी स्वतः प्रसन्न हो जाता है तब इसका(भक्तका) सर्वत्र कामचार(इच्छाकी पूर्ति अर्थात् जैसी भी इच्छा हो वैसी पूर्णकर सकता है), भगवान्की तरह कर सकता है.

भगवान् उसका विषय कैसे हो? अर्थात् उसको भगवद्दर्शन कैसे हो? यदि दर्शन हो तो हीन भाव होगा और मर्यादाका भी भंग होगा? इस शङ्काको मिटानेकेलिए 'स्वदृग्' पद दिया है. जिसका आशय है कि भगवान् सर्वको अपना रूप ही देखते हैं. वैसे वह भी आपकी कृपासे आत्मापनसे देखते हैं जिससे न हीनत्व होता है और न मर्यादाका भंग होता है भक्त स्वतः भगवान् होनेसे पूर्ण काम भी है इसलिए उसे भगवान् शब्दसे कहा है. कारण 'प्रह्लाद' फलरूप है।।४६।।

१.चौंतीस दृष्टियां दश इन्द्रियां चार अन्तःकरणके अंग, एक आत्मा एक देह, एक-प्राण, ये सत्रह और अपने सम्बन्धी पुत्रादि सत्रह ये सब मिलनेसे ३४(चौंतीस) दृष्टियां मानी गयी हैं.

तीन श्लोकोंसे साधनोंका स्वरूप बताते हैं साधन तीन तरहके हैं कितने ही. कितने ही साधन 'गुणरूप' हैं, दूसरे 'दोषाभावरूप' हैं और अन्तरङ्ग फलरूप एक है उनमेंसे पहले गुणरूप साधन कहते हैं:

स वै महाभागवतो महात्मा महानुभावो महतां महिष्ठः।

प्रवृद्धभक्त्या ह्यनुभावितान्तर्निवेश्य वैकुण्ठमिमं विहास्यति।।४७।।

यह निश्चय महान् भगवदीय, महात्मा, महान् प्रभाववाला, उत्तम पुरुषोंमें उत्तम, भक्तिकी वृद्धिसे भावादित हृदयमें भगवान्को विराजमानकर इस देहका त्याग करेगा।।४७।।

१.उसको ही शास्त्र(भगवत् शास्त्र)में गुणयुक्त कहा है जो उत्पत्ति और उत्पत्तिसे साधनवाला है, अतः प्रह्लाद वैसा है, इसलिए ही निश्चयसे कहा जाता है कि (वह) महान् भगवदीय है. जो भगवदीय होके देह आदिसे सकल कार्य भगवदीय(भगवत्सम्बन्धी) करता है और जानता है कि मुझे भगवत्सम्बन्धी कार्य (भगवदीय) ही करना है, वह भगवदीय है जो सर्वदा ही इस प्रकारका होकर रहता है वह महान् भगवदीय है, इससे भगवत् शास्त्रमें कहे हुए सर्व साधन कह दिये हैं.

२.महात्मा, दूसरा साधन ज्ञानमार्गसे सिद्ध है ब्रह्मभावसे वह जीव महान् आत्मा होता है यदि ब्रह्मभाव न हो तो परिच्छिन्न सीमित हो जायेगा ब्रह्मभाव होने पर महत्व भी असीम होता है.

३.महानुभाव, यह तीसरा साधन है, जिसका कर्ममार्गसे उत्कर्ष है क्योंकि उसमें प्रभावसे ही महत्व है, कर्म नाशवान् होनेसे महत्त्व उत्पन्न नहीं करता है, अतः कर्म करनेसे जो शक्ति आती है उसके प्रभावसे ही महत्त्व होता है उसका(प्रह्लादका) महत्व अग्निमें न जलनेसे प्रसिद्ध है यह सबसे उत्तम प्रभाव, महान् होनेसे शीघ्र ही विश्वासका कारण बना है.

४.महतां, महिष्ठा उत्तमोंमें भाव यह चौथा साधन लोकमें उत्कर्षका कारण है, यशस्वियोंमें भी वह यशस्वी होता है लोकमें कीर्त्ति और श्री(धन) महत्त्वके कारण हैं इस कारणसे ही महान् पुरुषोंमें अत्यन्त(असीम) उत्तमोत्तम है.

यों चार प्रकारके साधन कहकर पाचवां साधन पुरुषार्थरूप एवं अलौकिक भगवत्स्नेहरूपको साधनपनसे कहते हैं 'प्रवृद्धभक्त्या' आदि ऊपर कहे हुवे साधनोंसे विशेष प्रकारसे बढी हुई जो प्रेमलक्षणा भक्ति उससे भावयुक्त हुए अन्तःकरण प्रेमसे प्रेमरूप हो गया जिससे भगवान् उस प्रेममय अन्तःकरणमें विराजमान हो सकते हैं, वह ही स्वाश्रय है इस कारणसे ऐसे स्वभावको प्राप्त हुए अन्तःकरणमें प्रभु प्रविष्ट होते हैं 'वैकुण्ठं' पदसे सूचित किया इस स्वरूपके दर्शनार्थ ही इतना क्लेश भोगा. इस देहका त्याग करेगा, क्योंकि देहरहित मोक्ष प्राप्त करेगा जिससे फिर जन्म लेनेकी शृङ्खला टूट जायेगी. इस तरह सर्वशास्त्र

और लोक सिद्ध गुणरूप साधन सफल हुए यों कहा.

इस निम्न श्लोकमें 'दोषाभाव' रूप साधन कहते हैं.

अलम्पटः शीलधनो गुणाकरो हृष्टः परद्‌र्ध्या व्यथितो दुःखितेषु ।
अभूतशत्रुर्जगतः शोकहर्ता नैदाघिकं तापमिवोडुराजः।।४८।।

विषयोंमें आसक्त नहीं, शील(श्रेष्ठ स्वभाव) ही जिसका धन है गुणविधि अन्योकी समृद्धि देख प्रसन्न होनेवाली एवं अन्यके दुःखसे व्यथित(दुःखी) होनेवाला, जिसका कोई शत्रु नहीं ऐसा वह, चन्द्रमा जैसे ग्रीष्मके तापको हरण करता है उसी तरह यह भी जगत्‌के शोकका हरण करनेवाला होगा।।४८।।

इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिरूप दोषको लम्पटता दोष कहा जाता है वह दोष इसमें न ही है इसलिए 'अलम्पटः' कहा है.

सुन्दर स्वभाव ही जिसका धन है, सकल चोर आदिसे धनकी रक्षा की जाती है वैसे ही हीन पुरुषोंके आक्रमणसे शीलकी रक्षा की जाती है इससे सुन्दर स्वभावका नाश स्वभाव दोनोंका निवारण करनेकेलिए 'शीलधनः' कहा है, प्रथम स्कन्धमें कहे हुए सत्य आदि गुणोंके रहनेका स्थान वे समस्त गुण दोषोंके अभावका रूप हैं, लौकिक गुण भी भगवान्‌में वैसे ही हो जाते हैं. समस्तके गुणोंमें समानता और उत्कृष्टमें दया इनका विवरण(खुलासा) करते हैं. ''**हृष्टः परद्‌र्ध्या व्यथितो दुःखितेषु**'' लोकमें प्रत्येक पुरुष अपनी समृद्धि देख प्रसन्न होता है किन्तु यह(प्रह्लाद) दूसरोंकी समृद्धि देख अपनी समृद्धिके समान प्रसन्न होता है दुःखियोंके दुखसे व्यथित(व्याकुल) वह होता है जो दयालु होता है दयावान्‌के अन्तःकरणमें ही अन्यके दुःखोंको देख दया उत्पन्न होती है.

'अभूतशत्रुः' जिसका कोई शत्रु न होगा, विशेष क्या कहे जिसकेलिए काम आदि शत्रु न बनेंगे, जगत्‌के शोकका हरण करनेवाला होगा इससे उसका सामर्थ्य कहा है अन्योंके दुख मिटानेकी जिसमें स्वाभाविक इच्छा मौजूद है, शोक तो भीतरका ताप है, बाहरका ताप भी निवारण करेगा, वह दृष्टान्तसे समझाते हैं, उष्णकालमें सूर्यके तापके कारण दुःख होता है कलिकालमें कालसे उत्पन्न दुष्टकाल रोगादि ताप होता है. 'उडुराजः' चन्द्रमा जैसे नक्षत्रोंको साथमें लेकर सूर्य जनित ताप मिटाता है वैसे यह(प्रह्लाद) तो अपने साथी भक्तोंके साथ सकल लोकके दुःख मिटायेगा चाहे सन्निधि वा असन्निधि, सानिध्य वा असानिध्य हो।।४८।।

इस श्लोकमें सबसे उत्तम साधन कहते हैं:

अन्तर्बहिश्चाऽमलम् अब्जनेत्रं स्वपूरुषेच्छानुगृहीतरूपम्।
पौत्रस्तव श्रीललनाललामं द्रष्टा स्फुरत्कुण्डलमण्डिताननम्।।४९।।

तेरा पौत्र जो सर्वत्र(अन्दर-बाहर) विराजमान है, निर्दोष है, कमलनयन है, स्वभक्तोंकी इच्छानुसार समय-समय पर आनन्दमय स्वरूपको धारण करते है, लक्ष्मीरूप ललनासे सुशोभित है, चमकते हुए कुण्डलोंसे सुशोभित मुखवाले हैं, उन हरिका साक्षात्कार दर्शन सर्वदा करेगा।।४९।।

क्योंकि उसको(तेरे पौत्र प्रह्लादको) भगवत्कृपासे, भक्तिसे, ज्ञान तथा वैराग्यसे भगवान्का साक्षात्कार होता है भगवान् सर्वत्र आकारवाले हैं, सच्चिदानन्दरूप हैं सर्व स्थलमें आपके हस्तपादापि हैं किन्तु मायारूप पर्देसे ढके हुए हैं जिससे दर्शन नहीं होते हैं, लेकिन प्रह्लादकी दृष्टिके आगे, माया पर्देका काम नहींकर सकती है अतः उसको तोड़कर भी भगवान्के स्वरूपका दर्शन करता है, यों आशय है.

किन्हींका मत है कि प्रसन्न हुए भगवान् यहां वर्णित स्वरूपकी एक मूर्ति उसकी दृष्टिके सामने स्थापितकर देते हैं जिससे जहां भी देखता है वहां ही उसको दर्शन होते हैं, इस मत पर आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि, यदि वह रूप ब्रह्मस्वरूप है तो पहले कहे हुए स्वरूपसे इसमें कुछ भी विशेषता नहीं है. यदि वह स्वरूप उपाधिरूप है तो इससे प्रह्लादका उत्कर्ष(बड़ाई) नहीं है 'अन्तःबहिःद्रष्टा' पदसे यह सूचित किया है कि प्रह्लाद प्रभुका दर्शन अन्दर-बाहर सर्वदा करेगा 'अमलम् इति' जैसे मध्यान्हके सूर्य मण्डलके भीतर स्थित स्वरूप निर्मल दर्शन देते हैं वैसे यहां भी प्रह्लादको दर्शन होते हैं(होंगे) इससे निर्दोषत्व प्रकट किया है, 'अब्जनेत्रं' पदसे यह सूचित किया है कि प्रभु दृष्टिसे ही सर्व प्रकारकी इच्छा पूर्ण करते हैं. इससे प्रभुमें सर्वगुण हैं यह प्रतिपादन किया है, इसी प्रकार प्रभु, निर्दोष पूर्णगुण शरीरवाले हैं यों कहकर, अब भगवान्की भक्ताधीनता कहते हैं अपने भक्तोंकी इच्छानुसार स्वरूप धारण करते हैं. 'तव पौत्रः' पदसे सूचित करते हैं प्रह्लादमें भक्तिका अंश उसका(दिति)का ही है क्योंकि वह भगवान्की भक्ता है, लक्ष्मीरूप स्त्री चिन्हसे सुन्दर है जिसने सबके भाग्यरूप होनेसे, उनके दर्शन हो जाने पर फिर कुछ भी प्राप्त करना वा देखना नहीं रहता है इससे भगवान् ऐहिक फलरूप हैं यों कहा, साङ्ख्य एवं योगरूप दो कुण्डलोंकी झिलमिलसे सुशोभित मुखवाले हैं जिससे यह सूचित किया है कि साङ्ख्य और योगसहित जो यह भक्तिमार्ग है वह मुख है, इससे उपाय

सहित मोक्षदातृतापन निरूपण किया ।।४९।।

इस प्रकार भगवान्का माहात्म्य तथा वैसा(भगवद्भक्त) पौत्र होगा, सुनकर दिति सर्व चिन्तासे मुक्त हो गई:

मैत्रेयः उवाच

श्रुत्वा भागवतं पौत्रं मुमोदत दितिर्भृशम्।
पुत्रयोश्च वधं कृष्णाद् विदित्वासीन्महामनाः।।५०।।

मैत्रेयजी कहने लगे कि दिति अपना पौत्र भगवान्का भक्त होगा यह सुनकर अत्यन्त आनन्दित हुई और पुत्रोंका वध भगवान्के हाथोंसे होगा सुन विशेष उत्साह होनेसे महामना(बड़े मनवाली) हो गयी।।५०।।

दिति असीम प्रसन्न हुई क्योंकि पौत्र भगवान्का भक्त होगा यह सुन समझ गई कि मेरा पुत्र भी भगवद्भक्त है क्योंकि यदि पुत्र भगवद्भक्त न होता तो पौत्र भगवद्भक्त कैसे हुआ? मेरा पुत्र भगवद्भक्त है किन्तु कारणवश दूसरे प्रकारका(अभक्त) भासता है, यों मानकर बहुत प्रसन्न हुई.

यहां 'मुमोदत' पदमें 'त' अक्षर वैदिक है अलौकिकज्ञानके बोध होनेका सूचक है पुत्रोंका वियोग भी अच्छा है क्योंकि इस प्रकारके वधसे पुत्रोंका भगवान्में प्रवेश होता है और वह मृत्यु भगवल्लीलाका साधन है. इसलिए मैंने जो उद्योग किया वह सफल हुआ यों जानकर 'महामना' हुई जैसे कोई पुरुष बड़ा पुरुषार्थ सिद्धकर प्रसन्न होता है वैसे दिति भी प्रसन्न हुई इससे यह बताया है कि 'दिति' परम भक्त है.

दिति इस प्रकारकी लीला सिद्ध करनेसे भक्ता है, चाहे यह विहित भक्तिमार्ग नहीं है तो भी मतान्तर(दूसरे मत)से सृष्टिके उपयोगी होनेसे यों निरूपण किया होनेसे 'भक्ता' है।।५०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराणके तृतीय स्कन्धके चौदहवृ अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी टीकाका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.